MASO-06

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

समाजशास्त्रीय विचारक

MASO-06

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

समाजशास्त्रीय विचारक

पाठ्यक्रम अभिकल्प समिति

अध्यक्ष

प्रो. (डा.) नरेश दधीच

कुलपति

महावीर विश्वविद्यालय, कोटा

संयोजक / समन्वयक एंव सदस्य

डॉ. जे.के शर्मा
सहायक आचार्या , अर्थशास्त्र विभाग
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय , कोटा (राज.)

प्रो. (डॉ.) यू. आर. नाहर
आचार्य, समाजशास्त्र विभाग
जे.एन.वि. विश्वविद्यालय,
जोधपुर

1. **प्रो. (डॉ.) के.एल.शर्मा**
   सेवानिवृत आचार्या,समाजसास्त्र विभाग जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्लाय, नई दिल्ली
2. **प्रो. (डॉ.) यू.आर.नाहर**
   सेवानिवृती आचार्या,समाजसास्त्र विभाग ज.ना.व्यास विश्वविद्यालय,जोधपुर
3. **प्रो. (डॉ.) इन्दु माथुर**
   सेवानिवती विभाग राजस्थान विश्वविद्यालय , जयपुर
4. **डॉ एस.एल. दोषी**
   सेवानिवृत सह आचार्या, समाजशास्त्र विभाग मो.ला.सु. विश्वविद्यालय, उदयपुर
5. **डॉ. आई.पी. मोदी**
   सेवानिवृती सह आचार्या, समाजसास्त्र विभाग राजस्थान विश्वविद्यालय, जोधपुर
6. **डॉ. कैलाश नाथ व्यास**
   सह आचार्यासमाजसास्त्र विभाग ज.ना.व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर
7. **डॉ. (श्रीमती) रीता दधीच**
   सहायक आचार्या, समाजशास्त्र विभाग वैदिक कन्या पी. जी. महाविद्यालय जयपुर
8. **डॉ. अलका शर्मा**
   सहायक आचार्या समाजसास्त्र विभाग पी.जी. महाविद्यालय दौसा

सम्पादन तथा पाठ लेखन

सम्पादन

प्रो. (डॉ) बी. के.नागला

सेवानिवृती आचार्या

एम.डी.विश्वविद्यालय, रोहतक

लेखक	इकाई सं	लेखक	इकाई सं	लेखक सं	इकाई सं
• **डॉ एच. के रावत** सेवानिवृती सह आचार्या, समाजसास्त्र राजकीय महाविद्यालय, व्यावर	9.11	• **प्रो.(डॉ) सुरेश राजीरा** आचार्या, समाजसास्त्र विभाग कोटा	16	• **डॉ.एस.एल.दोषी** सेवानिवृति सह आचार्या, समाजसास्त्र विभाग मो. लो.सु. विश्वविद्यालय, उदयपुर	1.19
• **डॉ. सीमा पाण्डे** सहायक आचार्या, समाजसास्त्र विभाग एस.एस.जी.पी.जी.पारीक महाविद्यालय, जयपुर	10.13	• **प्रो. (डॉ) नरेश कुमार भार्गव** सेवानिवृती आचार्या, समाजसास्त्र विभाग मोहनलाल सुखड़िया विश्वविद्यालय , उदयपुर	17	• **डॉ. एस. एल.शर्मा** सह आचार्या, समाजसास्त्र विभाग मा.ला व. श्रमजीवी महाविद्यालय, उदयपुर	2.14
• **डॉ. जे .एन . चौधरी** सेवानिृवती सह आचार्या , समाजसस्त्र विभाग राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर	12	• **डॉ. फतेह सिंह चारण** सह आचार्य, समाजसास्त्र विभाग आर.डी.महीला महाविद्यालय, भरतपुर	18	• **डॉ. सी. एल. शर्मा** सेवानिवृती आचार्या, समाजसास्त्र विभाग मो.ला.सु.विश्वविद्यालय ,उदपुर	3.4
• **प्रो. पी .सी .जैन** आचार्या, समाजसास्त्र विभाग जे. आर. एन. विद्यापीठ विश्व , उदयपुर (राज.)				• **प्रो. (डॉ.) हरीश दोषी** सेवानिवृती आचार्या, समाजसास्त्र विभाग सूरत (गुजरात)	

अकादमी एंव प्रशासनिक व्यवस्था

प्रो.नरेश दधीच	**प्रो. डॉ.बी .के. शर्मा**	**योगेन्द्र गोयल**
कुलपति	निदेशक	प्रभारी
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा	संकाय विभाग	पाठ्य सामग्री उत्पादन एवं वितरण विभाग

पाठ्यक्रम उत्पादन

योगेन्द्र गोयल

सहायक उत्पाद अधिकारी , वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय , कोटा

पुन : उत्पादन - nov.2012 **ISBN NO.: 13/978-81-849-017-4**

इस सामग्री के किसी भी अंश को वी.म.खु.वि. की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में अन्यत्र पुन : प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है। वी.म.खु.वि. कोटा के लिये कुलसचिव वी.म.खु.वि., कोटा (राज.) द्वारा मुद्रीत एवं प्रकाशित

वर्धमान महावीर खुला विश्वद्यालय, कोटा

अनुक्रमणिका

समाजसस्त्रीय विचारक

खण्ड I समाजसास्त्रीय परम्पराएँ

इकाई सं.	इकाई का नाम	पृष्ठ संख्या
इकाई 1	समाजसास्त्रा तर्कवाद	**7–16**
इकाई 2	द्वंद्वाद	17–29

खण्ड II शास्त्रीय विचारक :

इकाई सं.	इकाई का मन	पृष्ठ संख्या
इकाई 3	अगस्ट कॉम्ट : विज्ञान का संस्तरण	30–47
इकाई 4	अगस्ट कॉम्ट : ज्ञान के विकास के स्तर	48–61
इकाई 5	इमाईल दुर्खीम : सामाजिक तथ्य	62–73
इकाई 6	इमाईल दुर्खीम : धर्म एवं समाज	74–86
इकाई 7	इमाईल दुर्खीम : समाज में श्रम विभाजन	87–100
इकाई 8	इमाईल दुर्खीम : आत्महत्या	101–112
इकाई 9	मैक्स वेबर : सामाजिक क्रिया	113–123
इकाई 10	मैक्स वेबर : पद्धतिसास्त्र	124–135
इकाई 11	मैक्स वेबर : आदर्श प्रारूप	136–146
इकाई 12	मैक्स वेबर: नौकरशाही	147–159
इकाई 13	मैक्स वेबर : प्रोटेस्टेंट आचार संहिता एवं पूँजीवाद	160–172
इकाई 14	कार्ल मार्क्स : द्वन्द्वात्मक, एतिहासिक भौतिकवाद	173–185
इकाई 15	कार्ल मार्क्स : अलगाव	186–199

खण्ड. III प्रमुख अन्य समाजसास्त्रीय विचारक :

इकाई सं	इकाई का नाम	पृष्ठ संख्या
इकाई 16	टाल्कटप पारसान्स : प्रतिमान चर, क्रिया सिद्धान्त एवं व्यवस्था सिद्धान्त	200–211
इकाई 17	आर .के. मर्टन : प्रकार्यात्मक प्रारूप एवं अप्रतिमानता	212–231
इकाई 18	वैलिब्न : विलासी वर्ग का सिद्धान्त	232–240
इकाई 19	विलफ्रेड़ पैरोट : अभिजन का परिभ्रमण	241–248

इकाई -1

समाजशास्त्रीय तर्कवाद

इकाई की रूपरेखा:

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 समाजशास्त्रीय तर्क

1.3 तर्क के बुनियादी तत्त्व

1.4 अनुसंधान प्रक्रिया के चरण

1.5 समाजशास्त्रीय विचारक और तर्कवाद

1.6 सारांश

1.7 शब्दावली

1.8 बोध प्रश्न

1.9 सन्दर्भ ग्रंथ

1.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि समाजशास्त्र एक विज्ञान है और जब यह विज्ञान है, तब इसके पीछे निश्चित तर्क भी हैं । कोई भी विज्ञान तर्क के बिना नहीं होता । प्रत्येक में कार्य -कारण (Cause and Effect) होते हैं । अगर किसी समाज में आत्महत्यायें अधिक होती हैं, अगर भारतीय किसान बहुसंख्या में आत्महत्यायें करते हैं तो इनके पीछे कोई न कोई निश्चित कारण अवश्य होते हैं । यह तर्क है । इसी तर्क के आधार पर समाजशास्त्र समाज को समझने का प्रयास करता है ।

इस इकाई में हम यह जानने का प्रयास भी करेंगे कि किस भाँति समाजशास्त्र वैज्ञानिक अध्ययन द्वारा समाज की वास्तविकता को समझने की कोशिश करता है । तर्क करने की एक विधि होती है, और समाज शास्त्रीय अध्ययनों में इस विधि को अपनाया जाता है ।

1.1 प्रस्तावना

समाजशास्त्र एक समाज विज्ञान (Social Science) है । राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, अपराधशास्त्र की तरह समाजशास्त्र भी समाज की गतिविधियों का अध्ययन तर्क पद्धति के अनुसार करता है । लेकिन समाज विज्ञान नितान्त और अनिवार्य रूप से विज्ञान ही हो, ऐसा नहीं है । कुछ समाज वैज्ञानिक समाजशास्त्र को विज्ञान नहीं मानते । यह विचारधारा बड़ी ताकतवर है । उदाहरण के लिये सी. राईट मिल्स (C. Wright Mills) एक समाजशास्त्री हैं जो आग्रहपूर्वक कहते हैं कि समाजशास्त्र विज्ञान है । उनका कहना है कि इसका उद्देश्य समाज के बारे में हमारी समझ (Understanding) विकसित करना है, और इस समझ को हम समाजशास्त्रीय कल्पना। (Sociological Imagination) द्वारा विकसित कर सकते हैं । इसमें समझ महत्त्वपूर्ण है ।

जब यह कहा जाता है कि समाजशास्त्र एक विज्ञान नहीं है, तो इसका आधार समाज के बारे में आम आदमी की धारणा है । जैसा सभी लोग समझते हैं, वह तार्किक है और इस तर्क को विगत कई वर्षों से परखा जा चुका है । कोपरनिकस (Copernicus) के आने से पहिले लोगों की पृथ्वी के बारे में जो जानकारी थी, वह किसी तर्क पर आधारित नहीं थी । वैज्ञानिक खोज के बाद पता लगा कि यह पृथ्वी गोल है ।

वैज्ञानिक अनुसंधान के पहिले लोगों का विचार था कि चेचक की बीमारी माता की नाराजगी के कारण होती है और इसमें यही किया जाना चाहिये कि माता को खुश रखा जाये । मेलिनोस्की (Malinowski) ने अपने अध्ययन में पाया कि आस्ट्रेलिया के होपी इंडियन्स पानी बरसाने के लिये पहाड़ से पत्थरों को लुढ़काते थे और इससे इस क्षेत्र में बारिश हो जाती थी । यह लोगों की आम धारणा थी ।

वास्तव में लोगों की आम धारणा (Common Sense) में तर्क का अभाव था । ये धारणायें केवल पीढ़ियों की मान्यताओं पर निर्भर थी । जब समाज विज्ञान आये तब तर्क के आधार परसामाजिकप्रघटनाओं को देखा जाने लगा ।

1.2 समाजशास्त्रीय तर्क

जब हम समाजशास्त्र को विज्ञान मान लेते हैं तब हमारी बहुत सी समस्याएँ हल हो जाता हैं । विज्ञान आखिर क्या करता है? विज्ञान ज्ञान का व्यवस्थित भंडार है । यह सामाजिक प्रघटनाओं को ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं करता । इसकी जाँच करता है, परीक्षण करता है और इसके आधार पर कार्य -कारण अर्थात् तर्क को जोड़ता है । रसायनशास्त्र और भौतिकी में वस्तुओं को तोला जाता है, मापा जाता है, प्रयोगशाला में रखा जाता है । ये माप -तोल ही बताता है जब हाईड्रोजन और ऑक्सीजन को मिलाते हैं, तब पानी बनता है । प्राकृतिक विज्ञानों में वस्तुओं को तर्क की कसौटी पर रखा जाता है और तब कोई नतीजा निकाला जाता है ।

हम समाजशास्त्रीय तर्क का एक दृष्टान्त देंगे । दुर्खीम एक सामाजिक सिद्धान्तवेत्ता थे । वे फ्रांस के थे । उन्होंने आत्महत्या के समाजशास्त्रीय सिद्धान्त को रखा । उनसे पहिले लोगों की मान्यता थी कि लोग, मौसम के कारण आत्महत्या करते थे । कुछ समझते थे कि आत्महत्या का कारण मानसिक विकृति थी, कुछ कहते थे कि लोग मन्दी के कारण आत्महत्या कर लेते थे । इन सब मान्यताओं को दुर्खीम ने अस्वीकार कर दिया ।

दुर्खीम ने आत्महत्या को सामाजिक कारणों में खोजा । उन्होंने कहा कि मनुष्य समूह से जितना कट जायेगा, उतनी ही अधिक आत्महत्या करने की प्रवृत्ति रहेगी । वे कहते हैं कि विवाहित व्यक्ति की अपेक्षा अविवाहित व्यक्ति की आत्महत्या करने की सम्भावना अधिक होती है । यही सब कुछ समाजशास्त्रीय तर्क है ।

1.3 तर्क के बुनियादी तत्व

समाजशास्त्री सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन व्यवस्थित ढंग से करते हैं । और ऐसा करने में कई अवधारणाओं को काम में लाते हैं । इसमें अनुसंधान की दृष्टि से चर (Variable) की अवधारणा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है । जाति, वर्ग, आय, गाँव, बाजार ये सब चर हैं । चर

लोगों की विचारधारा को प्रभावित करते हैं । जब समाजशास्त्री लोगों के आपसी सम्बन्धों और अन्तःक्रियाओं का अध्ययन करते हैं, तब ऐसा करने में वे चरों को महत्वपूर्ण समझते हैं । ये चर ही हैं जो लोगों के व्यवहार को निर्धारित करते हैं । ब्राह्मण पूजा -अर्चना को प्राथमिकता देते हैं वे शाकाहारी होते हैं । इसी भाँति एक राजनीतिज्ञ जनमत को अपने जीवन में बुनियादी आधार मानकर व्यवहार करता है। ये सब चर हैं जो व्यवहार के निर्णायक हैं । देखा जाये तो व्यवहार व्यक्तियों के बीच में न होकर चरों के बीच में होता है । और ये चर तार्किक रूप से एक -दूसरे से जुड़े होते हैं । यह जुड़ना कार्य -कारण के आधार पर होता है ।

चर दो प्रकार के होते हैं - स्वतन्त्र चर (Independent Variable) निर्भर चर (Dependent Variable) इस तरह स्वतंत्र चर मुख्य कारण (Potential Cause) होता है और निर्भर चर परिणाम होता है । जब हम कहते है कि धूम्रपान से केन्सर हो जाता है. धूम्रपान स्वतंत्र चर होता है और केन्सर निर्भर चर । जब हम लोगों में भेदभाव (Discrimination) जाति, दहेज और संयुक्त परिवार के विघटन के आधार पर करते हैं, तब हम इन सब को स्वतंत्र चर के रूप में लेते हैं । सामाजिक अनुसंधान में हम चरों के माध्यम से कार्य -कारण (Causation) की स्थापना करते हैं । ऐसा करने में हमें पूरी सावधानी बरतनी पड़ती है ।

तर्क की एक और अवधारणा है जो हमें विभिन्न चरों के बीच में जो पारस्परिक सम्बन्ध होते है, उन्हें समझने में सहायक होती है । इस अवधारणा को सहसम्बन्ध (Correlation) कहते हैं । 'जब किसी समस्या में दो या अधिक चर होते हैं तब उनके सहसम्बन्धों के लिये अनुसंधानकर्ता सांख्यिकी विधि को अपनाता है ।

अगर कोई चर हमेशा अध्ययन की समस्या में पाये जाते हैं तब इनके सम्बन्धों को सकारात्मक सहसम्बन्ध कहते हैं । इसी तरह दो चर नकारात्मक भी हो सकते हैं । देखा जाये तो वास्तविक जीवन में सम्पूर्ण रूप से सकारात्मक और नकारात्मक सहसम्बन्ध मिलना बहुत कम सम्भव होता है । इसका तात्पर्य यह हुआ कि दो चरों का सम्बन्ध बहुत कमजोर से लेकर बहुत अधिक मजबूत होता है ।

अनुसंधान में दो और महत्वपूर्ण अवधारणाएँ हैं : विश्वसनीयता (Reliability) और प्रमाणिकता (Validity) विश्वसनीयता का तात्पर्य नाप -तोल में नियमित रूप से समानता होना है । अगर सही तरह से आकड़ों को नापा गया, तो परिणाम समान ही निकलेगा । समाजशास्त्र में विश्वसनीयता के लिये हम सही उत्तर पाने के लिये, सही प्रश्न पूछते हैं । प्रश्न पूछना बहुत कठिन कार्य है । और इसी तरह सही उत्तर पाना भी बड़ा कठिन है । जब हम कहते हैं कि अमुक आदमी बहुत सुखी है तो इस तरह का प्रश्न गलत है । हम सुख किसे कहते हैं उत्तरदाता किसे सुख समझता है । यह सब अस्पष्ट है । ऐसे प्रश्न हमें किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचाते । और हम पूछें कि व्यक्ति कितना धार्मिक है, तब भी यह प्रश्न नहीं है । अगर उत्तरदाता कहते हैं कि वह रोज मंदिर जाता है या पूजा करता है तो यह उसे धार्मिक नहीं बनाता है । सामाजिक अनुसंधान में चरों के सम्बन्ध जानने के लिये सही तरह के प्रश्न पूछने का अभ्यास अनुसंधानकर्ता में होना चाहिये । तभी उसे सही उत्तर मिलेंगे ।

1.4 अनुसंधान प्रक्रिया के चरण

सामाजिक अनुसंधान तर्क का खेल है । यह तर्क चरों के बीच में खोजा जाता है । जब अनुसंधान को प्रायोजित किया जाता है, या इसकी योजना बनाई जाती है, तब इसके कुछ चरण (Steps) होते हैं

ये चरण इस प्रकार हैं.

1. अध्ययन समस्या को निर्धारित करना
2. समस्या से जुड़ी अनुसंधान सामग्री का विश्लेषण करना
3. प्राक्कल्पनाओं का निर्माण करना
4. शोध -अभिकल्प की रचना
5. क्षेत्रीय कार्य करना
6. तथ्य सामग्री का विश्लेषण
7. प्रतिवेदन लिखना

1. समस्या का निर्धारण

समाज की कई समस्याएँ हैं । कुछ समस्याएँ ऐसी हैं जो समाज के बहुत बड़े भाग को प्रभावित करती हैं । उदाहरण के लिये गरीबी, बेरोजगारी, अशिक्षा आदि । कुछ समस्याएँ क्षेत्रीय हैं । कुछ राष्ट्रीय हैं । समस्याओं का अम्बार है, और इनमें से जो समस्याएँ -अनुसंधानकर्ता को प्रासंगिक लगती हैं उन्हें वह अपने अध्ययन के लिये ले सकता है । इसमें उसे उन चरों की पहचान करनी चाहिये जो समस्या के कारण (Cause) का काम करते हैं । वास्तव में यह चरों की पहचान है । और चरों का कार्य -कारण के सन्दर्भ में व्याख्या होनी चाहिये ।

2. समस्या से जुड़ी अध्ययन सामग्री का विश्लेषण

अनुसंधान संचयी (Cumulative) होता है । अब तक जो अध्ययन सामग्री हमारे पास है, उसका हमें विश्लेषण करना चाहिये । इस सामग्री में जो अभाव (Gaps) हैं, उसकी पहचान करनी चाहिये । अनुसंधान आगे बढ़ाना चाहिये । किसी अनुसंधान का उद्देश्य ज्ञान को पैदा करना होता है । उदाहरण के लिये शिक्षा के क्षेत्र में कई अनुसंधान हुए हैं, इन्हें हमें विश्लेषण की कसौटी पर रखना चाहिये और इस अनुसंधान को आगे बढ़ाना चाहिये ।

3. प्राक्कल्पनाओं का निर्माण

अनुसंधान में प्राक्कल्पनाओं का सहसम्बन्ध होता है और संदर्भ में अनुसंधानकर्ता को क्षेत्र में जाँच करने के लिये प्राक्कल्पनायें बनानी चाहिये । ये प्राक्कल्पनाएं पहले से विद्यमान सिद्धान्तों से ली जा सकती हैं या नई प्राक्कल्पनाऐं भी बनाई जा सकती हैं । प्राक्कल्पनाएँ अनुसंधान की मार्गदर्शक होती हैं ।

4. शोध -अभिकल्प की रचना

सबसे पहिले यह अनुसंधानकर्ता को तय करना होता है कि वह समस्या को गुणात्मक (Qualitative) रूप से देखना चाहता है या संख्यात्मक (Quantitative) रूप से । यह तय

करने के बाद अनुसूची या प्रश्नावली बनाता है । वह साक्षात्कार या वैयक्तिक विधि को भी अपने अध्ययन में ले सकता है । इस सब को वह अपनी शोध -अभिकल्प में रख सकता है ।

5. क्षेत्रीय कार्य करना

अभिकल्प बनाने के बाद अनुसंधानकर्ता अपने अध्ययन क्षेत्र में जाता है । उसमें लम्बी अवधि तक निवास करता है । एम.एन. श्रीनिवास ने तो रामपुरा गाँव के अध्ययन में कोई 10 -12 महीनों तक का क्षेत्रीय कार्य किया । इसे अनुभविक कार्य (Empirical Work) कहते हैं । इस कार्य में अनुसंधानकर्ता क्षेत्र के लोगों के साथ में घुल -मिल जाता है । यहाँ रह कर अनुसंधानकर्ता तथ्य सामग्री एकत्र करता है ।

6. तथ्यों का विश्लेषण

तथ्य सामग्री एकत्र करने के बाद अब अनुसंधानकर्ता स्वतंत्र चर और निर्भर चर के आधार पर अपना विश्लेषण करता है । वह बताता है कि किन चरों के सह सम्बन्धों से समस्या बनती है और किन चरों के नियन्त्रण से समस्या का हल निकल सकता है ।

7. प्रतिवेदन लिखना

किसी भी सामाजिक अनुसंधान का महत्वपूर्ण भाग, उसका प्रतिवेदन होता है । समाजशास्त्र का कोई भी अनुसंधान तर्क आधारित हैं । यह तर्क ही है जो इसे वैज्ञानिक बना देता है । बहुत स्पष्ट है कि विज्ञान मिथक नहीं होता । इसके पीछे निश्चित कार्य - कारण (Causation) होते हैं । जब प्रतिवेदन लिखी जाती है तब इसकी विश्वसनीयता और प्रमाणिकता तर्क आधारित होते हैं । इसके निष्कर्षों को विशाल क्षेत्र पर लागू किया जा सकता है । कभी -कभी प्रतिवेदन की प्राप्तियाँ सार्वभौमिक होती हैं ।

अनुसंधान में जो भी प्राप्त होता है, वह स्पष्ट करता है कि इससे हमारे ज्ञान में कितनी वृद्धि हुई है, हमने कितने नये सिद्धान्त बनाये हैं और हमारे कितने अतीत के सिद्धान्त अप्रासंगिक हो गये हैं । यह सब तभी सम्भव होता है, जब हमारा अध्ययन तर्क यानी कार्य कारण से जुड़ा है । विभिन्न चरों के सम्बन्धों को स्वतंत्रता और निर्भरता की कसौटी पर कसा जाता है । सभी प्राकृतिक विज्ञान इन्हीं चरों के सहसम्बन्धों पर विकसित होते हैं ।

1.5 समाजशास्त्रीय विचारक और तर्कवाद

तर्क का सामान्य अर्थ है - कार्य -कारण । जब कोई कार्य होता है, तब इसके कोई एक या अनेक कारण होते हैं । सामान्य रणनीति यह है कि यदि हम कार्य के पीछे जो कारण है, उनका पता लगा सकें तो हमारी समस्या हल हो जाती है । चिकित्सक के पास मरीज आता है । कहता है उसे बुखार है। अब चिकित्सक उसकी जाँच करके बुखार के कारण को ढूँढता है । इस जाँच में उसे पता लगता है कि मरीज में टी.बी. के कीटाणु हैं । बस, चिकित्सक का काम हो गया । उसे इलाज दिया गया । और मरीज ठीक हो जाता है । सामाजिक अध्ययन में भी ऐसा ही करते हैं । हम ऐसे चरों का पता लगाते हैं जिनकी सामाजिक समस्याओं में निर्णायक भूमिका है । अब समस्या का निदान सरल हो जाता है । प्रकृति विज्ञान तर्क पर चलते हैं । इसी आधार पर सामाजिक विज्ञान में भी तर्क के आधार पर चरों का विश्लेषण किया जाता है ।

समाज विज्ञान तर्क के आधार पर आगे बढ़ते हैं । समाजशास्त्र में प्रारम्भ से ही यह स्थापित करने का प्रयत्न रहा है कि यह एक विज्ञान है । इसे नकारने वाले समाजशास्त्री भी हैं लेकिन जिन्हें हम समाज शास्त्र के विचारक मानते हैं, सभी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं, वे इसे प्रमाणित भी करते हैं कि समाजशास्त्र एक विज्ञान है । विज्ञान होने के नाते यह तर्क प्रधान भी है । यह हम समाजशास्त्र में तर्क के महत्व को मुख्य विचारकों के माध्यम से देखेंगे

अगस्ट कॉम्ट: एक प्रत्यक्षवादी समाज वैज्ञानिक

अगस्ट काम्ट से पहले सामाजिक विचारकों की श्रेणी में मॉण्टेस्क्यू का नाम लिया जाता है । मॉण्टेस्वयू समाजशास्त्री कम थे और विचारक अधिक । उनका सबसे बड़ा मुद्दा मनुष्य समाज में जो विजातीयता मिलती है उसे समझने का था । उनकी बहुत बड़ी समस्या इस तथ्य का पता लगाना था कि इस विजातीयता में व्यवस्था कैसे स्थापित की जाये । ऐसा करने में वे एक सीमा तक सफल भी हुए । उन्होंने उन निर्धारक तत्त्वों का पता लगाया जो सरकार या समाज को प्रभावित करते हैं । इन तत्त्वों के आधार पर उन्होंने कुछ तार्किक सिद्धान्तों को बनाया जो सर्वव्यापी पाये जाते हैं । मतलब हुआ मॉण्टेस्वयू विजातीयता के मुद्दे को लेकर चले और अपने निष्कर्ष में मनुष्य समाज की एकता पर आये । अगस्त कॉस्ट ने दूसरी रणनीति अपनायी । उन्होंने तर्क दिया कि मनुष्य समाज में एकता है । इस एकता के पीछे जो कारण हैं वे प्रत्यक्षवादी हैं । उनका कहना था कि जिस भांति प्रकृति के नियम होते हैं सूर्य पूर्व में निकलता है और पश्चिम में अस्त होता है । दिन के बाद रात आती है; और पतझड़ के बाद बसन्त आता है । प्रकृति का रथ एक निश्चित दिशा में चलता है । नियमों से संचालित होता है । वे तर्क देते हैं कि ठीक प्रकृति के नियमों के अनुसार समाज भी निर्धारित नियमों के अनुसार चलता है । संक्षेप में, यही कॉम्ट का प्रत्यक्षवाद है । समाज की दशा और दिशा को जानने के लिये हमें इन नियमों का ही पता लगाना पड़ेगा ।

अगस्ट कॉम्ट को विचारक मानने का कारण है । उन्होंने सबसे पहली बार इस तथ्य पर विचार किया कि प्रकृति के नियमों को समाज की संरचना को समझने के लिए लागू करना चाहिये । दूसरा, वे न केवल समाज की एकता और व्यवस्था में दिलचस्पी रखते हैं, उनकी रूचि यह जानने में भी थी कि समाज किस भाँति प्रगति और विकास करता है । जब वे समाज की व्यवस्था की बात करते हैं तब उनका उद्देश्य समाज की स्थैतिक और गतिशील अवस्था को जानना होता है । अगस्त कॉम्ट की कृतियों का मुहावरा है: प्रगति (progress) और व्यवस्था (Order) । प्रगति और व्यवस्था को देखते हुए उनका दूसरा मुहावरा है: समाज की स्थैतिकि (Static) और समाज की गतिशीलता (Dynamics) । बहुत थोड़े में यह मुहावरा ही अगस्ट कॉस्ट को विचारक का दर्जा देता है ।

कॉम्ट प्रत्यक्षवादी सिद्धान्तवेत्ता थे । प्रत्यक्षवाद का अर्थ विज्ञानवाद । इस धारणा के अनुसार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड (Universe) अपरिवर्तनीय प्राकृतिक नियमों द्वारा संचालित होता है । इस संसार को समझने के लिये धार्मिक और तात्विक विश्लेषण कारगर नहीं होता । इसका विश्लेषण तो वैज्ञानिक विधियों द्वारा ही हो सकता है कॉस्ट ने समाजशास्त्र को जिस तरह प्रत्यक्षवादी समाज विज्ञान की तरह स्थापित किया है, इसके निम्न आधार हैं

(1) जिस भाँति प्राकृतिक घटनाओं की गतिविधियों को समझने के लिये प्राकृतिक विज्ञान है, ठीक इसी तरह सामाजिक प्रघटनाओं को समझने के लिये भी समाजशास्त्र जैसा विज्ञान होना चाहिये । जंगली अवस्था से मनुष्य जिस तरह सभ्य अवस्था तक आया है, परिवर्तन की यह दिशा किसी भी तरह मनमानी नहीं रही है । प्रत्यक्षवादी समाजशास्त्र प्रगति के इन नियमों की खोज करता है।

(2) सामाजिक प्रघटनाओ को ईश्वरपरक विधि से नहीं समझा जा सकता । न ही इसके समझने के लिये तात्विक सिद्धान्त सफल होते हैं । सामाजिक प्रघटनाओं के विश्लेषण के लिये वैज्ञानिक पद्धति ही लाभदायक होती है । ऐसी अवस्था में समाजशास्त्र का प्रत्यक्षवादों होना अनिवार्य है ।

(3) समाजशास्त्र की अध्ययन पद्धतियाँ वैज्ञानिक हैं । ये पद्धतियाँ अवलोकन, प्रायोगिक, तुलनात्मक और ऐतिहासिक है ।

(4) प्रत्यक्षवाद कभी भी तथ्यों से परे नहीं जाता । इसके लिये किसी भी विश्लेषण में तथ्यों का स्थान सबसे ऊँचा होता है । सिद्धान्त कभी भी तथ्यों का अनुयायी नहीं होता । सिद्धान्त गौण होता है और तथ्य प्राथमिक ।

(5) प्रत्यक्षवाद बेजान नहीं होता । यह गतिशीलता का हिमायती है । जिस समाजशास्त्र की नींव कॉम्ट ने रखी थी उसकी गतिशीलता आज उसे नई ऊँचाइयों तक ले आयी है । इसी कारण कॉम्ट ने प्रारंभ से ही इस विज्ञान को एक प्रत्यक्षवादी और समाज विज्ञान कहा है ।

कार्ल मार्क्स : एक तर्कवादी विचारक

कार्ल मार्क्स की कृतियों में जो कुछ लिखा है, वह निश्चित रूप से पश्चिम देशों का धर्मनिरपेक्ष मानववाद (Secular Humanism) है । मार्क्स ने प्रारम्भ से लेकर अब तक अपने आप की एक ऐसी छवि बनायी है जो ठेठ यथार्थवादी बुद्धिवादी की है । उन्होंने हमेशा बहुत ऊंचे आदर्शों की निन्दा की है । उनका सम्बन्ध तो धरती पर खड़े हुए वास्तविक समाज से था । उनके व्यक्तित्व की बुनियादी विशेषता यह है कि वह एक धर्मनिरपेक्ष नीतिज्ञ (Secular Moralist) थे । अपने विश्वास में वह नास्तिकवादी थे । उनकी यह मान्यता थी कि धर्म एक राजनैतिक धोखाधड़ी है, जालसाजी है जिसके द्वारा पूंजीपति गरीबों का शोषण करते हैं, उनकी मानसिकता का लाभ लेते हैं । मार्क्स का तो ऐसे मानववाद में विश्वास था जिसमें ईश्वर का कोई स्थान नहीं है ।

मार्क्स एक ठोस तर्कवादी (Rationalist) चिन्तक थे । उनका कहना था कि वह समाज में जो कुछ उपलब्धियाँ करना चाहता है उसे अपने सभी भ्रम या माया को त्याग देना चाहिये । मार्क्स ने जीवन पर्यन्त इस मुहावरे को अपने ऊपर लागू किया । उनका पूरा विश्वास मानव तर्क (Human Reason) में था और वह सभी कार्यों के लिये स्वतन्त्रता को एक आवश्यक दशा मानता थे । उनकी यह मान्यता ही उनके जीवन की नैतिक शक्ति थी । वे कहते है कि उस व्यवस्था को जितना जल्दी हो सके ठोकर लगा देना चाहिये जो मनुष्य को उसके अस्तित्व को स्वीकार नहीं करती ।

मार्क्स मनुष्य की सम्पूर्ण स्वतन्त्रता में भरोसा रखते थे । तर्क का प्रयोग इसी स्वतन्त्रता में किया जा सकता है । उनका मानना था कि व्यक्ति पर किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध (Censor) अनुचित है। वे ऐसे राजनीतिक समुदाय की कल्पना करते हैं, जिसमें सही अर्थों में प्रजातंत्र हो, जहाँ राज्य ओझल हो जाये, जहाँ वर्ग जैसी कोई व्यवस्था न हो ।

इमाईल दुर्खीम : आनुभविक समाजशास्त्री

दुर्खीम को सबसे पहिला आनुभविकवादी समाजशास्त्री माना जाता है । उन्होंने पहली बार क्षेत्रीय चरों को तर्क की कसौटी पर रख आत्महत्या के समाजशास्त्रीय सिद्धान्त को रखा । दुर्खीम ने सामाजिक सुदृढ़ता को सामूहिक चेतना के स्तर पर प्रस्तुत किया ।

दुर्खीम का जीवन काल कोई 59 वर्ष का था । इस अवधि में उन्होंने समाजशास्त्र को बहुत कुछ दिया। वे एक दार्शनिक थे लेकिन साथ ही एक समाजशास्त्री भी थे । विज्ञान की दृष्टि से उन्हें प्रत्यक्षवादी (positivist) कहते हैं । उन्होंने यद्यपि कोई सामाजिक सर्वेक्षण नहीं किया, फिर भी वे आनुभविक वैज्ञानिक थे । पारसन्स ने दुर्खीम के जीवन चरित्र की विश्लेषणात्मक व्याख्या की है । वे कहते हैं कि आज समाजशास्त्र के क्षेत्र में ज्ञान का अपार भण्डार है - कई अवधारणाएँ और -सिद्धान्त है, कई अध्ययन पद्धतियाँ और प्रकार्य हैं । फिर भी सावयवी समाज में संविदा की जो प्रकृति है, आत्महत्या. की दर है, और आदिम समाज में धार्मिक व्यवस्था है, इसमें दुर्खीम अपना कोई सानी नहीं रखता है । वे समाजशास्त्र के अत्यधिक प्रभावशाली उद्यमकर्ता थे । वे एक सफल अध्यापक, चोटी के सम्पादक, एक सशक्त और सृजनात्मक. समूह के नेता तथा. शोधकर्ता थे ।

ये सब गुण जो दुर्खीम में थे, उन्हें एक वैज्ञानिक ज्ञानशाखा में उच्च स्थान के संस्थापक नहीं बनाते। दुर्खीम की श्रेष्ठता तो इस तथ्य में है कि उन्होंने अपने समय की बौद्धिक परम्पराओं को एक ठोस धरातल पर रखा । उनकी श्रेष्ठता का कारण अपने समय के ब्रिटिश उपयोगितावाद को, जर्मनी के आदर्शवाद को तथा अपने स्वयं दही फ्रान्सीसी पृष्ठभूमि को, एक ऐसी सैद्धान्तिक रूप रेखा में रखना था जो एक तरफ तो अकादमिक परम्परा को निभाती है और दूसरी तरफ अत्यधिक मौलिक भी है । दुर्खीम ने जो कुछ लिखा, वह यूरोप की बौद्धिक परम्परा में था । उन्होंने अपने रचना धर्म में तत्कालीन समाज द्वारा प्रस्थापित ज्ञान को बराबर ध्यान में रखा लेकिन इस ज्ञान के अहाते से वे बाहर भी निकले । अपनी रचनाओं में दुर्खीम एकदम साफ सुथरे हैं । उन्होंने अपने कथन को तार्किक संरचना में रखा है, उसे कल्पना की उड़ान दी है - और सामाजिक प्रघटनाओं को नये परिप्रेक्ष्य में देखा है । उन्होंने समस्याओं की स्पष्ट परिभाषा दी है और निर्वाचन को नये क्षितिज दिये हैं ।

दुर्खीम ने जिन समस्याओं को उठाया है, उनमें सबसे बड़ी समस्या सामाजिक व्यवस्था की है । श्रम विभाजन के विश्लेषण में उन्होंने दृढ़तापूर्वक कहा कि कितना ही अधिक औद्योगीकरण और नगरीकरण आये, भयभीत होने की कोई बात नहीं । उनका सूत्र है जितना अधिक श्रम विभाजन, उतनी ही अधिक समाज की दृढ़ता । दुर्खीम ने प्रत्यक्षवादी होने के नाते सामाजिक तथ्य को अध्ययन विधि का महत्त्वपूर्ण नियम बताया । धर्म की व्याख्या करते हुए उन्होंने वस्तुत: संस्कृति के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया । इस सिद्धान्त में उन्होंने धर्म, मूल्य,

नैतिकता तथा प्रतीकों को रखा है । सामूहिक चेतना और सामूहिक प्रतिनिधान इसी सांस्कृतिक सिद्धान्त के अंग हैं । दुर्खीम की बहुत बड़ी विशेषता समाज के बारे में उनकी समझ है । वे इससे आश्वस्त हैं कि समाज सर्वोपरि है, परमेश्वर है, और कोटि -कोटि व्यक्ति इस समाज के प्रभुत्व के सामने नतमस्तक होकर खड़े रहते हैं । पारसन्स दुर्खीम के जीवन वृत को बखूबी अकादमिक रूपरेखा में बांधते हुए लिखते हैं कुछ मुट्ठीभर लोग ऐसे होंगे, जिन्होंने बौद्धिक इतिहास में वैज्ञानिक संस्कृति के विकास के लिये इतना योगदान दिया हो, जो दुर्खीम ने दिया है । "

दुर्खीम जब धर्म की व्याख्या करते हैं तो वे विचारों (Ideas) की भूमिका को महत्वपूर्ण स्थान देते हैं । विचार स्वत: पैदा नहीं होते । इनके उद्‌गम का. स्रोत आनुभविकता है । जब व्यक्ति सामाजिक तथ्यों को देखता है, उसकी बाह्मता और दबाव को समझता है, तब उसमें विचार आते हैं । सामाजिक यथार्थता के अभाव में विचारों का अस्तित्व नहीं है । उन्होंने देखा कि आस्ट्रेलिया के आदिवासी टोटेम की उपासना करते हैं, उसे शक्ति का स्रोत मानते है । टोटेम में यह शक्ति कहां से आयी? टोटेम तो मात्र कोई पक्षी है, कोई पशु है या कोई पौधा है । इसका प्रतीत को एकदम बेजान है। ऐसे टोटेम से शक्ति का उद्‌गम नहीं हो सकता । दुर्खीम टोटेम में शक्ति इस तरह मानते हैं कि यह सामूहिक विश्वासों और कर्मकाण्डों का प्रतीत है । जब व्यक्ति टोटेम की उपासना करता है तब उसे अनुभूति होती है कि जैसे आदिम समाज की सामूहिक शक्ति का संचार उसके शरीर में हो गया हो । इस कारण व्यक्ति के विचारों के जो विभिन्न स्रोत हैं, उनका उद्‌गम सामूहिक शक्ति से है।

जब कार्ल मार्क्स ज्ञान की मीमांसा करते हैं तो उनका सिद्धान्त है कि मनुष्य की जो भी चेतना है, वह अन्तत्वोगत्वा वर्ग चेतना है । वर्ग की दशाएं व्यक्ति की दशाएं बन जाती हैं । कुछ इसी तर्क पर दुर्खीम ने धार्मिक जीवन के प्रारंभिक स्वरूपों में यह स्थापित किया कि मनुष्य के ज्ञान का सम्बन्ध उसके समाज से ही है । मनुष्य की संस्कृति, धर्म, साहित्य और भौतिक वस्तुओं के सम्बन्ध में जो भी ज्ञान व जानकारी है वह उसका सैद्धान्तीकरण मात्र है, यद्‌यपि दुर्खीम श्रम विभाजन में ज्ञान की मीमांसा किसी स्पष्टता के साथ नहीं करते फिर भी अपने आगे की कृतियों में उन्होंने पूर्ण रूप से यह स्थापित किया है कि मनुष्य का किसी भी वस्तु के बारे में जो कुछ ज्ञान है, उसका उद्‌गम समाज है । आत्महत्या का शान समाज की सुदृढ़ता और यथार्थता से जुड़ा है । बहुत स्पष्ट है : ढीली सुदृढ़ता में आत्महत्या नहीं है, सामूहिक है । टोटेम के प्रति आदर और सम्मान वास्तव में किसी पशु -पक्षी या पौधे की अन्तर्भूत शक्ति के कारण नहीं है, वरन् समाज की शक्ति का सम्मान है । रेमण्ड एरॉ दुर्खीम के विश्वास और कर्मकाण्ड की व्याख्या के उपसंहार में कहते हैं कि दुर्खीम ने मानव विचारों की कोटियाँ बनाने में ज्ञान की मीमांसा पर्याप्त रूप से की है । आज जिसे हम ज्ञान का समाजशास्त्र कहते हैं, उसके जनक रूप में दुर्खीम को स्वीकार करना निर्विवाद है ।

मेक्स वेबर: तार्किक समाज

मेक्स वेबर को समाजशास्त्र का सबसे महान तर्कवादी विचारक मानते हैं । वेबर व्यक्ति के व्यवहार कारण (Cause) को देखते हैं । ऐसे करने में वे तर्क का सहारा लेते हैं । वेबर

सामाजिक क्रिया में व्यक्तिगत मूल्यों को कोई महत्व नहीं देते । वे मूल्य -मुक्त (Value - free) समाजशास्त्र के प्रणेता थे । उन्होंने आदर्श प्रारूप की अवधारणा को रखा । यह उनकी बहुत बड़ी देन थी । मूल्य और कुछ न होकर विश्वास (Faith) है । वस्तुएं जैसी हैं, वैसा ही उन्हें रखना चाहिये । यही उनके समाजशास्त्र को तर्क प्रधान बनाता है ।

1.6 सारांश

समाजशास्त्र एक विज्ञान है । विज्ञान की बुनियाद तर्क है । तर्क कार्य -कारण पर निर्भर है । विज्ञान का दूसरा आधार अध्ययन विधि है । समाजशास्त्र की अध्ययन विधि आनुभविक है । क्षेत्र में जब हम जाते हैं, तब हमें कई चर मिलते हैं । चर स्वतन्त्र और निर्भर होते हैं । चर ही समस्या के कारण होते हैं । समाजशास्त्रीय समस्या के निदान में इन चरों की पहचान करता है । यदि सही चरों की पहचान हो जाये तो समस्या का निदान सरल हो जाता है।

समाजशास्त्र के मूल विचारकों ने अपने अध्ययनों को तर्क की कसौटी पर रखा है और इस तरह उन्होंने समाजशास्त्र को तर्क आधारित विज्ञान की तरह विकसित किया है ।

1.7 शब्दावली

तर्क : कार्य -कारण के सहसम्बन्ध की पहचान करना तर्क है. । कोई भी कार्य एक याअधिक चरों के बिना नहीं हो सकता ।

चर : यह एक कारक है जिसका मूल्य समय और स्थिति के कारण बदलता रहता है ।जाति, वर्ग, धर्म, राजनीति आदि चर के दृष्टान्त हैं । चर दो प्रकार के होते हैं : स्वतन्त्र चर और निर्भर चर ।

विश्वसनीयता : जो तथ्य सामग्री एकत्र की जाती है, वह सही प्रश्नों और सही उत्तर पर निर्भर करती है ।

1.8 बोध प्रश्न

1. समाजशास्त्र को एक तर्क विज्ञान कहते हैं, विवेचना कीजिए ।
2. तर्क के बुनियादी तत्वों की समीक्षा कीजिए ।
3. अनुसंधान प्रक्रिया के विभिन्न चरणों का स्पष्टीकरण कीजिए ।
4. कॉम्ट की एक प्रत्यक्षवादी समाज वैज्ञानिक के रूप में टिप्पणी कीजिए ।
5. दुर्खीम एक आनुभाविक समाजशास्त्री हैं, विवेचना कीजिए ।

1.9 सन्दर्भ ग्रंथ

- एम. फ्रांसिस अब्राहिम : कन्टम्परी सोश्योलोजी ऑक्सफोर्ड, नई दिल्ली, 2006
- फ्रांसिस अब्राहम, मोडर्न सोश्योलोजिकल थ्योरी, ऑक्सफोर्ड, नई दिल्ली, 1982

इकाई -2

द्वन्द्ववाद

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 द्वन्द्ववाद: अर्थ एवं परिभाषा

2.3 द्वन्द्ववाद: हीगल के विचार

2.4 द्वन्द्ववाद: कार्ल मार्क्स के विचार

2.5 कार्ल मार्क्स के द्वन्द्वात्मक प्रणाली की विशेषताएं

2.6 द्वन्दवाद: डी.पी. मुखर्जी के विचार

2.7 भारतीय परम्परा एवं सामाजिक परिवर्तन पर द्वंद
डी.पी. मुखर्जी के विचार

2.8 परम्पराओं के द्वन्द्व पर डी.पी. मुखर्जी के विचार

2.9 डी.पी. मुखर्जी. परम्पराओं का द्वन्द्वात्मक उपागम

2.10 सारांश

2.11 शब्दावली

2.12 बोध प्रश्न

2.13 सन्दर्भ ग्रन्थ

2.0 उद्देश्य

इस इकाई का मुख्य उद्देश्य द्वन्द्ववाद के परिप्रेक्ष्य को स्पष्ट करना है । द्वन्द्वात्मक परिप्रेक्ष्य जिसे सर्वप्रथम हीगल ने प्रयोग में लिया थ। । कार्ल मार्क्स ने जिसे भौतिकवाद व ऐतिहासिकवाद से जोड़ा था । भारत में द्वन्द्वात्मक परिप्रेक्ष्य को डी.पी. मुखर्जी, आर.के. मुखर्जी व ए.आर. देसाई ने अपने वैचारिकी परिप्रेक्ष्य में अपनाया है । इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात हम द्वन्दवाद को निम्न बिन्दुओं के आधार पर समझ सकेंगे ।

1. द्वन्द्ववाद का अर्थ
2. हीगल का द्वन्द्ववाद
3. कार्ल मार्क्स के अनुसार द्वन्द्ववाद
4. डी.पी. मुखर्जी के विचार
5. परम्पराओं का द्वन्द्व

2.1 प्रस्तावना

द्वन्द्ववाद की अवधारणा बहुत प्राचीन अवधारणा है । यह अवधारणा वाद -विवाद, तर्क -वितर्क में अर्थात विचारो की एकमतता के बजाय वैचारिक संघर्ष गे विश्वास करती 'हैं । द्वंद्वात्मक विचारधारा के समर्थकों का विश्वास है कि तर्क वितर्क या चिन्तन की प्रक्रिया में

विरोध के फलस्वरूप ही सत्य तक पहुंचा जा सकता है । हीगल जो द्वन्द्वात्मक विचारधारा के प्रणेता के रूप में जाने जाते हैं उनका द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त ' बुद्धिसंगत तत्व ' अर्थात 'आत्मवाद' पर आधारित था । हीगल से द्वन्द्ववाद की धारणा कार्ल मार्क्स ने ग्रहण की । कार्ल मार्क्स ने हीगल से बहुत कुछ सीखा, मार्क्स की कृतियों पर हीगल का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है । लेकिन मार्क्स का द्वंदात्मक सिद्धान्त हीगल के सिद्धान्त का विपरीत रूप है । मार्क्स का द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त विचार या आत्मा पर नहीं वरन् भौतिक पदार्थ पर आधारित है

कई भारतीय समाजशास्त्री ऐसे हैं जो मार्क्स के विचारों से बहुत अधिक प्रभावी थे । ऐसे समाजशास्त्री जो मार्क्सवादी विचारधारा के समर्थक है उनमें से प्रमुख समाजशास्त्री है. ए.आर. देसाई. आर.के. मुखर्जी व डी. पी. मुखर्जी, डी.पी. मुखर्जी जो द्वन्द्वात्मक उपागम के प्रमुख समर्थक है उन्होंने भारत में सामाजिक प्रक्रिया एवं परिवर्तन के विश्लेषण में परम्पराओं के संघर्ष की चर्चा की है । इस आधार पर डी.पी. मुखर्जी ने परम्पराओं को द्वन्दात्मक अध्ययन का सुझाव दिया है ।

2.2 द्वन्द्ववाद: अर्थ एवं परिभाषा

द्वन्द्ववाद का अंग्रेजी रूपान्तर Dialectic ग्रीक भाषा के शब्द Dialego (डायलेगो) से बना है जिसका अर्थ है - वाद विवाद करना या तर्क -वितर्क करना । प्राचीन समय में ' द्वन्द्ववाद ' तर्क -वितर्क के दौरान प्रतिवादी द्वारा प्रस्तुत तर्क या मुक्ति में विरोधों को बताकर तथा उनका समाधान करके 'सत्य' तक पहुंचने की कला थी । प्राचीन समय में ऐसे दार्शनिक थे जिनका विश्वास था कि विचारों में विरोधों का प्रकट होना तथा विपरीत मतों का संघर्ष सत्य तक पहुंचने का सबसे उत्तम उपाय है । एक विषय पर पक्ष और विपक्ष के मतों के संघर्ष को ही द्वन्द्व कहा जाता है । चिन्तन की इस द्वन्द्वात्मक प्रणाली का प्रयोग बाद में प्राकृतिक घटनाओं को समझने के लिए भी किया जाने लगा । इस प्रणाली के अनुसार प्राकृतिक घटनाएं निरन्तर गतिशील रहते हुए सदैव परिवर्तित होती रहती है, और प्रकृति का विकास प्रकृति में विरोधों का विकास या प्रकृति में विरोधी शक्तियों की अन्त:क्रिया के फलस्वरूप होता है । बाद में चिन्तन की दस प्रणाली का प्रयोग प्रसिद्ध दार्शनिक हीगल द्वारा किया गया ।

2.3 द्वन्द्ववाद: हीगल के विचार

जार्ज विलहेम फ्रेडरिक हीगल एक जर्मन आदर्शवादी दार्शनिक थे । इनकी द्वन्द्ववादी प्रणाली में 'बुद्धिसंगत तत्व है उसमें विकास का विचार है । हीगल के अनुसार द्वन्द्वात्मक चिन्तन का एक तरीका है एक विधि है । चिन्तन के तरीके के रूप में यह प्रक्रियाओं, संबंधों, गत्यात्मकता, संघर्ष और विरोध पर बल देता है । द्वन्द्वात्मक में यह विचार भी निहित है कि विश्व स्थिर संरचनाओं का पुंज नहीं है अपितु इसका निर्माण प्रक्रियाओं, संबंधों गत्यात्मकता, संघर्ष और प्रतिरोध से हुआ है ।

हीगल घटनाओं और घटना प्रवाह को एक दूसरे के संदर्भ में उनके पारस्परिक संबंधों और एक दूसरे पर निर्भर रहने की पृष्ठभूमि के रूप में देखते हैं । हीगल विश्व में घटना प्रवाह को उत्थान परिवर्तन और विनाश के एक क्रम के रूप में देखते है वे बताते हैं कि इस क्रम के

चलते रहने का मूलभूत कारण विरोधी शक्तियों का संघर्ष ही है । हीगल का कहना है कि संसार में प्रत्येक वस्तु अपनी प्रारंभिक अवस्था में 'वाद' होती है अर्थात 'वाद' की अवस्था में होती है । कुछ समय पश्चात 'वाद' स्वयं ही विरोधाभासों को जन्म देता है जिसे 'प्रतिवाद' कहते है । संसार में प्रत्येक वस्तु की प्रतिवादी वस्तु अवश्य होती है । इन दोनों में संघर्ष से तीसरी वस्तु उत्पन्न होती है जिसे 'संवाद' कहते हैं । इस 'संवाद' में 'वाद' और 'प्रतिवाद' दोनों की विशेषताओं का समावेश होता है । यह 'संवाद' 'वाद' व 'प्रतिवाद' से अधिक उत्तम होता है । संवाद एक नई परिस्थिति है । परन्तु यह अस्थायी होती है, क्योंकि प्रगति के दौरान थोड़े समय बाद वह फिर स्वयं वाद का रूप धारण कर लेता है, फिर पुन: वही क्रम चलता रहता है । प्रत्येक नया 'संवाद' पहले वाले संवाद से उच्च कोटी का होता है । यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है और इसी के कारण मानव जाति की प्रगति का क्रम घटित होता है । वाद, प्रतिवाद व संवाद को 'त्रेत' का नियम कहा गया है जिसे हीगल ने फिक्टे से ग्रहण की थी ।

हीगल के द्वंदात्मक विकास का कारण विचार या आत्मा है । आत्मा स्वयं अपनी अर्न्तविरोधी प्रवृत्ति से संघर्ष करती रहती है । आत्मा अपने आदर्शों की प्राप्ति के लिए आगे बढ़ने का प्रयत्न करती है और विरोधी प्रवृत्ति उसे आगे बढ़ने से रोकती है यह प्रतिवाद की स्थिति है । इस स्थिति में दोनों में संघर्ष होता है परिणाम स्वरूप इन दोनों से संवाद उत्पन्न होता है जो दोनों अवस्थाओं का सम -मिश्रण होता है । हीगल ने द्वन्द्ववाद को निम्न चार विशेषताओं के आधार पर वर्णन किया है ।

1. विश्व निरन्तर गतिशील स्थिति में है जिसमें वाद, प्रतिवाद व संवाद से यह गतिशीलता गुजरती है - हीगल का मत है कि सम्पूर्ण विश्व विकास की एक प्रक्रिया है यह निश्चित बिन्दु की ओर गतिशील रहता है । हीगल ने विश्व के विकास को संघर्ष एवं द्वन्द्व के आधार पर स्पष्ट किया है जो वाद, प्रतिवाद व संवाद के द्वारा व्यक्त होता है । इसका प्रारम्भ वाद से होता है, इसमें विरोध के परिणाम स्वरूप प्रतिवाद का जन्म होता है । इन दोनों के संघर्ष से संवाद उत्पन्न होता है । यह संवाद अस्थायी होता है जो थोड़े समय बाद पुन: वाद बन जाता है । इस प्रकार वाद, प्रतिवाद व संवाद के निरन्तर क्रम से विश्व गतिशील एवं विकसित होता रहता है ।
2. मात्रात्मक से गुणात्मक परिवर्तन - द्वन्द्ववाद में वाद व प्रतिवाद के संघर्ष के परिणामस्वरूप उत्पन्न संवाद में मात्रात्मक परिवर्तन के साथ -साथ गुणात्मक परिवर्तन भी होता है । प्रत्येक संवाद अपने से पूर्व संवाद से उच्च स्थिति का होता है ।
3. गति की विरोध एवं संघर्ष पर निर्भरता - द्वन्द्ववाद की मान्यता है कि गतिशीलता का प्रमुख कारण विरोधी तत्वों का आन्तरिक संघर्ष है । प्रत्येक वस्तु में दो विरोधी गुण होते हैं जिनमें संघर्ष चलता रहता है उसी संघर्ष व विरोध के परिणाम स्वरूप गति या विकास होता है ।
4. विचार से विश्व निर्माण होता है - हीगल का मत है कि विश्व का निर्माण विचार अर्थात चिन्तन की प्रक्रिया से होता है । वास्तविक जगत का निर्माण विचार से ही होता है । उसके कारण ही मानव विश्व का अस्तित्व सम्भव है । विचार ही विश्व को

नियन्त्रित करता है । इतिहास की प्रक्रिया एक विवेकपूर्ण प्रक्रिया है अत: विचारों का विकास ही विश्व का विकास है ।

2.4 द्वन्द्वाद: कार्ल मार्क्स के विचार

मार्क्स का दर्शन हीगल के दर्शन का एक विपरीत रूप है । मार्क्स ने हीगल के द्वन्दात्मक आत्मवाद को अस्वीकार किया व अपने दर्शन को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर आधारित किया । मार्क्स ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'दास केपिटल' की भूमिका में स्वयं लिखा है कि ' मेरी द्वन्द्वात्मक प्रणाली हीगल की प्रणाली से केवल भिन्न ही नहीं बल्कि उसके विपरीत है. मैंने हीगल के द्वन्द्ववाद को सिर के बल (मस्तिष्क, आत्म) खड़ा पाया, उसे मैंने पैरों के बल (भौतिकता) खड़ा कर दिया । यदि आप रहस्यमयी खोल में से तार्किक सार तत्व को ढूंढ निकालना चाहते हैं, तो आपको उसे बिल्कुल ही उलट देना होगा । ' मार्क्स ने हीगल के इतिहास दर्शन के आधारभूत तत्व ' विचारों की प्रधानता ' को अस्वीकार कर दिया । उन्होंने हीगल के दार्शनिक आदर्शवाद को काल्पनिक कह कर अस्वीकार कर दिया क्योंकि वह रहस्यवादी विचार है । जिसे देखा नहीं जा सकता स्पर्श नहीं किया जा सकता, उसकी जांच नहीं की जा सकती अत: वह वैज्ञानिक विचार ना होकर रहस्यमयी विचार है ।

मार्क्स का द्वन्द्ववाद संबंधी सिद्धान्त पदार्थ पर आधारित है अर्थात उसका आधार भौतिकवादी है। मार्क्स का मत है कि पदार्थ, प्रकृति और अस्तित्व पहले है तथा आत्मा, विचार व चेतना उसके बाद में है, मार्क्स भौतिक संसार को ही कारण माना है और कहा है कि भौतिक संसार ही आग्यन्तरिक विचारों का जनक है ।अत: मार्क्स का द्वन्द्ववाद हीगल के द्वंद्वाद से विपरीत है । स्वयं मार्क्स के शब्दों में '' हीगल के लिए चिन्तन की प्रक्रिया जिसे उन्होंने 'विचार का बाह्य रूप है । इसके विपरीत मेरे लिए आदर्श मानव के मस्तिष्क द्वारा प्रतिबिम्बित और विचार के रूप में परिवर्तित भौतिक जगत के अतिरिक्त ओर कुछ भी नहीं है ।"

मार्क्स के द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त का आधार भौतिकवादी है । भौतिकवाद का विचार यह है कि पदार्थ का अस्तित्व प्राथमिक है और पदार्थ ही चेतना को निर्धारित करता है । हीगल के लिए 'आत्मा' रहस्यमयी होने से अगम्य है परन्तु मार्क्स के लिए पदार्थ दृश्य होने से गम्य है । मार्क्स का विचार है कि पदार्थ को निरन्तर प्रयत्नों व प्रयोग के द्वारा समझा जा सकता है । मार्क्स कहते हैं हीगल ने उसी भौतिक दुनिया की अवहेलना की जिसमें वे रहते थे ।

मार्क्स का दर्शन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इसलिए कहलाता है क्योंकि इसमें प्रकृति के घटना क्रम को समझने का तरीका द्वन्द्ववादवादी है । मार्क्स के अनुसार प्रकृति गतिशील व परिवर्तनशील है । प्रकृति के अन्दर विरोधी शक्तियों के घात प्रतिघात के कारण ही विकास होता है । मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद विश्व को नये दृष्टिकोण से देखता है । उनका दुनिया को देखने का दृष्टिकोण साम्यवादी है. । मार्क्स का द्वन्दात्मक भौतिकवाद यह मानता है कि विश्व का निर्माण आत्मा, विचार या चिन्तन से नहीं वरन् भौतिक पदार्थ या वस्तु से हुआ है । पदार्थ में दो विरोधी शक्तियां पायी जाती है जिनके द्वन्द्व या संघर्ष से ही विश्व एवं प्रकृति का निर्माण होता है । पदार्थ में गतिशीलता व परिवर्तनशीलता होती है । अत: मार्क्स का विचार है कि विश्व स्वयं अपनी प्रकृति से भौतिक है जिसका आधार भौतिक तत्व या पदार्थ है जो

अपने आन्तरिक स्वभाव द्वारा विकसित होकर कई रूपों में प्रकट होता है । यह विकास भौतिक पदार्थ में निहित आन्तरिक विरोध द्वारा संचालित होता है । घटनाओं में अन्तःसंबंध व अन्तःनिर्भरता गतिशील पदार्थों के विकास का ही एक नियम है और इसी गतिशीलता के नियम के आधार पर संसार विकसित होता है । मार्क्स के भौतिकवाद के अनुसार पदार्थ, प्रकृति और जीव वैषयिक वास्तविकता है इसका अस्तित्व चेतना विचार आदि से बाहर व परे है । पदार्थ प्रमुख है क्योंकि वह विचार, अनुभूति व चेतना का स्त्रोत है । चेतना पदार्थ का ही प्रतिबिम्ब मात्र है । मार्क्स के अनुसार, पदार्थ चेतना की उपज नहीं है वरन् स्वयं पदार्थ की ही सर्वश्रेष्ठ उपज मात्र है ।

2.5 कार्ल. मार्क्स के द्वन्द्वात्मक प्रणाली की विशेषताएं -

1. मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद प्रकृति को एक सुसंबद्ध तथा पूर्ण समग्रता के रूप में मानता है जिसमें कि विभिन्न वस्तुएं तथा घटनाएं सावयवी रूप में एक दूसरे से संयुक्ता एक दूसरे पर निर्भर तथा एक दूसरे के द्वारा निर्धारित है । अर्थात प्रकृति की किसी भी वस्तु या घटना को दूसरी वस्तुओं या घटनाओं से पृथक असंबंधित तथा स्वतंत्र रूप में समझा नहीं जा सकता । प्रत्येक घटना अनेक घटनाओं से घिरी हुई होती है और उन सबका प्रभाव प्रत्येक पर और प्रत्येक का प्रभाव सब पर होता है ।
2. मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद यह मानता है कि प्रकृति निरन्तर गतिशील, परिवर्तनशील, नवीन परिवद्वित तथा परिमार्जित स्थिति है जिसमें कुछ चीजों का सदैव उद्भव और विकास होता है, तो कुछ चीजों की अवनति व विनाश । इस प्रकार द्वन्द्वात्मक प्रणाली इस बात पर बल देती है कि घटनाओं की विवेचना न केवल उनके अन्त: संबंध तथा अन्त: निर्भरता को ध्यान में रखते हुए करनी चाहिए बल्कि उनकी गति, परिवर्तन, विकास, उद्भव तथा विनाश को भी ध्यान में रखना होगा क्योंकि संसार में कोई भी घटना या वस्तु स्थिर या स्थायी नहीं है । संसार में और प्रकृति में सब कुछ अस्थायी, गतिशील तथा परिवर्तनशील है ।
3. मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद का मानना है कि परिमाणात्मक परिवर्तन से ही गुणात्मक परिवर्तन सम्भव है । छोटे से छोटे परिमाणात्मक परिवर्तन से बड़े से बड़े गुणात्मक परिवर्तन सम्भव हो सकते हैं । परन्तु ये परिवर्तन धीरे -धीरे व सरल तरीके से नहीं वरन् शीघ्रता से व एकाएक होते हैं । द्वन्द्ववाद के अनुसार विकास की गति निरन्तर आगे बढ़ती हुई और ऊपर चढ़ती रेखा की तरह है । वस्तुत: यह तो एक पुरानी गुणात्मक स्थिति में बदलना, सरल का जटिल होना और एक निम्न स्तर से उच्च स्तर की ओर आगे बढ़ना है ।
4. द्वन्द्ववाद के अनुसार समस्त वस्तुओं में तथा प्रकृति की घटनाओं में आन्तरिक विरोध स्वाभाविक होते हैं । द्वन्दवाद के अनुसार विकास आन्तरिक विरोध या संघर्ष द्वारा ही संचालित होता रहता है । इसके अनुसार प्रत्येक विकास में 'वाद' 'प्रतिवाद' और 'संवाद' ये तीनों अवस्थाएं होती है । प्रत्येक अवस्था अपने पूर्व की अवस्था का निषेध होती है । प्रत्येक अवस्था के अन्त में थोड़ा सा ऊपर उठ जाते हैं । उदाहरणार्थ

धूप, शीत, वायु से चट्टानें चूर्ण हो जाती है (वाद, प्रथम निषेध), वर्षा के जल के द्वारा बहकर वह चट्टान का चूर्ण समुद्र में चला जाता है (प्रतिवाद), कालान्तर में समुद्र में पर्वत उत्पन्न हो जाते हैं (संवाद) । इस प्रकार विकास आन्तरिक विरोध द्वारा इस कारण संचालित होता है क्योंकि गतिशीलता स्वयं विरोध मय है ।

सारांशत: मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद की मूल मान्यता यह है कि विश्व का आधार भौतिक तत्व या पदार्थ है जो अपने आन्तरिक स्वभाव द्वारा विकसित होकर भिन्न रूप धारण कर लेता है । यह विकास भौतिक पदार्थ में स्वाभाविक रूप से ही निहित अर्न्तविरोध द्वारा संचालित होता है और इसमें 'वाद', 'प्रतिवाद' और 'संवाद' ये अवस्थाएं होती है । विकास की यह प्रक्रिया एक बिन्दु पर आकर तीव्रता से एकाएक विस्फोट की भांति होती है अर्थात क्रांति में परिवर्तित हो जाती है । क्रान्ति के पश्चात एक नवीन सामाजिक अवस्था का जन्म होता है । जो थोड़े समय पश्चात प्रतिवाद को जन्म देता है अर्थात विरोध प्रारम्भ हो जाता है । इसी विरोध या संघर्ष के द्वारा विकास सम्भव हो पाता है ।

मार्क्स ने अपने द्वन्दात्मक भौतिकवाद के नियम को कुछ सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रतिपादित किया और उनमें सर्व प्रमुख उद्देश्य यह है कि मार्क्स इसी द्वन्दात्मक विकासवाद के आधार पर यह सिद्ध करना चाहते हैं कि पूँजीवादी समाज का विनाश अनिवार्य है । द्वन्दात्मक विकासवाद के अनुसार यदि संसार में सब कुछ गतिशील व परिवर्तनशील है तो निःसन्देह ही पूँजीवादी, निजी सम्पत्ति व शोषण जमींदारों के अधीन किसानों की पराधीनता व पूँजीपतियों के अधीन श्रमिकों की पराधीनता भी चिरस्थायी नहीं होगी । अत: पूँजीवादी व्यवस्था का स्थान एक दिन समाजवादी व्यवस्था ले ही लेगी । जिस प्रकार सामन्तवादी व्यवस्था का स्थान पूँजीवादी व्यवस्था ने एक समय ले लिया था ।

2.6 द्वन्द्ववाद: डी.पी. मुखर्जी के विचार

समाजशास्त्री डी.पी. मुखर्जी का पूरा नाम धूर्जटी प्रसाद मुखर्जी है । जिन्हें अधिकांश लोग डी.पी. के नाम से पुकारते थे । डी.पी. मुखर्जी ने समाजशास्त्र के प्रति अमूल्य योगदान प्रदान किया है । मुखर्जी आर.के. मुखर्जी के समकालीन थे दोनों ही लम्बे समय तक लखनऊ विश्वविद्यालय में साथ -साथ रहे हैं । मुखर्जी एक प्रतिष्ठित भारतीय थे जिन्होंने न केवल समाजशास्त्र के क्षेत्र में वरन् अर्थशास्त्र, साहित्य, संगीत और कला के क्षेत्र में भी अपना कीर्तिमान स्थापित किया । मुखर्जी मार्क्सवादी विचारधारा के समर्थक रहे हैं । उन्होंने भारतीय इतिहास का द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया द्वारा विश्लेषण किया है । उनके अनुसार परम्परा तथा आधुनिकता, उपनिवेशवाद तथा राष्ट्रवाद, व्यक्तिवाद और समूहवाद में द्वन्द्वात्मक संबंध है । ये एक दूसरे को प्रभावित करते है तथा प्रभावित होते भी है । मुखर्जी के द्वन्द्ववाद का आधार मानववाद रहा है जो संकुचित नृजातीय व राष्ट्रीय सीमाओं से परे था । उन्होंने कार्ल मार्क्स के सिद्धान्त को भारतीय परम्परा के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया है । मुखर्जी ने भारत पर पश्चिम के प्रभाव को एक समस्या के रूप में न देखकर एक सामाजिक प्रक्रिया के रूप में विश्लेषित करने का प्रयत्न किया । वे एक ओर पश्चिमी सभ्यता व संस्कृति से प्रभावित थे तो दूसरी ओर भारतीय परम्पराओं के अध्ययन पर भी जोर देते हैं । मुखर्जी ने भारतीय समाज के अध्ययन के

लिए परम्पराओं के अध्ययन को आवश्यक बताया है । उनके अध्ययन का केन्द्र बिन्दु परम्परा ही है । उन्होंने परम्परा के प्रकारों, स्तरों, आपसी द्वंद एवं परिवर्तन का गूढ़ विवेचन किया है । साथ ही उन्होंने भारतीय परम्परा व आधुनिकता के मध्य संघर्ष की द्वन्द्वात्मक व्याख्या कर भारतीय समाजशास्त्र में अपना एक विशिष्ट स्थान बनाया है।

मुखर्जी को भारतीय समाजशास्त्र की मार्क्सवादी विचार परम्परा का अग्रज माना जाता है । उन्होंने भारतीय सामाजिक प्रक्रियाओं के विश्लेषण में हीगल व कार्ल मार्क्स दोनों के द्वन्द्ववादी धारणा से पृथक द्वंदात्मक का प्रयोग परम्पराओं के द्वन्द ' के रूप में किया है । इसी के माध्यम से उन्होंने भारतीय समाज में होने तले परिवर्तन की व्यवस्था की है । इसलिए उन्होंने आन्तरिक एवं बाह्य भारतीय परम्परा का इस्लामिक परम्परा से द्वन्द्व सहित भारतीय परम्परा में निहित उच्च परम्परा और स्थानीय परम्परा के द्वन्द्व की उदाहरण सहित विवेचना की है । सामाजिक परिवर्तन के लिए उन्होंने अत्रेय ब्राह्मण ग्रंथ 'चवैंती चवैंती ' अर्थात आगे बढ़ो, आगे बढ़ो की धारणा को स्वीकार किया है ।

डी.पी. मुकर्जी बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न विद्वान थे । उन्होंने विभिन्न विषयों पर है । उन्होंने अपना लेखन कार्य पुस्तकों की अपेक्षा लेखों में अधिक किया है जिन्हें बाद में पुरस्कृत किया गया । वे जीवन में किसी एक विषय के होकर नहीं रहे । उनके अध्ययन के विषय क्षेत्र फैला हुआ था । वे एक समाज वैज्ञानिक उपन्यासकार, कला मर्मज्ञ, साहित्य समीक्षक, संगीत पारखी और इन सबसे बढ़कर एक मानवतावादी मनीषी थे । मुकर्जी ने लिखने से ज्यादा विद्वता पूर्ण भाषण दिये है । मुकर्जी ने कला के उद्भव और विकास की भी सूक्ष्म समीक्षा की है । उनकी दृष्टि में भारतीय कला का आधार आध्यात्मिक मूल्य रहे हैं । वे समस्त ज्ञान की एकता और अनुभव के एकीकरण में विश्वास करते थे । वे हठवादी मनोवृत्ति, अन्ध परम्परा और संकुचित दृष्टिकोण के विरोधी थे ।

2.7 भारतीय परम्परा एवं सामाजिक परिवर्तन पर द्वन्द्व: डी.पी. मुखर्जी के विचार

भारतीय 'परम्परा एवं सामाजिक परिवर्तन विषय पर सन् 1955 में 'इण्डियन सोशियोलॉजिकल कान्क्फ्रेन्स के देहरादून अधिवेशन में डी.पी. मुखर्जी ने अपने अध्यक्षीय भाषण में विचार व्यक्त किये हैं । इस अधिवेशन में मुकर्जी ने भारतीय समाजशास्त्रियों को सलाह दी कि हमें भारत की सामाजिक परम्पराओं का अध्ययन करना चाहिए क्योंकि हमारा जन्म इसी में हुआ है और हमारा अस्तित्व भी इसी में निहित है । अत: हमारा कर्तव्य है कि हम परम्पराओं का इन परम्पराओं में आन्तरिक एवं बाह्य दबावों के कारण होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन करें । वाद्य शक्तियों में वे आर्थिक दबावों को सम्मिलित करते हैं । मुकर्जी लिखते हैं ' अत: हमारा प्रथम कर्तव्य उन सामाजिक परम्पराओं का अध्ययन करना है जिनमें हमने जन्म लिया है और जिनमें हमने जीवन व्यतीत किया है । इस कर्तव्य में आन्तरिक और बाह्य दबावों से परम्पराओं में होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन भी सम्मिलित है । बाद के दबाव अधिकतर आर्थिक है । जब तक आर्थिक शक्ति असामान्य रूप से मजबूत नहीं होती और केवल इसी के द्वारा उत्पादन प्रणालियों में परिवर्तन होता है । तब तक परम्पराएं सामंजस्य करके जीवित

रहती है । ' मुकर्जी का कहना है कि परम्परा में विरोध करने एवं सीखने की महान शक्ति निहित होती है । परम्पराएं तब तक सामंजस्य के द्वारा जीवित रहती है जब तक कि आर्थिक शक्ति विशिष्ट रूप से बलशाली न हो और ऐसी न हो कि वह उत्पादन प्रणाली को ही बदल दे । मुकर्जी का कहना है कि सामंजस्य करने की इस क्षमता के आधार पर ही परम्परा की शक्ति का मूल्यांकन एवं माप किया जा सकता है । इसीलिए मुकर्जी परम्पराओं के अध्ययन पर अधिक बल देते हैं ।

डी.पी. मुकर्जी के अनुसार भारतीय धर्म और संस्कृति समूहवादी प्रकृति की है जिसमें समूह को न कि व्यक्ति को इकाई माना गया है । भारत की समाज व्यवस्था में व्यक्ति की क्रियाओं नहीं वरन् समूह कि क्रियाओं जैसे मत, सम्प्रदाय, जाति आदि की क्रियाओं को महत्वपूर्ण माना गया है । अत: हम इन सामूहिक परम्पराओं से दूर नहीं भाग सकते । अत: समाजशास्त्रियों के अध्ययन का केन्द्र बिन्दु भारतीय परम्पराऐं होनी चाहिए और परम्पराओं का अध्ययन अवैज्ञानिक नहीं होना चाहिए ।

अंग्रेजी शब्द Tradition का संस्कृत भाषा में समानार्थक शब्द 'परम्परा है जिसका अर्थ है 'उत्तराधिकार । परम्परा में हस्तान्तरण या संचरण की प्रक्रिया निहित होती है जिसके द्वारा एक समाज अपनी संस्कृति को अक्षुण्ण बनाये रखता है । लोग इनका आदर सम्मान करते हैं । ये समाज में सन्तुलन एवं दृढ़ता को बनाये रखती है । संस्कृत साहित्य में ब्राह्मणों को परम्पराओं का संरक्षक माना गया है । वे परम्परा की पवित्रता को सही उच्चारण व पवित्र पुस्तकों के माध्यम से बनाये रखते हैं । परम्परा भारतीय समाज व्यवस्था का इतिहास है इनके द्वारा ही भारतीय समाज की निरन्तरता बनी हुई है । परम्परा अनुदान क्रियाओं की सूचक है तथा साथ ही परिवर्तनशील भी है ।

मुखर्जी ने परम्पराओं में परिवर्तन के तीन सिद्धान्त बताये हैं - श्रुति, स्मृति और अनुभव । उक्त परम्पराएं जो मुख्य रूप से बौद्धिक थी जो स्मृति और श्रुतियों में केन्द्रित थी जिनमें परिवर्तन वाद -विवाद, तर्क, बुद्धि -विचार के कारण होता था । अनुभव एक क्रान्तिकारी सिद्धान्त है । व्यक्तिगत अनुभव परिवर्तन का मूल कारण रहा, किन्तु वह शीघ्र ही सामूहिक अनुभव का रूप ग्रहण कर लेता है । प्राचीन समय से ही सामान्य अनुभव परिवर्तन का कारक रहा है । यदि हम विभिन्न सम्प्रदायों और धार्मिक ग्रन्थों की उत्पत्ति को ज्ञात करे तो पायेंगे कि उनका प्रारम्भ उनके प्रवर्तक सन्तों के व्यक्तिगत अनुभव के कारण हुआ और बाद में वह व्यक्तिगत अनुभव सामूहिक अनुभव के रूप में परिवर्तित हो गया । बुद्धि -विचार को अनुभव से उच्च परिवर्तन का साधन माना गया है । जब उच्च व निम्न परम्पराओं में संघर्ष पैदा हो जाता है तो कुछ अमूर्त विचारों एवं भावनाओं के द्वारा उन्हें निकट लाने का प्रयत्न किया जाता है । मुकर्जी का मत है कि भारत की प्रगति की योजनाएं यहां की सांस्कृतिक परम्पराओं के संदर्भ में ही बनायी जानी चाहिए । उनका मत है कि परम्पराओं का विकास द्वंद के द्वारा होता है । मुखर्जी कहते हैं कि समाजशास्त्र का अध्ययन मुख्य रूप से परम्पराओं का अध्ययन है । परम्पराओं के अध्ययन में प्रतीकों का अध्ययन सम्मिलित है जो कि कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में रचनात्मक एवं गतिशील है । अत: मूल्य और प्रतिमान सामाजिक संरचना में उनके संबंध को बनाये रखते हैं ।

2.8 परम्पराओं के द्वन्द्व पर डी.पी. मुकर्जी के विचार

डी.पी. मुखर्जी द्वन्दात्मक उपागम के समर्थक है । द्वन्दात्मक उपागम की मान्यता है कि प्रत्येक समाज में दो विरोधी शक्तियां मौजूद होती है, जिनमें परस्पर संघर्ष होता है । इस संघर्ष का अन्त नये समाज के रूप में होता है । इस नयी व्यवस्था में पूर्व की दोनों विरोधी शक्तियों का समन्वय होता है । मार्क्स इसे वाद प्रतिवाद एवं संवाद के रूप में व्यक्त करते हैं । इसे त्रेत - - का नियम कहते हैं । डी.पी. मुकर्जी ने भी भारत में परम्पराओं का अध्ययन में इसी द्वन्द्वात्मक उपागम को अपनाया । मुकर्जी भारत में सामाजिक प्रक्रिया एवं परिवर्तन के विश्लेषण में परम्पराओं के द्वंद् (संघर्ष) का महत्वपूर्ण मानते हैं । मुकर्जी ने भारतीय परम्परा में अनेक प्रकार के विरोधों का उल्लेख किया और इसी आधार पर परम्पराओं के द्वन्द्वात्मक अध्ययन का सुझाव दिया । मुकर्जी मुख्य रूप से भारतीय परम्परा एवं पश्चिम की परम्परा के संघर्ष के द्वन्द्व की चर्चा करते हैं । वे कहते हैं कि सामाजिक मूल्यों एवं वर्ग हितों में पारस्परिक संघर्ष एवं अन्तखेल होता है । फिर उनमें समन्वय पैदा होता है । यह प्रक्रिया चलती रहती है और समाज में परिवर्तन होता रहता है । मुकर्जी का मत है कि भारत में यह प्रक्रिया मुसलमानों के आगमन एवं उनके प्रभाव से जो प्रारम्भ हुई वह आज तक चली आ रही है । भारतीय परम्परा एवं पश्चिम की परम्परा के संघर्ष के परिणामस्वरूप अनेक सांस्कृतिक विरोधाभास भी उत्पन्न हुए । सांस्कृतिक विरोधाभासों एवं नवीन वर्गो के उदय के कारण भारत में संघर्ष एवं समन्वय की प्रक्रिया भी प्रारम्भ हुई ।

डी.पी. मुकर्जी ने परम्पराओं के अनेक प्रकार के विरोधों का उल्लेख किया है । उनका मत है कि कस्बों एवं नगरों में स्वेच्छावाद पनप रहा है, व्यक्तिवादी प्रवृत्ति प्रबल होती जा रही है और समूहवादी परम्परा का विरोध हो रहा है । मुकर्जी कहते हैं कि परम्पराओं में उत्पन्न हो रहे इस प्रकार के विरोधाभासों का अध्ययन किया जाना चाहिए ।

डी.पी. मुकर्जी का मत है कि परम्पराओं में अवरोध एवं समावेश की अपूर्व क्षमता पायी जाती है । हमारी सामाजिक परम्पराओं में अनुकूलन की विशेष क्षमता है । धर्म से संबंधित परम्पराएं आज भी भारत में अपनी निरन्तरता बनाए हुए है । इन धार्मिक परम्पराओं का संघर्ष नगरीय मध्यमवर्ग की परम्पराओं के साथ हो रहा है अत: भारतीय समाजशास्त्रियों का यह दायित्व बन जाता है कि हमने जिन परम्पराओं में जन्म लिया है, बड़े हुए हैं और आज भी रह रहे हैं इन परम्पराओं के संघर्ष एवं विकास को द्वन्द्वात्मक उपागम के माध्यम से विश्लेषित करें । मुकर्जी ने समाजशास्त्रियों को दो बातों पर ध्यान केन्द्रित करने के लिए कहा है -

(1) वे सामान्य प्रघटनाएं जिसमें सामाजिक व्यवस्था और संस्कृति दोनों ही निकट रूप से संबंधित है, समाजशास्त्र की विषयवस्तु है, तथा (2) जहां तक भारतीय समाज का संबंध है सामान्य मूर्त प्रघटनाओं का अध्ययन समूह क्रिया तथा समूह परम्पराओं के माध्यम के उत्तमता के साथ किया जा सकता है ।

भारत में धार्मिक जीवन जीने का परम्परागत तरीका है और यही बात उसकी संस्कृति के लिए भी सही है । अत: भारत की सामाजिक व्यवस्था मूलत: समूह या जाति क्रिया के लिए प्रतिमानात्मक आधार प्रस्तुत करती है न कि व्यक्ति के लिए स्वैच्छिक रूप से क्रिया करने का

प्रतिमान । भारत में परम्पराओं से मुक्त होने का कोई मार्ग नहीं है । यह बात हिन्दुओं के लिए जितनी सही है, उतनी ही मुसलमानों, ईसाइयों तथा बौद्धों के लिए भी सही है । मुकर्जी की दृष्टि में धर्म से संबंधित परम्पराएं जो आज भी अपनी निरन्तरता बनाये हुए हैं, और नगरीय मध्यम वर्ग की नवीन परम्पराओं के बीच द्वन्द्व या संघर्ष पाया जाता है । परम्पराओं का उद्गम किसी स्त्रोत से होता है, यह स्त्रोत धर्म ग्रंथ, सन्त या रहस्यमयी व्यक्ति हो सकता है । चाहे इनका स्त्रोत कोई भी क्यों न हो, इनकी अपनी एक ऐतिहासिकता होती है । ये परम्पराएं सामाजिक सुदृढ़ता का निर्णायक भाग बन जाती है । ब्राहण सम्प्रदाय परम्पराओं के संरक्षक व वाहक रहे हैं । परम्पराएं मौखिक रूप से पीढ़ी दर पीढी हस्तांतरित होती रहती है ।

मुखर्जी के अनुसार इन परम्पराओं में परिवर्तन के तीन तत्वों श्रुति, स्मृति तथा अनुभव को मान्यता प्रदान की गयी है । सामूहिक अनुभव को परिवर्तन का प्रमुख कारक माना गया है । उच्च परम्पराऐं प्रमुखत: बौद्धिक थी तथा श्रुति व स्मृति में केन्द्रित थी । जहां परिवर्तन का सिद्धान्त द्वन्द्वात्मक अर्थ निरूपण या व्याख्या द्वारा उपलब्ध था । परम्पराओं के विकास में जहां द्वंदात्मक योग्यता का काफी प्रभाव रहा है, वहां अनुभव का भी प्रभाव रहा है ।

मुकर्जी का मत है कि जब कभी उच्च और निम्न बौद्धिक परम्पराओं में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है, तब उसका पूर्व अनुमान लगा लिया जाता है व प्रयत्नपूर्वक इन विरोधी परम्पराओं को वैचारिक दृष्टि से एक दूसरे के निकट ला दिया जाता है ।

2.9 डी.पी. मुखर्जी : परम्पराओं का द्वन्द्वात्मक उपागम

भारत में डी.पी. मुखर्जी द्वन्द्वात्मक उपागम के प्रबल समर्थक रहे है । मुखर्जी ने यह द्वन्द्वात्मक उपागम परम्पराओं के अध्ययन में अधिक प्रयोग में लिया । उनका मत है कि द्वन्द्व के परिणाम स्वरूप ही परिवर्तन होता है अर्थात जब किसी वस्तु में विरोध या संघर्ष होता है उसी के परिणाम स्वरूप उस वस्तु में परिवर्तन आता है । इसी तरह भारतीय समाज में पाये जाने वाली परम्पराओं में भी द्वन्द्व पाया जाता रहा है । परम्पराओं के इस द्वंदात्मक उपागम को उन्होंने निम्न प्रकार से वर्णित किया है -

(1) उच्च परम्परा एवं निम्न परम्पराओं में द्वन्द् से मुखर्जी का मत है कि उच्च परम्पराएं जो बौद्धिक थी व जो स्मृति व श्रुति में केन्द्रित थी उनका द्वन्द् निम्न परम्परा जो अनुभव पर आधारित थे से होता है । अनुभव जो पहले व्यक्तिगत अनुभव होता है जो शीघ्र ही सामूहिक अनुभव में परिवर्तित हो जाता है । मुखर्जी कहते हैं कि जब उच्च व निम्न परम्पराओं में द्वन्द्व होता है तब उच्च परम्पराऐं नीचे धरातल में चली जाती है व निम्न परम्पराएं उच्च शिखर की ओर अग्रसर होती है । समाज में उच्च व निम्न परम्पराओं में आरोहण व अवरोहण का क्रम चलता रहता है । इस प्रक्रिया क दौरान इन परम्पराओं में संघर्ष, सामंजस्य, अनुकूलन, परिवर्तन एवं समन्वय स्थापित होता रहता है ।

(2) लघु एवं वृहद परम्परा में द्वन्द्व - रॉबर्ट रेडफील्ड ने दो अवधारणाओं का प्रतिपादन किया है - लघु परम्परा व वृहद परम्पराऐं । मुखर्जी का मत है कि भारतीय समाज में ये दोनों परम्पराएं विद्यमान है । लघु परम्पराएं वे परम्पराएँ होती है जिनकी उत्पत्ति

संस्कृत साहित्य में नहीं होती वरन् जो स्थानीय स्त्रोतों में विद्यमान है । ये अलिखित होती है व अपरिष्कृत होती है । इनका फैलाव क्षेत्र भी सीमित होता है । वृहद परम्पराएं वे परम्पराएं है जिनका उल्लेख भारतीय शास्त्रीय ग्रन्थों जैसे रामायण, महाभारत, वेदों व उपनिषदों में वर्णित है । जो लिखित व परिष्कृत है तथा जिनका फैलाव क्षेत्र सम्पूर्ण भारत है । मुखर्जी के मतानुसार भारत में इन दोनों (लघु - वृहद) परम्पराओं में द्वन्द् पाया जाता है । उनका मानना है कि वृहद् परम्पराओं में द्वंद के फलस्वरूप लघु परम्पराएं उत्पन्न होती है । कभी वृहद परम्पराओं का विरोध भी किया जाता है । उदाहरणार्थ भारत में पुरातन काल से चली आ रही वृहद परम्परा ब्राह्मण परम्पराओं के विरोध में नामदेव, तुकाराम, नानक, कबीर, दादू दयाल आदि ने सुधारात्मक सम्प्रदाय चलाए । ऐसे ही 14वीं सदी में समाज सुधारकों के द्वारा वृहद् परम्पराओं के विरोध में कई प्रकार के समाज सुधारक आन्दोलन चलाए गए जिनमें राजाराम मोहन राय, स्वामी विवेकानन्द, राम कृष्ण मिशन आदि प्रमुख है । इसका आशय है कि वृहद् परम्पराओं का विरोध समाज प्राचीन समय से ही होता आ रहा है ।

(3) आन्तरिक एवं बाह्य परम्परा - मुखर्जी का मत है कि भारतीय समाज में समय समय पर भारतीय परम्परा (आन्तरिक) व विदेशियों की (बाहरी) परम्पराओं में द्वन्द्व व संघर्ष होता रहा है । भारत में शक, हूण, कुषाण, मंगोल मुसलमान व अंग्रेज आक्रमणकारी के रूप आए । इन सबकी परम्पराएं भारत की मूल परम्परा से भिन्न थी जिसके कारण इन बाहरी परम्पराओं व भारत की आन्तरिक परम्पराओं में संघर्ष प्रारम्भ हुआ । इसके फलस्वरूप भारतीय परम्परा परिवर्तन, अनुकूलन एवं समन्वय की प्रक्रिया से गुजरी । भारतीय परम्पराओं पर मुस्लिम व पश्चिमी परम्पराओं का प्रभाव सबसे अधिक पड़ा । इस्लाम ने 19वीं व 16वीं सदी में हिन्दूवाद पर पूर्ण रूप से प्रहार किया जिससे हिन्दूवाद में अनेक परिवर्तन हुए । उस समय हिन्दू धर्म में स्त्रियों की पवित्रता को बनाये रखने के लिए उन पर कई तरह के प्रतिबंध लगा दिये जैसे - पर्दा प्रथा, सती प्रथा, विधवा विवाह निषेध, बाल विवाह आदि । इस्लाम के बाद भारतीय परम्पराओं पर प्रभाव पश्चिमी संस्कृति का पड़ा । जिसके परिणामस्वरूप भारत की आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, शैक्षणिक, न्यायिक आदि सभी संस्थाओं में परिवर्तन हुआ । ब्रिटिश शासन के परिणामस्वरूप भारत में राष्ट्रवाद का विस्तार हुआ व समाज सुधार आन्दोलनों द्वारा पुर्नजागरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई । मुखर्जी ने परम्पराओं के द्वन्द्व पांच युगों में विभक्त किया है वे युग है - आर्य काल, बुद्ध काल, गुप्त काल, हर्ष एवं विक्रमादित्य काल एवं भक्ति काल, मुखर्जी का मत है कि इन सभी युगों में प्रचलित परम्पराओं का उस समय के विद्वान लोगों ने विरोध किया व सुधार के प्रयास किये । मुखर्जी का मत है कि भारतीय परम्पराओं में संघर्ष आर्यों के समय से ही विद्यमान रहा है । मुस्लिम काल व ब्रिटिश काल में तो यह परम्पराओं का द्वंद सिर्फ और अधिक स्पष्ट ही हुआ है ।

(4) परम्परा व आधुनिकता में द्वन्द्व - मुखर्जी का कहना है कि परम्परा व आधुनिकता में संघर्ष चलता रहता है । उन्होंने आधुनिकता को एक गतिशील तथ्य माना है । उनका मानना है कि परम्पराएं एक ऐसे सांस्कृतिक प्रतिमान का विकास करने का अवसर देती है जिसमें प्राचीन व नवीन का समन्वय होता है । नवीन मूल्यों व संस्थाओं की उत्पत्ति पहले से तैयार भूमि पर ही हो सकती है । उन्होंने परम्परा व आधुनिकता के हिन्दु को क्रमश: वाद व प्रतिवाद के रूप में दर्शाया है । परम्परा व आधुनिकता के संघर्ष से आधुनिकीकरण पनपता है । जिसमें दोनों का समन्वय होता है । मुखर्जी का मत है कि आधुनिकीकरण को समझने में पूर्व परम्परा को समझना आवश्यक है । परम्परा व आधुनिकता के अन्तर्खेल से परम्परागत मूल्यों और सांस्कृतिक प्रतिमानों में जो विस्तार और परिमार्जन होता है वही आधुनिकीकरण है ।

इस प्रकार डी.पी. मुखर्जी ने भारतीय समाज में परम्पराओं के द्वन्द्वात्मक उपागम को स्पष्ट किया है । उन्होंने भारतीय परम्पराओं के अध्ययन में द्वन्द्वात्मक उपागम का प्रयोग किया है ।

2.10 सारांश

समाजशास्त्री डी.पी. मुखर्जी ने अपने अध्ययन में कार्ल मार्क्स के द्वन्द्वात्मक उपागम को अपनाया । डी.पी. बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे । उन्होंने संगीत, साहित्य, दर्शन, अर्थशास्त्र, परम्परा, आधुनिकता आदि कई विषयों पर लेख लिखे थे । मुखर्जी का मत है कि भारतीय समाजशास्त्र के अन्तर्गत भारतीय परम्पराओं का अध्ययन व अवबोधन को सम्मिलित किया जाना चाहिए । उन्होंने भारतीय समाजशास्त्रियों का आवाहन किया व कहा कि हम सभी समाजशास्त्रियों का यह प्रथम कर्तव्य है कि हमने जिन परम्पराओं में जन्म लिया है, जिनमें हम जीवन जी रहे हैं उनका हम अध्ययन करे । मुखर्जी ने परम्पराओं के अनेक प्रकार के विरोधों का उल्लेख किया है । उनका मत है कि कस्बों व नगरों में स्वेच्छा वाद पनप रहा है । व्यक्तिवादी प्रवृत्ति प्रबल होती जा रही है और समूहवादी परम्परा का विरोध हो रहा है । मुखर्जी कहते हैं कि परम्पराओं में उत्पन्न हो रहे इस प्रकार के विरोधाभासों का अध्ययन किया जाना चाहिए । डी.पी. मुखर्जी का मत है कि भारत में धार्मिक परम्पराओं का संघर्ष नगरीय मध्यमवर्ग की परम्पराओं के साथ हो रहा है । अत: भारतीय समाजशास्त्रियों का यह दायित्व है कि वे इन परम्पराओं के संघर्ष एवं विकास को द्वन्द्वात्मक उपागम के माध्यम से भारतीय समाज की परम्परा एवं उनमें हो रहे परिवर्तनों का विश्लेषण करें ।

2.11 शब्दावली

(1) परम्परा - हस्तांतरण या संचरण की वह प्रक्रिया जिसके द्वारा समाज अपनी संस्कृति को अक्षुण - बनाये रखता है ।

(2) लघु परम्परा - वे परम्पराएं जिनकी उत्पत्ति संस्कृत साहित्य में नहीं वरन् स्थानीय स्त्रोतों में विद्यमान है, जो परिष्कृत नहीं होती व अलिखित होती है जिनका फैलाव क्षेत्र सीमित होता है ।

(3) द्वन्द्व - एक विषय पर पक्ष -विपक्ष के मतों के संघर्ष को द्वन्द्व कहा जाता है ।

(4) त्रेत - वाद, प्रतिवाद व संवाद को त्रेत का नियम कहा जाता है ।

2.12 बोध प्रश्न

(1) हीगल के द्वन्द्ववाद को स्पष्ट कीजिए ।

(2) डी.पी. मुखर्जी के अनुसार परम्परा के अर्थ को स्पष्ट कीजिए ।

(3) डी.पी. मुखर्जी के " परम्पराओं का द्वन्द्व " प्रारूप को स्पष्ट कीजिए ।

(4) हीगल व मार्क्स के द्वन्द्ववाद में अन्तर स्पष्ट कीजिए ।

2.13 सन्दर्भ ग्रन्थ

(1) दोषी, एस.एल., पी.सी. जैन, "सामाजिक विचारक", रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, 2002

(2) रावत, हरिकृष्ण, समाजशास्त्रीय चिन्तक एवं सिद्धान्तकार, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, 2002

(3) मुखर्जी, आर.एन., "सामाजिक विचारधारा" विवेक प्रकाशन, दिल्ली, 2002

इकाई -3

अगस्त काम्प्ट : विज्ञानों का संस्तरण

इकाई की रूपरेखा :

3.1 उद्देश्य

3.2 प्रस्तावना

3.3 कॉम्ट का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

3.4 कॉम्ट का बौद्धिक एवं सामाजिक परिवेश

3.5 विज्ञानों का वर्गीकरण

3.6 विज्ञानों का संस्तरण

3.7 सामाजिक विज्ञानों का पद्धतिशास्त्र (Methodology)

3.8 सामाजिक विज्ञानों की सार्थकता

3.9 समाजशास्त्र एवं विज्ञानों का संश्लेषण (Synthesis)

310 सामाजिक स्थितिकी एवं गतिकी (Social Statics and Dynamic)

3.11 सारांश

3.12 बोध प्रश्न

3.13 संदर्भ ग्रन्थ

3.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप -

- समाजशास्त्र के जनक अगस्त कॉम्ट का व्यक्तित्व एवं कृतित्व
- अगस्ट कॉम्ट का बौद्धिक परिवेश
- अगस्त कॉम्ट द्वारा प्रतिपादित विज्ञानों का वर्गीकरण एवं संस्तरण
- सामाजिक विज्ञान (समाजशास्त्र) का संश्लेषित स्वरूप एवं पद्धतिशास्त्र
- सामाजिक स्थितिकी एवं गतिकी की व्याख्या

3.2 प्रस्तावना

सामाजिक चिन्तन (विचार) एवं अध्यात्मिक सोच की विविध धारणाएँ हजारों -हजारों वर्षा से धर्म गुरुओं,. पादरियों, राज पुरोहितों, वेदयों, साहित्यकारों एवं महापुरूषों के द्वारा प्रतिपादित की जाती रही है । इन विचारों का ' निरूपण, निर्धारण एवं प्राकट्य मानव की भौतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों से प्रभावित रहा है । ज्ञान एवं बौद्धिक रचनाओं तथा कला प्रदर्शनों के द्वारा व्यक्ति, समाज, प्रकृति एवं आध्यात्मिक शक्तियों के बीच सम्बन्धों को ऐतिहासिक घटनाओं, परिकल्पनाओं, प्रमाणों रचनाओं की माध्यम से न केवल चित्रित किया जाता रहा है बल्कि उनकी कारण -कार्य व्याख्याएँ भी प्रस्तुत की गई है । इसी क्रम में उन्नीसवीं सदी के पूर्व तक के - विचारों का उद्भव पहले धार्मिक, फिर राजशाही - धार्मिक बाद

में प्रत्यक्षवादी या वैज्ञानिक समाजों में हुआ था । तब तक कई प्राकृतिक विज्ञान -गणित, खगोलशास्त्र, भौतिकशास्त्र आदि भी विकसित हो चुके थे । उन्नीसवीं सदी से ही विचारों की विकास यात्रा में चार नवीन आयाम जुड़ गये है: तर्कवाद, आनुभविकतावाद एवं मानवीयतावाद एवं आदर्शवाद । इनमें प्रथम आयाम तर्कवाद की विचारधारा का है जो इस दृढ़ विश्वास को प्रकट करता है कि मानव जीवन के सभी पहलुओं की व्याख्या कार्य -कारणता के आधार पर की जा सकती है । यद्यपि यह दुनिया ईश्वर की बनाई हुई है, तथा इसी का नाम प्रकृति भी है किन्तु मानव मस्तिष्क के द्वारा तर्क संगति एवं विवेक को प्रयुजन करके इसकी प्रतिकूल परिस्थितियों को अनुकूल बनाने के प्रयास किये जा सकते है । इसी प्रकार आनुभविकतावाद के विचार से विज्ञान पर आधारित अनुसंधानों का प्रारम्भ हुआ जिसमें अवलोकन/प्रयोग के आधार पर अनुभव -जन्य घटनाओं की व्याख्या की गई । इन दो विचारों के उपरान्त जब उन्नीसवीं सदी के समाजों में विज्ञान / तकनीकी के प्रयोग से औद्योगिकरण एवं पूंजीवाद का विकास हुआ तो समाज को समझने हेतु नये सामाजिक विज्ञान भी विकसित हुए और उनके द्वारा पूर्व के दो विचारों के साथ ही मानवतावाद एवं आदर्शवाद की विचारधाराओं को भी विकसित किया गया । इस प्रकार के विज्ञानों के विकास में जिन सामाजिक विचारकों का प्रमुख योगदान रहा उनमें अगस्ट कॉम्ट का नाम बडे सम्मान के साथ लिया जाता है ।

अगस्त कॉम्ट के पहले मोन्टेस्कयू (1689 -1755) ने समाज एवं इतिहास को समझने के लिये एक ऐसे दर्शन का प्रतिपादन किया जिसे राज्य या शासन के विविध स्वरूपों के साथ जोड़ करके तीन प्रकार की सत्ता का निरूपण किया गया - गणतंत्र, राजशाही एवं तानाशाही । इनमें गणतन्त्र की सत्ता सर्वश्रेष्ठ तथा तानाशाही को निकृष्ट मानी गयी । मोन्टेस्कयू के लगभग एक शताब्दी बाद समाज का वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर अध्ययन प्रस्तुत करके औद्योगिक समाज की व्याख्या अगस्ट कॉम्ट ने की । कॉम्ट की मान्यता थी कि समाज के विशेष प्रकार जो पहले के ऐतिहासिक काल में अस्तित्व में थे, धीर -धीरे लुप्त होते जा रहे हैं । जैसे धार्मिक / आध्यात्मिक (Theological) एवं सैन्य (Military) समाज अब कम होते जा रहे है । तब सम्पूर्ण समाज के लोग युद्ध में झोंक दिये जाते थे और बार -बार भी युद्ध होते थे । कई बार धर्मयुद्ध के नाम पर, तो कभी साम्राज्य विस्तार के नाम पर फिर, जब वैज्ञानिक एवं औद्योगिक समाजों का अभ्युदय हुआ तो इनमें वैज्ञानिकों एवं बुद्धिजीवियों की प्रमुखता बनने लगी । कॉम्ट एक ऐसे समाज सुधार के भी पक्षधर थे जिसमें समाज को बुद्धिजीवियों के द्वारा ही सुधारा जाय न कि । हिंसा एवं क्रांति के मध्यम से समाज को बदला जाय । वे ऐसी सामाजिक प्रगति चाहते थे जिससे समाज में मानवीय मूल्यों की पुनःस्थापना हो सके तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समाज में स्थायित्व एवं बदलाव लाया जा सके । कॉम्ट ने अपने पूर्ववर्ती विज्ञानों के विकास एवं प्रकृति को समझ कर उनके समकालीन सामाजिक विज्ञानों की प्रकृति पर भी प्रकाश डालते हुए सभी विज्ञानों का वर्गीकरण एवं संस्तरण प्रस्तुत किया । इस इकाई में हम उसी संस्तरण के विविध पहलूओं की विवेचना कर रहे है । विज्ञानों में व्यवस्थित किये गये ज्ञान के स्वरूप के भी अलग -अलग स्तर विकसित हुए है जिन्हें हम अगली इकाई में प्रस्तुत करेंगे ।

3.3 व्यक्तित्व एवं कृतित्व

अगस्त कॉम्ट (1798 -1857) का जन्म आज से लगभग दो शताब्दी पूर्व फांस में 1 जनवरी, 1798 को एक रायल परिवार में हुआ था । उनकी शिक्षा पेरिस में हुई तथा उनका जीवन अधिक संघर्षमय रहा । पारिवारिक, शारीरिक, मानसिक एवं आर्थिक संकट उनके समक्ष कई बार आते रहे । इनके बावजूद उन्होंने अपना विशेष बौद्धिक योगदान दिया । एक बार वे मानसिक रूप से सनकी होने की बीमारी से भी ग्रसित हुए । ऐसे भी तथ्य मिलते है कि उन्होंने दो बार आत्महत्या करने का भी प्रयास किया क्योंकि जीवन से किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये थे । कम वेतन की नौकरी भी कॉम्ट ने की । उन्हें पारिवारिक सुख भी बहुत ही कम मिला क्योंकि पहली पत्नी के निधन के उपरांत 50 वर्ष की उम्र में दूसरा विवाह किया और दो वर्ष बाद वह पत्नी भी मृत्यु को प्राप्त हो गई । अपने जीवन के अन्तिम कुछ वर्षों में कॉम्ट को मानव धर्म की स्थापना की प्रेरणा मिली और उन्होंने सार्वभौमिक प्रेम (universal love) के आधार पर मानवता के धर्म (Religion of humanity) की अवधारणा का प्रतिपादन किया । उनका निधन 59 वर्ष की उम्र में दिनांक 5 सितम्बर व 1875 ईस्वी सन् को हुआ ।

कॉम्ट की सर्जनशीलता उत्कृष्ट कोटि की थी । उन्होंने अपने जीवन के बारह वर्षों (1830 -42) के दौरान श्रेष्ठ लेखन कार्य भी किया तथा कोर्स डि फिलोसोफी पोजिटिव (Course De Philosophies Positive, 6 Volume) की रचना प्रस्तुत की जो छः भागो में है । उनकी अन्य रचनाएँ निम्नलिखित है :

1. Opuseules De Philosophies, Serial 1819 -1828.
2. System of positive polity, 4 volumes.
3. Appeal to conservation1855.
4. Religion of Humanity, 1656.

अगस्त कॉम्ट अपनी रचनाओं के माध्यम से प्रबल एवं वैज्ञानिक सामाजिक विचारक के रूप में उभर कर सामने आये थे जिन्होंने तत्कालीन मानव समाज की प्रगति (विकास) एवं उसकी व्यवस्था का वैज्ञानिक विधि अपनाते हुए विश्लेषण प्रस्तुत किया था । कॉम्ट के चिंतक व्यक्तित्व का विकास पेरिस (फांस) के इकोल केन्द्र पर ही हुआ था । इकोल केन्द्र पर पूर्व में ही सेन्ट साइमन, एक प्रभावशाली विचारक एवं लेखक, मौजूद थे जिन्होंने अगस्त कॉम्ट को अपने शिष्य एवं सहकर्मी के रूप में स्वीकार किया । कॉम्ट भी सेन्ट साइमन को अपना गुरू मानते थे ।

3.4 कॉम्ट का बौद्धिक एवं सामाजिक परिवेश

सेन्ट साइमन ने कॉम्ट के लिये एक बौद्धिक परिवेश तैयार किया जो उनके भी पूर्ववर्ती विचारकों - मोन्टेस्क्यू रूसो, बोनाल्ड एवं मेस्ट्रे से प्रभावित था । अठारहवीं शताब्दी की दो क्रांतिया -फ्रांसिसी क्रांति एवं औद्योगिक क्रांति -ने पश्चिमी देशों विशेष रूप से फ्रांस, जर्मनी, इंग्लैण्ड, अमरीका के समाजों में व्यक्ति और समाज के संबन्धों को बहुत हद तक प्रभावित किया था । कुछ विद्वान यह मानते थे कि व्यक्ति अपने स्वभाव एवं प्रकृति से अच्छा होता है

किन्तु समाज की परिस्थितियाँ उसे भ्रष्ट कर देती है ओर वह फिर समाज की रसातल में ले जाता है । जबकि अन्य विद्वान यह भी मान रहे थे कि व्यक्ति मूल रूप से स्वार्थी एवं स्वकेन्द्रित होता है तथा समाज के आदर्शो एवं नैतिक मूल्यों से उसे सभ्य एवं परिष्कृत किया जा सकता है । कॉम्ट ने इस बाद वाले विचार को मानते हुए व्यक्ति पर समाज की प्रधानता जताने का प्रयास किया ।

कॉम्ट को सामाजिक विज्ञानों में प्रत्यक्षवादी वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रारम्भ करने की अत्यधिक रूचि थी । किन्तु उनके पूर्व 17 वीं शताब्दी से ही यह प्रत्यक्षकारी उपागम प्राकृतिक विज्ञानों से सामाजिक विज्ञानों में अपनाया जाने लगा था । सेन्ट साइमन के इस विचार को अगस्ट कॉम्ट ने पूरी तरह स्वीकार कर लिया था कि तत्कालीय यूरोपीय समाज जो कि औद्योगिक क्रांति से गुजर चुका था, में ऐसे दो वर्ग नये उभरे है जिनका सर्वाधिक प्रभाव हैं । प्रथम वर्ग वैज्ञानिकों एवं बुद्धिजीवियों का है जो पूर्व के धार्मिक गुरुओं का स्थान ले चुका है तथा इनका वैचारिक प्रभाव समाज पर सर्वाधिक है । दूसरा प्रभावशाली वर्ग उद्योगपति एवं पूंजीवादी लोगो का या फिर सम्पति के मालिकों का है जो सम्पूर्ण उत्पादन के साधनों पर अपना नियंत्रण रखता है । इस प्रकार एक ऐसे प्राधिकारी संभाग की रचना हुई है जिसमें वैज्ञानिक तकनीकी अभिजन सयंति के स्वामी मिल कर सामान्य लोगो पर सत्ता -संचालन करते है । ऐसे वर्ग स्तरीय समाज को मोटे रूप से तीन वर्गो में विभाजित किया जा सकता है । बुद्धिजीवी, सम्पन्न एवं विपन्न पश्चिमी देशों में कांति का सूत्रपात सम्पन्न एवं विपन्न वर्गो के बीच संघर्ष -सम्बन्धों के गहरा जाने के साथ हुआ जिसका नेतृत्व बुद्धिजीवी वर्गो ने किया । ये विचार सेन्ट साइमन के थे जिन्हें अगस्त कॉम्ट ने संशोधित रूप में स्वीकार किया था । साइमन के उदारवादी एवं अभिजनवादी विचारो से अगस्त कॉम्ट सर्वाधिक प्रभावित थे । कुछ अवधि तक एक साथ बौद्धिक कार्य संपादन करने के उपरान्त अगस्त कॉम्ट ने अपने आप को सेन्ट साइमन से विलग कर लिया ।

कॉम्ट के जीवन के सक्रीय लेखन कार्य के दौरान ही कई सामाजिक उथल -पुथल यूरोपीय देशों मे हुई थी जिनमें क्रांति, विद्रोह, युद्ध, सामाजिक एवं राजनैतिक अराजकता तथा विक्षोभ प्रमुख है । उदाहरणार्थ फ्रांसिसी क्रांतिकारी, नेपोलियन का सत्ता मे आना, एवं फिर सत्ता से च्युत हो जाना, राजशाही की पुर्नस्थापना होना आदि घटनाएं प्रमुख है । इन सभी विकट परिस्थितियों के बावजूद भी कॉम्ट ने अपनी वैचारिक क्षमता को परिमार्जित करते हुए सामाजिक विज्ञानों के उपागमों और पद्धतियों को प्राकृतिक विज्ञानों की तर्ज पर ही विकसित किया था । कॉम्ट यह भी मानते थे कि व्यक्तियों एवं समाजों की तत्व सामाजिक विज्ञानों में भी निरन्तर बदलाव एवं प्रगति होती रहती है। अगस्त कॉम्ट के बारे मे रेमण्ड ऐरन (1965) लिखते है कि “वे दार्शनिकों के बीच एक प्रखर समाजशास्त्री थे । तथा समाजशास्त्रियों के बीच एक दार्शनिक ।” उन्होंने पहली बार सार्वभौमिक मानवीय एकता को स्वीकारते हुए मानव की प्रगति तथा व्यक्ति एवं समाज के बीच सम्बन्धों दो एक दार्शनिक तथा समाजशास्त्री दोनों ही दृष्टिकोणों से देखने का प्रयास किया । उनके दृष्टिकोणों में निम्नलिखित परिप्रेक्ष्य दिखाई देते है:

(1) विश्व मे फ्रांसिसी एवं औद्योगिक क्रांतियों के बाद नई सामाजिक आर्थिक व्यवस्था विकसित हुई जिसमें सामाजिक संगठन के स्वरूप ही गये ।

(2) संपूर्ण मानव प्रजाति के इतिहास को अलग - अलग स्वरूपों एवं इतिहासों में देखने के बजाय उसके एक विश्व व्यापी स्वरूप के एक ही ऐतिहासिक क्रम को सामने रखा जाना चाहिये ।

(3) विविध संस्थागत भिन्नताओं के बावजूद उन सभी की आधारभूत सामाजिक व्यवस्था में एकरूपता है तथा इसमें होने वाली प्रगति की अवस्थाएं भी एक समान है ।

अगस्ट कॉम्ट के पूर्व विकसित सभी आधार -विज्ञानों की प्रकृति के आधार पर उनका वर्गीकरण करने उन्हें कई श्रेणियों मे विभक्त किया गया है तथा बाद मे विकसित समाजशास्त्र को भी उसी वर्गीकरण मे विकास की अंतिम कड़ी मानते हुए उसे विशिष्ट, संयुक्त, संश्लेषित विज्ञान माना है।

3.5 विज्ञानों का वर्गीकरण

कॉम्ट ने विज्ञानों का वर्गीकरण करके उनका संस्तरण भी किया है । पहले यह जानना उचित होगा कि विज्ञानों का वर्गीकरण अर्थात् उनकी क्या -क्या श्रेणियों बनाई गई । विज्ञान के ज्ञान के विकसित स्वरूप की विविध शाखाएँ है जिन्हें उनकी विशिष्ट प्रकृति एवं विधा के आधार पर अलग -अलग नाम दिये गये है । प्राचीन काल से ही व्यक्ति अपने बोध, सोच एवं ज्ञान के आधार पर विज्ञानों का विकास करता रहा है । सबसे पहले प्राकृतिक विज्ञान ही विकसित हुए है जो सरल तर्कों के आधार पर विश्लेषणात्मक पद्धति को अपनाते हुए बनाये गये थे जिनमें सर्वप्रथम गणित विषय का वैज्ञानिक निरूपण हुआ । फिर पदार्थों की गति, भार, प्रतिक्रियाएँ, बदलाव आदि के बारे में ज्ञान को व्यवस्थित किया जाने लगा जिसमें गणितीय सूत्रों का प्रयोग किया गया । कई अमूर्त सिद्धान्तों का निर्माण खगोलशास्त्रीय विज्ञान के रूप में विकसित एवं निरूपित किया गया । फिर अन्य प्राकृतिक विज्ञानों का विकास हुआ । अग्रलिखित सारणी संख्या - 1 में सभी विज्ञानों को जिनसे सामाजिक विज्ञान भी सम्मिलित है, एक क्रम में दर्शाया गया है ।

अग्रलिखित सारणी में क्रमांक 1 से 4 तक के प्राकृतिक विज्ञान सर्वाधिक अमूर्त सामान्य कथन प्रस्तुत करते है जिन्हें सार्वभौमिक रूप से लागू किया जा सकता है । इनमें प्रत्यक्षवादिता तो सापेक्ष रूप में ही पाई जाती है किन्तु विश्लेषण एवं कार्यकारण सम्बन्धों के स्वयंसिद्ध कथन सर्वाधिक हैं । इन सभी की विषयवस्तु प्राकृतिक पदार्थ होने से इन्हें प्राकृतिक विज्ञानों की उस श्रेणी में रखा गया है जो जड़ पदार्थों के बारे में ज्ञान कराते है । पांचवे क्रम पर भी प्राकृतिक विज्ञान है जिसमें जैविक अवयवों का अध्ययन किया जाता है तथा क्रमांक 6 एवं 7 के विज्ञानों का संबन्ध मानव और उसके समाज तथा नीतियों से हैं । यहां सर्वाधिक विशिष्टता के साथ -साथ ज्ञान की विविध विधाओं के बीच संश्लेषण भी सम्पन्न किया गया है । इन विज्ञानों का विकास अंतिम चरण में होने से इनमें वैज्ञानिकता की विधियों का उचित प्रयोग हुआ है तथा पूर्ववर्ती विज्ञानों की कमियों को भी दूर किया गया है । यहां हम इन सभी

विज्ञानों का संक्षिप्त परिचयात्मक वर्णन प्रस्तुत कर रहे है तथा बाद में इनके संस्तरण की व्यवस्था पर विवेचन होगा ।

सारणी - 1

कॉम्ट द्वारा प्रतिपादित विज्ञानों का वर्गीकरण

क्रमांक	विज्ञान की विधा का विशिष्ट नाम	अमूर्तता (सामान्यता) की प्रकृति
1	गणित (मेथेमेटिक्स)	सर्वाधिक अमूर्त (सामान्य, विश्लेषणात्मक)
2	खगोलशास्त्र (एस्ट्रोनोमी)	कम अमूर्त (कम सामान्य)
3	भौतिकशास्त्र (फिजिक्स)	और कम अमूर्त (कम सामान्य)
4	रसायनशास्त्र (केमेस्ट्री)	और कम अमूर्त (कम सामान्य)
5	शरीर विज्ञान - जीव विज्ञान (वनस्पतिएवं जंतु विज्ञान) बायोलोजी	सबसे कम अमूर्त (कम सामान्य)
6	सामाजिक भौतिकी (समाजशास्त्र)	विशिष्ट, संश्लेषित तथा स्थूल प्रघटना
7	नीतिशास्त्र (इतिहास)	सापेक्ष विशिष्ट

1. **गणित : -** यह विज्ञान सभी विज्ञानों में सबसे पहले तथा सबके आधारभूत ज्ञान के व्यवस्थित स्वरूप के रूप में विकसित हुआ था । इसे विश्लेषण की दृष्टि से पहले बहुत सरल रूप से विकसित किया गया जिसमें संख्याओं का प्रयोग दैनिक जीवन की वस्तुओं के संदर्भ में होने लगा । कालान्तर में गणित विज्ञान की कई विशिष्ट शाखाएँ / सूत्र आ गये और यह अन्य प्राकृतिक विज्ञानों में प्रयुक्त होने से इसमें भी जटिलता बढ़ती गई । गणित में ही बीज गणित (एल्जबरा) एवं रेखा गणित (ज्योमिट्री) की शाखाएँ विकसित हुई । यह सर्वाधिक सामान्य विज्ञान है जो अधिकांश रूप से स्वयं सिद्ध कथनों पर ही आधारित है । वर्तमान समय में तो गणित विषय के सांख्यिकीय सूत्र प्राकृतिक एवं सामाजिक विज्ञानों की वैज्ञानिक पद्धति में तथ्यों के विश्लेषण करने में प्रयुक्त होते है । इस विषय का प्रयोग दर्शन धर्मदर्शन, नीतिशास्त्र जैसे विषयों मे नही हो पाता है । गणित के सूत्र सार्वभौमिक रूप से अमूर्त एवं सामान्य प्रकृति के है ।
2. **खगोलशास्त्र : -** गणित विज्ञान के बाद उसके सूत्रों का प्रयोग करते हुए ही एक ऐसा विज्ञान विकसित हुआ जो आकाशीय पिण्डों या ग्रह -नक्षत्रों की गति, आकार एवं प्रकार के बारे सही -सही ज्ञान को प्रस्तुत करने लगा । यह अत्यन्त विकसित विज्ञान बनता चला गया यद्यपि विज्ञानों के क्रमिक विकास में इसका दूसरा स्थान है । इस विज्ञान ने विविध खगोल शास्त्रीय घटनाओं की सही -सही भविष्यवाणी भी की है ।
3. **भौतिक शास्त्र : -** भौतिकशास्त्र भी पार्थिव (जड़) पदार्थों के बारे प्रत्यक्षवादी उपागम पर आधारित ऐसा विज्ञान है जिसमें गणित के सूत्रों का सर्वाधिक प्रयोग होता है । इसे निश्चित एवं विशुद्ध विज्ञान की श्रेणी में रखा गया है । गुरूत्वाकर्षण से पदार्थों की गति कैसे प्रभावित होती है? विद्युत तरंगों एवं प्रकाश किरणों की गति क्या है । इस सब के बारे में भी यही विज्ञान सिद्धान्त प्रतिपादन करता है । भौतिकशास्त्र की कई विशिष्ट शाखाएँ भी विकसित हो गई है । विज्ञानों के विकास क्रम में भौतिकशास्त्र का तीसरा

स्थान आता है किन्तु इसके सभी सत्र एवं सामान्य कथन निश्चित तथ्य प्रस्तुत करते है । इसकी भविष्यवाणी पूर्णरूप से सही साबित होती है ।

4. **रसायनशास्त्र : -** विकास कम में चौथे स्थान पर इस विज्ञान का स्थान है जो अजैव तथा पार्थिव तत्वों के बारे में सिद्धान्त प्रतिपादित करता है । इसकी भी कई शाखाएँ अब विकसित हो गई है । अब जैव रसायन शास्त्र की शाखा भी विकसित हो गई हैं इसकी अन्य शाखाओं में विश्लेषणात्मक रसायनशास्त्र भी आता है । इस विज्ञान में भी गणित एवं भौतिकशास्त्र दोनों विज्ञानों के सूत्रों का प्रयोग होता हैं । किन्तु रसायनशास्त्र के सूत्रों को गणित एवं भौतिक शास्त्र में प्रयुक्त नही किया जाता है ।
5. **जीव विज्ञान (शरीर विज्ञान) : -** जैव शास्त्र के रूप सभी विज्ञान प्राणियों या पदार्थों का अध्ययन जीव विज्ञान में किया जाता है । विज्ञानों के विकास कम मे इसे पांचवे कम पर -स्थान दिया गया हैं । इस विज्ञान में मुख्य रूप से दो शाखाएँ हैं वनस्पति विज्ञान एवं जन्तु विज्ञान इनमें भी प्रत्येक के अन्तर्गत कई विशिष्ट शाखाएँ अब विकसित हो गई हैं । इस विज्ञान में रसायनशास्त्र के सूत्रों का भी प्रयोग होता है तथा गणित के सांख्यिकीय सूत्रों के माध्यम से कई जैविकीय क्रियाओं के सम्बन्धों की व्याख्या की जाती है ।
6. **सामाजिक भौतिकी (समाजशास्त्र): -** यह सामाजिक विज्ञान का संश्लेषित स्वरूप है जो विज्ञानों के विकास क्रम में अंतिम अवस्था में दिखाई देता है । यद्यपि एक विज्ञान इसके बाद और भी बताया गया है । इसमें अन्य सभी विज्ञानों की प्रत्यक्षवादी पद्धति का सही -सही प्रयोग करते हुए ऐसी जटिल विषयवस्तु का अध्ययन किया जाता हैं जिसके लिये संश्लेषित ज्ञान एवं पद्धति का प्रयोग आवश्यक है । इसके कई सिद्धान्त जीव विज्ञान से भी लिये गये है । किन्तु मानव समाज के अध्ययन हेतु इसकी ऐतिहासिक पद्धति तथा संस्थागत स्थिरता एवं बदलाव का अध्ययन वैज्ञानिक विधि के आधार पर ही किया जाता है ।
7. **नीतिशास्त्र : -** समाजशास्त्र के विकास के साथ -साथ मानव समाज एवं संस्कृति को बचाने तथा उसमें विघटन के स्थान पर एकीकरण स्थापित करने एवं मानव धर्म की संस्थापना के लिये नीतिशास्त्र की रचना की गई । इसमें सापेक्ष विशिष्टता का अध्ययन है ।

उपर्युक्त सभी प्रकार के विज्ञानों का वर्णन प्रस्तुत करने के उपरांत यह उचित होगा कि इनको तुलनात्मक स्थिति में प्रस्तुत किया जाए । सारणी - 2 में विज्ञानों की प्रकृति एवं विषय वस्तु के आधार पर तुलनात्मक स्थिति में दर्शाया गया है । सामान्य प्रकृति का विश्लेषणात्मक विज्ञान तो केवल गणित ही है जो दिव्य / पिण्डीय विषय - वस्तु खगोलशास्त्र एवं पार्थिव या ऐहिक प्रकृति के विज्ञान की श्रेणी में आता है । किन्तु संश्लेषणात्मक विज्ञानों में तो जीव विज्ञान तथा समाजशास्त्र / नीतिशास्त्र आते है जो जैव जगत का अध्ययन करते है ।

सारणी - 2

विज्ञानों की तुलनात्मक स्थिति

प्रकृति

विषयवस्तु	विश्लेषणात्मक (अजैव)	संश्लेषणात्मक (जैव)
सामान्य	गणित	-
दिव्य (आकाशपिण्डीय)	खगोलशास्त्र	-
पार्थिव / ऐहिक	भौतिक शास्त्रएवं रसायन शास्त्र	जीव विज्ञान, समाजशास्त्र / नीतिशास्त्र

एक और आधार पर भी कॉम्ट ने विज्ञानों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया हैं । दो प्रकार की घटनाएँ / वस्तुएं होती है जिन्हें विज्ञान अध्ययन करते है जटिल एवं सरल । जटिल का अध्ययन करने वाले विज्ञान भी जटिल या संश्लेषित कहलाते है जबकि सरल का अध्ययन करने वाले आधार विज्ञान है । जैव या ऐहिक घटनाओं को सर्वाधिक जटिल माना गया है । इन घटनाओं का स्वतंत्र अस्तित्व नही होता है । इनके हर भाग का सम्बन्ध इनके सम्पूर्ण से होता है क्योंकि ये जैव व्यवस्थाओं की घटनाएँ या अंग भाग होते है अथवा उनकी क्रियाएं / प्रतिक्रियाएं ही है । इस प्रकार की हर घटना / इकाई अपनी सम्पूर्ण या विस्तृत व्यवस्था के साथ इस प्रकार जुड़ी होती है या उसमें संश्लेषित रहती है कि उसे विलग करना सम्भव नही हैं । इन घटनाओं / इकाईयों का अध्ययन करने वाला विज्ञान यद्यपि बाद में सिद्धान्त निर्माण में वह पूर्ववर्ती विज्ञानों से जटिल, संश्लेषित एवं अधिक वरीयता लिये हुए हैं । ऐसे सामाजिक विज्ञान का स्थान सबसे ऊपर बताया गया है जिसमें दोनों गुण विद्यमान है - विश्लेषणात्मकता एवं संश्लेषणात्मकता / इसी पहलू को हम यहां विस्तार से दर्शाने जा रहे है ।

3.6 विज्ञानों का संस्तरण

विज्ञानों का वर्गीकरण अर्थात् उन्हें अलग -अलग प्रकारों में क्रम से नामकरण करने के उपरांत अब उनकी श्रेणी मानता या संस्तरण की विवेचना करना प्रासंगिक होगा । जो मुख्य सात प्रकार के विज्ञानों की जानकारी अब तक दी गई उनमें सर्वोच्च स्थान पर कौन सा विज्ञान है तथा उससे नीचे की वरीयता मे कौन से विज्ञान आते है? इसी बात का विश्लेषण अब किया जा रहा है । यही संस्तरण या सोपानीय व्यवस्था हैं । समाजशास्त्र को पूर्ण विज्ञान का दर्जा देते हुए कॉम्ट ने इसे सभी विज्ञानों में सर्वाधिक जटिल तथा उनका सिरमोर बताते हुए इसे सर्वोच्च स्थान प्रदान किया हैं। इसी तथ्य को बर्ट एन. एडम्स एवं आर. ए. सिडी (2001) ने इस प्रकार प्रस्तुत किया हैं :

> *"अगस्त कॉम्ट के लिये विज्ञानों के संस्तरण में समाजशास्त्र का स्थान सर्वोच्च स्तर पर निर्धारित किया गया। इस संस्तरण की दिशा सर्वाधिक सामान्य, सरल, अमूर्त एवं अप्रत्यक्ष तथा अन्य को प्रभावित करने वाले तथ्यों के अध्ययन की आधार स्थिति से ऊपर की ओर उठते हुए सर्वाधिक 'विशिष्ट' संयोजित एवं स्थूल तथ्यों की ओर उध्वमुखी रूप में प्रदर्शित की गयी हो। इसमें नीचे से ऊपर की और उठते हुए संस्तरण से सभी विज्ञान आपस में सम्बन्धित हैं / " (देखिये पृ. 39)*

विज्ञानों के संस्तरणीय पदसोपान को सारणी संख्या - 3 में प्रदर्शित किया गया है । इस संस्तरण क्रम में जो विज्ञान आधार स्तर पर है वे सबसे पहले प्रकट किये गये थे । जब

लोग केवल गिनती लगाना ही सीख पाये थे तभी से गणित आया जो धीरे -धीरे एक व्यवस्थित विश्लेषणात्मक विज्ञान बना । उससे ऊपर की और संस्तरण मे खगोलशास्त्र का दूसरा स्थान है जो आकाशीय पिण्डों (ग्रहों / नक्षत्रों) का गणित के सूत्रों का प्रयोग करते हुए सही -सही सिद्धान्त प्रस्तुत करता है । इसी के क्रम में ऊपर की ओर मध्य स्तर पर हम भौतिकशास्त्र और उसके भी ऊपर रसायन शास्त्र को संस्थापित पाते हैं । इनमें गणित की तुलना में अधिक विशिष्टता एवं अधिक स्थूल वस्तुओं का अध्ययन. होता है । किन्तु यह विशिष्टता एवं स्थूलता जैव विज्ञानों (जीव विज्ञान एवं समाजशास्त्र) से तो कम तादाद की है ।

सारणी - 3

विज्ञानों का संस्तरण (पद सोपान)

स्तर	**विज्ञान का नाम**	**विशेषता**
सर्वोच्च स्थान(शिखरस्तर)	समाजशास्त्र एवं नीति शास्त्र जीव विज्ञान	जटिलता, विशिष्टता, संयोजकता, स्थूल प्रघटना का अध्ययन
मध्य -स्तर	रसायनशास्त्र, भौतिकशास्त्र, खगोलशास्त्र	क सरलता में भी कमी कम जटिलता म विशिष्टता कम स्थूल
आधार -स्तर	गणित	अमूर्त, सरल सामान्य विश्लेषणात्मक सूत्र

सामाजिक विज्ञानों का सभी विज्ञानों संस्तरण व्यवस्था में सर्वोच्च स्थान होने का एक और तर्क भी दिया जाता है । इन विज्ञानों में इनके पूर्ववर्ती विज्ञानों के उपागमों, संसाधनों एवं पद्धतियों का परिमार्जित एवं संशोधित रूप में प्रयोग किया जाता है । अब तक विकसित संचित ज्ञान एवं पद्धतिशास्त्र के अनुभवात्मक सुधार का लाभ भी इन विज्ञानों को मिला है । इन विज्ञानों के विश्लेषण एवं निष्कर्ष अधिक प्रत्यक्षवादी, अधिक सटीक एवं अधिक वैज्ञानिक सिद्धांतों के 'आधार पर प्रस्तुत किये. आते है । अगस्ट कॉम्ट ने सामाजिक विज्ञान को जो प्राथमिकता एवं सर्वोच्च स्थान संस्तरण में प्रदान किया था उसके पीछे भी कारण है कि इसमें अध्ययन पद्धति को सामाजिक घटनाओं, मानव क्रियाओं, संस्थाओं आदि के अध्ययन करने में सबसे अधिक दक्षतापूर्ण ढंग से अपनाया गया है ।

समाजशास्त्र की सबसे बडी विशेषता इसकी प्रत्यक्षवादी (वैज्ञानिक) पद्धति की यह है कि इसमें समाज का अध्ययन सम्पूर्णतावादी परिप्रेक्ष्य में किया जाता है । यह धारणा जीव विज्ञानों से ली गई है तथा प्रकार्यात्मक उपागम के आधार पर समाज की हर ईकाई का उसकी सम्पूर्ण व्यवस्था में सकारात्मक योगदान एवं स्थान की व्याख्या की जाती है । जबकि अन्य आधार एवं प्राकृतिक विज्ञानों - गणित, भौतिकशास्त्र, खगोलशास्त्र, रसायनशास्त्र आदि में इस उपागम के स्थापन पर केवल विश्लेषणात्मक उपागम का ही प्रयोग है ।

3.7 सामाजिक विज्ञानों का पद्धतिशास्त्र

सर्वोच्च शिखर के सामाजिक विज्ञानों की प्रकृति की पूर्ण जानकारी के लिये इनके पद्धतिशास्त्र को जानना भी प्रासंगिक होगा । यह प्रत्यक्षवादी या वैज्ञानिक का व्यावहारिक स्वरूप

है जिसमें समाज वैज्ञानिक तथ्यों को एकत्रित करके उनका विश्लेषण करने के उपरांत सिद्धांत' बनाता है । कॉम्ट ने इस विधि में कई पद्धतियों का संयोजन एवं अनुभवजन्य लाभ बताया है ।जैसा कि हर समाजशास्त्री अनुभव करता है, मानव समाज की सभी ईकाईयां का एक -दूसरे से तो एकता का गहरा सम्बन्ध होता है । यह सामाजिक प्रघटनाओं की जटिलता को घोतक है जिनका अध्ययन करने हेतु निम्न लिखित विधियां बताई गई है : -

अ. अवलोकन विधि : - कहा जाता है कि विज्ञान अवलोकन विधि से प्रारम्भ होता है और अवलोकन पर ही समाप्त होता है । इस विधि के द्वारा घटनाओं / प्रघटनाओं का अनुभव के आधार पर अवलोकन करके ही तथ्यों की जानकारी प्राप्त की जाती हैं । व्यक्ति की सोच जब तक व्यवहार में लायी जाता है तब तक उनका अवलोकन भी सम्भव है । संस्थागत व्यवहार में स्थिरता एवं बदलाव दोनों सम्भव है । तथा दोनों का ही अवलोकन करके उपलब्ध तथ्यों का विश्लेषण किया जाता है । यह प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है । जिसे अवलोकन विधि मे ही प्रयुक्त किया जाता है ।

ब. प्रायोगिक विधि : - कॉम्ट यह मानते है कि यद्यपि भौतिकशास्त्र या रसायनशास्त्र की तरह सामाजिक प्रघटनाओं को प्रयोगशाला में ला कर उन पर विविध प्रयोग नही किये जा सकते फिर भी सम्पूर्ण समाज को ही एक प्रयोगशाला मान कर उसी में प्रायोगिक कारकों के प्रभाव का उन्हीं घटनाओं के परिवेश में अध्ययन किया जा सकता है । नियंत्रित एवं प्रायोगिक समूहों मे घटनाओं के प्रभावों को अवलोकित करके उनके तथ्यों से सामान्य कथन बनाये जा सकते है । प्रयोगों के आधार पर घटनाओं के कारणों एवं परिणामों को मालूम किया जा सकता है ।

स. तुलनात्मक पद्धति : - जब विविध घटनाओं / प्रघटनाओं की समानताओं एवं भिन्नताओं का विश्लेषण एक साथ किया जाता है तथा उनकी सापेक्षता को उजागर किया जाता है तो यह तुलनात्मक विधि कहलाती है । कॉम्ट इस प्रकार की पद्धति को अपनाते हुए तीन प्रकार की तुलनाएं प्रतिपादित की है: -

1. मानव एवं पशु समाजों को व्यवहारगत तुलनाओं एवं भिन्नताओं की तुलनाएं
2. वर्तमान समय के विविध मानव समाजों एवं समुदायों की व्यवस्थाओं एवं उनमें होने वाले परिवर्तन; के बीच की तुलनाएं अर्थात किन में कम और किन में अधिक सुदृढ़ व्यवस्था या बदलाव की परिस्थितियां
3. विकास के विविध चरणों / अवस्थाओं को लेकर समाजों के बीच तुलना उपर्युक्त तीनों प्रकार की तुलनाएं वैज्ञानिक विधि को अधिक सार्थक एवं प्रासंगिक बनाती है तथा समाज की जटिलताओं का विश्लेषण करती है ।

द. ऐतिहासिक विधि : - यह विधि समीक्षात्मक प्रकृति की है जिसमें समयावधि की गहराई मे किसी भी समाज में होने वाले परिवर्तनों को विश्लेषित किया जाता है । इस विधि में संकलित तथ्यों की वैधता एवं परिपूर्णता पर भी पूरा ध्यान दिया जाता है । समाज की गतिशीलताओं को इस के आधार पर ही जाना जा सकता है । यह विधि तुलनात्मक विधि की पूरक भी है । अगस्त कॉम्ट के बाद जितने भी सामाजिक विचारक हुए है

उनमें लगभग सभी ने इस विधि का प्रयोग समाजशास्त्रीय कोष को सम्पन्न बनाने में किया है ।

3.8 सामाजिक विज्ञानों की सार्थकता

कॉम्ट के तत्कालीन यूरोपीय समाजों में भी उस समय की सामाजिक संस्थाओं में तीव्रगामी परिवर्तन आ रहे थे । जहां एक और धर्म -गुरुओं एवं पादरियों / पुरोहितों से मार्गदर्शन प्राप्त करने वाले सम्राटों या तानाशाहों की सत्ता वाले समाज धीरे -धीरे विलुप्त होते जा रहे थे, वही दूसरी ओर औद्योगिक पूंजीवादी तथा वैज्ञानिकों / विद्वानों द्वारा दिशा निर्देशित प्रजातांत्रिक या समाजवादी समाजों का आविर्भाव होने लगा था । प्रगति की राह पर आगे बढ़ते समाज मे विज्ञान एवं व्यक्तिवाद का बोल -बाला बढ़ गया तथा सामाजिक ताने -बाने एवं नैतिक मूल्यों में गिरावट के साथ ही सामाजिक विघटन भी दिखाई देने लगा । धर्म की परंपरागत सत्ता भी कमजोर पड़ने लगी थी । कॉम्ट ने इसी संदर्भ में अपनी और से नये मानवतावादी धर्म के विकास की बात कही जो परंपरावादी धर्म से निरपेक्ष होकर नवीन परिप्रेक्ष्य मे उभरा था । इस सम्बन्ध में रेमण्ड ऐरन ने लिखा है : -

> *" अगस्ट कॉम्ट दो सामाजिक प्रकारों के बीच विरोध को महसूस करते थे जिनमें एक प्रकार का समाज था धर्मगुरु - संचालित एवं सैन्य शासित व्यवस्था का तथा दूसरा समाज था वैज्ञानिक -औद्योगिक व्यवस्था का इस विरोध में कॉम्ट ने वैज्ञानिक - औद्योगिक प्रकार के समाज की जीत की कामना की थी। यह जीत सुनिश्चित भी हुई किन्तु इसकी गतिशीलता अनिश्चित रही। कॉम्ट के अनुसार समाजशास्त्र की भूमिका समाज में इस व्यवस्था की स्थापना का मार्ग प्रशस्त करने में इतिहास की घटनाओं से सहायता लेते हुए उसकी अपारहीर्यता एवं अवश्यमभातिता सिद्ध करने में सार्थक होती है / "*

उक्त विचारों को अपनी दूसरी रचना मे भी उतना ही महत्व दिया तथा इतिहास की भूमिका का गहराई से उन्होंने अवलोकन किया । उनकी दोहरी भूमिका थी: एक और कॉम्ट एक श्रेष्ठ वैज्ञानिक बन कर समाज की व्यवस्था एवं बदलाव के सिद्धान्त निरूपित कर रहे थे तो दूसरी ओर वे समाज सुधारक बन कर समाज को बिखरने से बचा रहे थे, तथा समाज में नैतिक मूल्यों एवं मानवतावादी दृष्टिकोण से समाज को और रसातल मे जाने से भी बचा रहे थे । कॉम्ट ने अन्य विज्ञानों की तर्ज पर ही प्रत्यक्षकारी (वैज्ञानिक) उपागम से समाजशास्त्र को न केवल सिद्धान्त दिये बल्कि वह विधि भी दी जो उनके पहले तक के समाज वैज्ञानिकों ने विकसित ही नही की थी । उनके समाजशास्त्र का प्रारम्भ परम सत्य को जानने की जिज्ञासा के साथ हुआ था । फिर उन्होंने समाज के विस्तृत पहलुओं को जानने के लिये इतिहास के तथ्यों को देखा । कॉम्ट ने यह विचार भी माना कि हर मानव समाज उसके सदस्यों के मस्तिष्कों की सहमति के साधनों से संगठित होता है । कोई भी समाज तब तक ही अस्तित्व में रह पाता है जब तक कि उसके सदस्यों द्वारा समान विश्वासों - मूल्यों के प्रति सहभागीदारी दर्शाई जाती है । ऐसे दार्शनिक विचारों के साथ ही कॉम्ट ने निम्नलिखित तीन प्रमुख मुद्दों पर अपना सम्पूर्ण विश्लेषण प्रस्तुत करके समाजशास्त्र की सार्थकता सिद्ध की : -

1. आने वाले समय में औद्योगिक समाज ही सम्पूर्ण मानवता का समाज होगा । यद्यपि यह विचार कॉम्ट का सत्य सिद्ध नही हो पाया क्योंकि विश्व के कई समाज अभी तक औद्योगिक समाज नही बन पाये है ।
2. वैज्ञानिक सोच की द्विगुण सार्वभौमिकता का दूसरा मुद्दा कॉम्ट ने प्रस्तुत किया था । यह कहा जा सकता है कि गणित, भौतिकशास्त्र या फिर मेडिसिन आदि विज्ञानों में सार्वभौमिकता का गुण विद्यमान है क्योंकि इनके द्वारा निरूपित सिद्धान्तों को सम्पूर्ण पृथ्वी के किसी भी भाग पर तथा किसी भी प्रजाति पर लागू किया जा सकता है । यह प्रथम सार्वभौमिकता हुई । किन्तु द्विगुण सार्वभौमिकता की कल्पना अगस्त कॉम्ट ने समाज विज्ञानों के द्वारा राजनीति या धर्म अथवा सामाजिक प्रघटना को अध्ययन करने में प्रत्यक्षवादी उपागम को अधिक परिमार्जित करके लागू करने की प्रस्तुत की थी।
3. तीसरा मुद्दा कॉम्ट ने सिस्टम डी पोलिटिक पोजिटिव से सम्बन्धित उठाया था । जहां यह अहम प्रश्न रखा कि यदि मानव प्रकृति आधारभूत रूप से वैसी ही है जैसी प्राकृतिक घटनाएं और यदि सामाजिक व्यवस्था भी भौतिक रूप से वैसी ही है जैसी कि प्रकृति तो फिर विविधता का स्त्रोत क्या है? इसे उनकी व्यवस्था में कैसे सम्मिलित करके व्याख्या की जाय?

कॉम्ट के समकालीन समाज की सबसे बडी विशेषता यह थी कि पूर्ववर्ती राजशाही, धर्म, गुस्सों से प्रभावित तथा तानाशाही व्यवस्थाओं सें एक भिन्न औद्योगिक एवं वैज्ञानिक विचारधारा से युक्त सामाजिक व्यवस्था बनी जिसे प्रगतिशील या विकसित समाज माना गया । किन्तु इस समाज का नामकरण "औद्योगिक समाज" के रूप में ही अधिक प्रचलित हुआ जिसकी निम्न छ: विशेषताएँ रेमण्ड एरन ने गिनवाई है : -

1. इस समाज में नये -नये उद्योग धंधे, कल -कारखाने इस प्रकार विकसित हो गये कि उनके संचालन में तथा संगठन में श्रम की वैज्ञानिक दृष्टि से व्यवस्था की जाने लगी । परम्परागत उत्पादन व्यवस्था के स्थान पर अधिकतम संगठित उत्पादन होने लगा ।
2. श्रम के संगठन में विज्ञान के उपयोग करने से मानव अपनी पूंजी एवं संसाधनों का अतिशय विकास करने में संलग्न हो गया ।
3. अधिक से अधिक औद्योगिक उत्पादन होने से कारखानों एवं उपनगरीय क्षेत्रों मे श्रमिकों की आबादी अधिक बढ़ने लगी । इससे कामगार या मजदूर वर्गो की विशाल श्रेणी समाज मे उभरने लगी ।
4. औद्योगिक क्षेत्रों में मजदूर / कामगारों की संख्या में अतिशय वृद्धि से वहां लोगो में आपसी विरोध पनपने लगा । कभी प्रकट तो कभी अप्रकट रूप में नियोजनकर्ताओं एवं कामगारों मजदूरों एवं मालिकों (पूंजीपतियों) के बीच विरोध या संघर्ष पनपने लगा ।
5. औद्योगिक समाज में ज्यों -ज्यों पूंजी का केन्द्रीकरण होता है उसके साथ ही उत्पादन की अधिकता का संकट भी बढ़ जाता है । इसमें वैभव के अन्तर्गत ही समाज मे गरीबी भी दिखाई देने लगती है ।

6. औद्योगिक समाज के और विकसित हो जाने से स्वतंत्र कम्पनियों की संख्या में भी वृद्धि होती है तथा बाजार का निजीकरण हो जाता है ।

कॉम्ट ने उक्त छः विशेषताओं में से प्रथम तीन को तो माना किन्तु बाद की तीन विशेषताओं में समाज सुधार के माध्यम से उनमें बदलाव लाने की सैद्धान्तिक पेशकश भी की है । कॉम्ट स्वतंत्र बाजार की व्यवस्था के पोषक है तथा वे पूंजीवादी व्यवस्था को भी सही - सही स्वरूप में सम्पूर्ण समाज के विकास एवं प्रगति में सहायक मानते है । कॉम्ट ने नये औद्योगिक समाज को भी दो स्तरों में वर्गीकृत किया है आध्यात्मिक स्तर एवं लौकिक स्तर (spiritual order and temporal order) नया औद्योगिक समाज जिन दो स्तरों मे विभाजित है उनमें आध्यात्मिक स्तर का स्थान उंचा है तथा लौकिक स्तर का स्थान उसके बाद आता है । समाज को विघटन से बचाना है तो, एकीकरण एवं संगठन की प्रक्रियाओं में इस प्रकार व्यक्तियों को नियन्त्रित रखना कि वे समाज की सुदृढ़ता को चुनौती न दे तथा सामाजिक समरसता एवं सामंजस्यता को बढ़ाये । इस आध्यात्मिक व्यवस्था की कॉम्ट ने नई अवधारणा दी थी । यह कोई ज्ञानातीत अनुभवातीत अथवा दिव्य शक्ति की कोई व्यवस्था नही है जैसा कि धर्मगुरू प्रायः बताया करते है । यह कोई दूसरी दुनिया (स्वर्ग आदि) की व्यवस्था भी नही है ओर न यह अनादि या अनन्त प्रकृति की व्यवस्था हैं । कॉम्ट ने इसे इहलौकिक अर्थात इसी समाज एवं वर्तमान समय की ही ऐसी व्यवस्था बताया है जो नैतिक गुणों को पोषित करने वाली है जिसमें संपत्ति एवं सत्ता के संस्तरण को सुव्यवस्थित रूप से संचालित करने के मानदण्ड निर्धारित है । इस व्यवस्था में योग्यता या मैरिट को ही प्राथमिकता देते हुए मानव को अपने समाज की एकता एवं सुदृढ़ता को कायम करना चाहिये । औद्योगिक समाज मे इस व्यवस्था के संचालन का जिम्मा वैज्ञानिकों / बुद्धिजीवियों तथा पूंजीपतियों (उद्योग के व्यवस्थापकों / प्रबन्धकों) का बनता है जो त्याग की भावना के आधार एक सच्चे ट्रस्टी के रूप में भौतिक साधनों का संचालन / प्रबन्धक करे । औद्योगिक समाज व्यवस्था के लौकिक या ऐहिक स्तर पर वे सामान्य मजदूर कर्मचारी तथा मेहनतकश कृषक या लघु दुकानदार है जो अपने जीवन की आवश्यकताएं औद्योगिक उत्पादन से पूरी करने हेतु कार्यरत रहते है ।

कॉम्ट की मान्यता यह रही थी कि औद्योगिक समाज में युद्ध की भूमिका सार्थक नही रहती । युद्ध तो सम्राटों, तानाशाहों आदि ने अपने -अपने साम्राज्यों को विस्तार या सुरक्षा हेतु बार -बार खड़े हो । सम्पूर्ण समाज के लोगो के युद्धों के माध्यम से रोजगार मिल जाते थे । किन्तु अब औद्योगिक समाज जो सबसे पहले पश्चिमी यूरोप मे ही विकसित हुआ और जहां सम्राटशाही तानाशाही एवं पादरी, धर्म गुरूकी सत्ता समाप्त होने तथा वैज्ञानिकों एवं पूंजीपतियों की सत्ता विकसित हो जाने से उत्पादन व्यवस्था मजदूर एवं कामगारों, संचालकों, तकनीकियों आदि के द्वारा ही पूरी होने लगी । कॉम्ट ने संगठन को सुधारने पर सर्वाधिक बल दिया है । अब पादरी या धर्मगुरू / पुरोहित आदि की भूमिकाएं अप्रासंगिक एवं असार्थक बन गई तथा / विशेषज्ञ बुद्धिजीवियों एवं पूंजीपतियों की भूमिकाएँ सार्थक एवं महत्वपूर्ण बन गई थी ।

3.9 समाजशास्त्र एवं विज्ञानों का संश्लेषण

कॉम्ट के समक्ष यौवन काल से ही दो प्रमुख विचार रहे थे - एक, समाज का सुधार करना क्योंकि समाज विघटन की और अग्रसर हो रहा था इसलिए उसमें एकीकरण लाने के लिए कुछ सुधारात्मक प्रयास आवश्यक थे । दूसरा विचार, सभी वैज्ञानिक ज्ञान में एक संश्लेषण स्थापित करना जिसके आधार पर समाज के सभी पहलुओं को प्रत्यक्षवादी उपागम से अध्ययन करके सही -सही सिद्धान्त निरूपित किये जा सके । कॉम्ट ने समाज सुधार को तो वैज्ञानिक प्रगति का स्वत: परिणाम बताया जिसमें सामूहिक विचार के आधार पर धर्मशास्त्र तथा सामंतवादी विचारों को प्रत्यक्षवादी दृष्टिकोण के साथ जोड़ कर प्रस्तुत किया जाना होता है । यह बात साबित करने हेतु इतिहास की गहराई में भी जाना चाहिये । प्रगति के विचारों को प्रारम्भ से ही खोजना चाहिये ताकि वर्तमान समाज मे भी हम प्रगतिवादी विचारों को ही स्वीकार करें ।

कॉम्ट ने विज्ञान के बारे में भी कुछ मौलिक विचार प्रतिपादित किये । वे विज्ञान को कोई साहसिक या जोखिम भरा कार्य (एडवेन्चर) नही मानते है और न यह अनवरत तथा अंतहीन खोज है । उनके अनुसार विज्ञान तो किसी मत या सिद्धान्त का स्त्रोत है । कॉम्ट ने धार्मिक विचार धाराओं की इतिश्री करते हुए एक नवीन सत्य की ऐसी खोज करनी चाही जिस पर भी लोग विश्वास करे तथा उस सत्य को आगे झुठलाया न जा सके । उनकी यह मान्यता भी थी कि मानव शक करने वाला प्राणी नही है बल्कि वह तो विश्वास करने वाला व्यक्ति है जो यदि एक बार सही वैज्ञानिक सिद्धान्त जान लेता है तो उस पर हमेशा विश्वास करेगा ।

कॉम्ट ऐसा, भी मानते थे कि वैज्ञानिक सत्य उसके सिद्धान्तों के माध्यम से ही प्रकट होता है । ये सिद्धान्त व्यक्ति एवं समाज के बीच विविध प्रकार के सम्बन्धों, समाज की संस्थाओं, संस्थाओं में होने वाले सभी प्रकार के परिवर्तनों एवं बदलावों के कारणों, परिणामों एवं दशाओं एवं दिशाओं के बारे मे बनाये जाते है । सिद्धान्तों के बनाने के पहले प्रत्यक्षवादी उपागमों के द्वारा जटिल सामाजिक परिस्थितियों का गहन अध्ययन किया जाता है । संश्लेषण को यहां पर देखा जाता है कि जिसमें विविध विधियों का मिश्रण / संयोजन सरके सही -सही सामाजिक जानकारी कि हासिल करके सत्य सैद्धान्तिक व्याख्या की जाए । ऐसे सिद्धान्तों का फल मूलक महत्व भी होता है । कॉम्ट के विज्ञानों को दो रूपों में फलमूलक कहा जाता है -

(अ) यह विज्ञान ही वह स्त्रोत है जो अवश्यंभावी परिणामों के रूप में कई तकनीकी हल उपलब्ध कराता है ।

(ब) यह इस कारण भी फलमूलक है क्योंकि इसका शैक्षिक मूल्य है जो कि हमारे ज्ञान अथवा चेतना से सीधा सम्बन्ध रखता है । विज्ञान द्वारा प्रस्तुत संचित ज्ञान से ही समाज में लोगों की चेतना एवं समझ का एक स्तर बनता है तथा वह व्यवस्थित एवं उचित स्वरूप में रहती है । समाजशास्त्र एवं नीतिशास्त्र का भी कॉम्ट ने ऐसा संश्लेषण प्रस्तुत किया था जिसमें दर्शन एवं विज्ञान दोनों की अवधारणाओं का उचित मेल स्थापित किया । क्योंकि कॉम्ट का विज्ञान किसी परिस्थिति की अंतिम व्याख्या प्रस्तुत नहीं करता है तथा केवल कारणों को ही जानने का भी दम नहीं भरता है । यह विज्ञान

इस संसार में जो व्यवस्था स्थापित है उसे अवलोकित करके संतुष्ट दिखाई देता है । कॉम्ट ने यह स्वीकार किया कि अन्य सभी प्राकृतिक विज्ञान निरर्थक साबित होंगे यदि समाज और उसकी व्यवस्था को प्रत्यक्षवादी उपागम से वास्तविक रूप से अध्ययन नहीं किया जाए । इसी कारण उन्होंने समाजशास्त्र एवं नीतिशास्त्र जैसे विषयों की प्राकृतिक विज्ञानों की तर्ज पर ही स्थापना करके उन्हें गंभीर वैज्ञानिक विषय बनाकर सभी विज्ञानों में सर्वोच्च स्थान पर आसीन किया ।

जब कॉम्ट ने सभी विज्ञानों की पद्धतियों एवं परिणामों को संगठित एवं संश्लेषित करने का सफल प्रयास किया तो उन्होंने यह पाया कि वास्तविकता की एक संरचना ऐसी भी होती है जो मानव की समझ को जानने के लिये आवश्यक है । समाजों को समाजशास्त्री समझ पाये इसके लिये भी यह जरूरी है । ऐसा प्राय: पाया गया है कि व्यक्ति एवं समाज की क्रियाओं, परिस्थितियों एवं घटनाओं की दो श्रेणियों होती है: एक निकृष्ट एवं दूसरी उत्कृष्ट इन परिस्थितियों की इस संस्तरण -व्यवस्था को एक सामान्य तथ्य से संचालित देखा गया है कि जो निकृष्ट परिस्थितियां है वे कभी भी उत्कृष्ट परिस्थितियों को निर्धारित नहीं कर सकती है । प्रकृति में भी यही संस्तरण विद्यमान है जिसमें सरल से जटिलता की ओर विविध कारक जुड़े हुए है तथा अजैव से जैव की ओर; एवं अंत में जीवन एवं मानव जीवन की जटिलता की ओर संस्तरण का उत्कर्ष देखा जा सकता ।

कॉम्ट ने जो योगदान विज्ञानों के वर्गीकरण एवं संस्तरण को लेकर दिया है वह वास्तव में ज्ञान के समाजशास्त्र मे सम्मिलित किया जा सकता है । मानव चेतना एवं ज्ञान के विविध आयामों का सच्चा एवं सही -सही अनुशीलन एवं अध्ययन यदि अवलोकन विश्लेषण एवं व्यापक समाज के आधार पर किया जाए तो उसके द्वारा सम्पूर्ण इतिहास के दौरान जो भी उत्पादन व्यवस्था बनती है उसकी सम्पूर्ण व्याख्या हो जायेगी । हर युग एवं काल में रहने वाला विद्वान उस काल की परिस्थितियों से भी प्रभावित होता है । व्यक्ति चाहे वह बुद्धिजीवी हो या उद्योगपति अथवा सामान्य उसमें धर्म के प्रति आस्था अवश्य रहती है । यही धर्म नैतिकता एवं नीतिशास्त्र को भी जन्म देता है । औद्योगिक समाज में धर्मगुरुओं एवं पादरियों का स्थान बुद्धिजीवियों, उद्योगपतियों एवं वैज्ञानिकों को आदि ने ले लिया है । अब धर्म भी मानवीय धर्म के नाम से संचालित होने लगा है जिससे समाज अधिक सुदृढ़, सामंजस्य एवं एकीकृत बनता जा रहा है ।

3.10 सामाजिक स्थितिकी एवं गतिकी का समाजशास्त्र

सामाजिक विज्ञानों की स्थापना के उपरान्त अगस्त कॉम्ट ने समाज के दो परस्पर सम्बन्धित एवं पूरक आयामों की सैद्धान्तिक व्याख्या इस प्रकार की कि वे सम्मिलित होते हुए भी अलग सैद्धान्तिक एवं अवधारणात्मक स्वरूप में दिखाई देने लगे । सम्पूर्ण मानव समाज एक ही समय में और एक ही परिस्थिति में दो आयामों से परिपूर्ण है व्यवस्था एवं प्रगति । समाज की व्यवस्था के अन्तर्गत समाज में स्थाई संस्थागत सामंजस्यता एवं समरसता पाई जाती है जिसमें विविध परिस्थितियां एक -दूसरे को बल प्रदान करते हुए सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था को अस्तित्व में बनाये रखती है । यही स्थिरता जब समाजशास्त्रीय विश्लेषण का मुद्दा बनती है तो

'स्थितिकी ' कहलाती है । जबकि दूसरी और इसी समाज में निरन्तर सामाजिक विकास या प्रगति भी होती रहती है और समाज आगे की ओर विकसित अवस्था में गति करता रहता है । इसी का अध्ययन / व्याख्या करने पर इसे 'गतिकी" कहा जाता है । कॉम्ट ने सामाजिक स्थितिकी में जिन सामाजिक संस्थाओं को विस्तार से अध्ययन के लिये चुना उनमें परिवार संस्था को समाज की प्रारंभिक इकाई के रूप में बताया गया है । समाज का वैज्ञानिक विधि से अध्ययन करने में व्यक्ति को आधार इकाई न मानकर परिवार को ही इसकी मौलिक इकाई माना है । कोई भी समाज व्यक्तियों से नहीं बल्कि परिवार एवं अन्य संस्थागत इकाईयों से ही बनता है और उसी का वैज्ञानिक विधि से अध्ययन संभव है । परिवार के कारण ही व्यक्ति समाज में अन्य लोगों के साथ रहना एवं अपने आपको नियंत्रित करना सीखता है । परिवार के अलावा अन्य संस्थाओं में संगठन, समुदाय, गांव, नगर, धर्म, शिक्षा, सत्ता आदि सम्मिलित है जो व्यक्ति के व्यवहार को सामाजिक अस्तित्व प्रदान करती है । कॉम्ट ने लिखा है कि - 'परिवार से जनजातियाँ / जातियाँ बनती हैं और फिर जनजातियों और जातियों से ही राष्ट्र निर्माण होते है । परिवारों से ही नातेदारी या सगे सम्बन्धियों के विस्तृत समूह बनते है । भारत में जाति को "विस्तृत परिवार" भी कहा जाता है । समाज की सामूहिक जैविकीय व्यवस्था में परिवार ही केन्द्रक है समाज रूपी जैविकीय को कॉम्ट ऐसा मानते है, कि इसे अध्यात्मिक बन्धनों से जोड़ा रखा जा सकता है जिसमें मानवीय मूल्य एवं नैतिकताएं सम्मिलित हैं । इसके लिये कॉम्ट ने भाषा एवं धर्म को विशेष महत्व दिया है जिनसे समाज एकीकृत एवं संगठित बना रहता है । भाषा एक ऐसा पात्र है जिसमें पूर्व पीढ़ियों के विचारों एवं हमारे पूर्वजों की संस्कृति संग्रहीत रहती है तथा उसे वर्तमान पीढ़ी के लोग सीखकर एक दूसरे से जुड़ते है । समाज में व्यक्ति तो जन्म लेते है और मरते है किन्तु भाषा एवं संस्कृति (धर्म) निरन्तर बने रहते हैं तथा इनसे समाज सुदृढ़ रहता है । हर मानव समूह की सामान्य भाषा एवं संस्कृति होती है जो उन्हें जीवन प्रदान करती है । धर्म भी संस्कृति का ही अंग है ।

भाषा एवं धर्म के अलावा समाज में लोगों के बीच श्रम -विभाग के प्रतिमानों से भी लोग एक -दूसरे से जुड़ते है । हर व्यक्ति को उसकी हैसियत, योग्यता, क्षमता, उम्र, लिंग आदि के आधार पर कार्य, कर्म, व्यवसाय का बंटवारा होता है और उसे स्वीकार भी किया जाता है । यह अन्तिम कारक ऐसा है जिसमें विकास तथा प्रगति के संकेत आसानी से मिलते है । प्रारंभ में सरल श्रम -विभाजन था बाद में धीरे -धीरे उसमें जटिलता आती गई । वर्तमान औद्योगिक एवं पूंजीवादी सामाजिक व्यवस्था में श्रम विभाजन का स्वरूप भी अति जटित हो गया तथा उसमें विशिष्टताएं बहुत अधिक आ गई है । उपर्युक्त तीनों संस्थाओं तथा अन्य सहयोगी संस्थाओं से समाज की स्थिरताएं निर्धारित होती हैं तथा उनके अध्ययन को स्थितिकी कहा गया है । इस दृष्टि से यह सामाजिक व्यवस्था की प्रकार्यात्मक व्याख्या का प्रारंभिक स्वरूप कहा जा सकता है इन संस्थागत व्यवस्थाओं में जो भी विकास एवं प्रगति समयान्तरण मे देखी जाती है उसका अध्ययन करने की विधा को 'गतिकी" कहा जाता है । यह गतिकी पहलू पूर्व के स्थैतिकी पहलू से पूर्ण रूप से सम्बन्धित एवं सापेक्ष है । प्रगति और उदविकास तो प्रकृति का स्वत: नियम है और उसका अनुसंधान एवं विश्लेषण भी उतना ही आवश्यक है ।

3.11 सारांश

कॉम्ट के मस्तिष्क का बहुत क्रियाशील होने का परिणाम यह था फिर वे समाजशास्त्र जैसे जटिल एवं सर्वोच्च स्तर का प्रत्यक्षवादी विज्ञान विकसित कर पाये । कॉम्ट ने पेरिस (फ्रांस) के उच्च स्तरीय बौद्धिक एवं राजनैतिक केन्द्रों पर अपने ज्ञान एवं अनुभव को विकसित किया तथा सेन्ट साइमन, मेस्ट्रे एवं कोन्डोर्सेट जैसे विद्वानों की संगत से ऐसी विद्वता पाई कि विज्ञानों के वर्गीकरण, संस्तरण एवं ज्ञान के विज्ञान के स्तरों को समाजों की प्रकृति के साथ उचित ढंग से जोड़ कर व्याख्या करने में सफल हुए । कॉम्ट की समकालीन आर्थिक, राजनैतिक एवं सामाजिक उथल -पुथल ने ऐसी अराजकता की स्थिति बना दी थी कि समाज का विघटन होता हुआ दिखाई दे रहा था। कॉम्ट उसी अराजकता एवं विघटन में एक पहलू सामाजिक प्रगति एवं विकास का भी खोज रहे थे । दूसरी ओर समाज मानवीयता एवं नैतिकता के धर्मनिरपेक्षी मूल्यों की महत्ता स्थापित करते हुए समाज को पुन: संगठित, व्यवस्थित एवं समरसतापूर्ण देखना चाहते थे ।

कॉम्ट की शैक्षिक उपलब्धियों एवं उनकी अकादमिक ख्याति उनके जीवन में सीमान्त अवस्था में ही रही । सामाजिक विज्ञानों तथा विशेषकर समाजशास्त्र को विज्ञान के समकक्ष स्थापित करने का उनका प्रयास सराहनीय था । समाज की जो परिस्थितियाँ, व्यवस्था एवं विकास या प्रगति की आज के लगभग दो शताब्दी पूर्व कॉम्ट के सामने थी तथा व्यक्तिवाद एवं उपभोक्तावाद के बढ़ने से समाज का ताना -बाना कमजोर पड़ा था, वैसी परिस्थितियों आज भी विश्व समाज के समक्ष और अधिक जटिल रूप से खड़ी हैं । वर्तमान समय में भी समाज को जोड़ने तथा मानवीय मूल्यों पर अघटित मानव धर्म की विकसित करने की आवश्यकता है क्योंकि संसार में आतंकवाद, भ्रष्टाचार, अस्थिरता, युद्ध की अशांति, हिंसा, अपराध आदि की घटनाएँ निरन्तर बढ़ रही है । विज्ञानों में भी अनुसंधानों के माध्यम नई -नई ज्ञान की शाखाएं विकसित करके सामाजिक जटिलताओं के सिद्धान्त निरूपित हैं । किन्तु एक ऐसे समाजशास्त्र की रचना की अभी आवश्यकता है जो सामाजिक वास्तविकता को सही -सही समझ कर उसका अनुशीलन / अध्ययन प्रस्तुत करे । अगली इकाई में हम अगस्त कॉम्ट द्वारा प्रतिपादित ज्ञान के विकास के स्तरों की विवेचना करेंगे । विज्ञानों के उद्देश्य एवं प्रकृति को मानव भावनाओं, संवेदनाओं, नैतिक मूल्यों से संवर्धन एवं संचालन करने हेतु उन्होंने विज्ञानों को मात्र साधन बना कर मानवीय गुणों के संवर्धन के लिये जो सूत्र दिया जिसमें भावनाएं, क्रिया एवं बुद्धि का उचित योग बताया गया है - "मानव धर्म"

3.12 बोध प्रश्न

1. अगस्ट कॉम्ट द्वारा प्रस्तुत विज्ञानों के वर्गीकरण की विवेचना की कीजिये
2. अगस्ट कॉम्ट ने विज्ञानों के संस्तरण की क्या व्यवस्था बताई है उसमें समाजशास्त्र का स्थान क्या है? स्पष्ट कीजिये ।
3. विज्ञानों के वर्गीकरण एवं संस्तरण पर कॉम्ट के विचारों का विश्लेषण कीजिए ।
4. टिप्पणियां लिखिये :

3.13 संदर्भ ग्रंथ

- Adams, Bert N. and RA. Sydie 2001. Sociological Theory New Delhi: Visterpub.
- Aron, Raymond. 1973. Main currents in sociological thought from Comte to Sorokin, Delhi: Macmillan India.
- Abraham, Francis and john henry Morgan. 1985. Sociological through from Comte to Sorokin, Delhi: Macmillan Indian.
- Coser, Lewis a. 1996. Masters of sociological Thought Jaipur: Rawat Pub.
- Zeitilin, I.M. 1969. Ideology and the development of sociological theory. New Delhi: prentice hall.
- Doshi, SL. 2007. Adhunik Samajshastriya Vicharak (In Hindi), Jaipur: Rawat Pub

इकाई -4

अगस्ट कॉम्ट : ज्ञान के विकास के स्तर

इकाई की रूपरेखा :

4.1 उद्देश्य

4.2 प्रस्तावना

4.3 ज्ञान एवं समाज का उद्‌विकास

4.4 मानव ज्ञान की प्रकृति

4.5 ज्ञान के विकास के स्तर

4.5.1 धर्मतात्विक या धर्मविज्ञान का स्तर (Theological Stage)

4.5.2 तात्विक -विश्लेषण का स्तर (Metaphysical Stage)

4.5.3 प्रत्यक्षवादी या वैज्ञानिक स्तर (Positivistic Stage)

4.6 ज्ञान के स्तर एवं सामाजिक संगठन

4.7 समाजशास्त्रीय ज्ञान की प्रगति

4.8 सारांश

4.9 बोध प्रश्न

4.10 संदर्भ ग्रंथ

4.1 उद्देश्य

इस इकाई के पश्चात् आप -

- मानव समाज का क्रमिक विकास के बारे में समझ सकेंगे ।
- मानव प्रकृति एवं ज्ञान के स्वरूप
- ज्ञान के विकास के स्तर धर्मदर्शन (ब्रह्मा विज्ञान)
- तत्व दर्शन (तात्विक विवेचन)
- प्रत्यक्षवाद या वैज्ञानिक ज्ञान का स्तर
- सामाजिक संगठन एवं ज्ञान के स्तर

4.2 प्रस्तावना

गत चौथी इकाई में अगस्ट कॉम्ट के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डालते हुए उनके द्‌वारा प्रतिपादित विज्ञानों के वर्गीकरण एवं संस्तरण पर विस्तृत विश्लेषण में ज्ञान के विविध स्वरूपों को विज्ञानों की श्रेणियों के रूप में विकसित मानकर उनकी व्याख्या की गई है । अब इस इकाई में हम ज्ञान के विकास के स्तरों की विवेचना करेंगे । इसके द्‌वारा हमें यह जानकारी होगी कि मानव मस्तिष्क की प्रकृति, उसका क्रमिक विकास तथा समाज की संगठनात्मक विविधता एक दूसरे से किस प्रकार सम्बन्धित हैं । अब तक हम जान चुके हैं कि वर्तमान समय में विश्व समाज औद्‌योगिक, वैज्ञानिक, तकनीकी ज्ञानयुक्त समाज है जो लगभग दो शताब्दी पूर्व के अगस्त कॉम्ट के समकालीन औद्‌योगिक पूंजीवादी समाज से ही अधिक

विकसित अवस्था में पहुंचा हुआ है । कॉम्ट ने उनके पूर्ववती सामाजिक चिन्तकों से प्रभावित हो कर ज्ञान के निरूपण, स्तर प्रकृति आदि की व्याख्या सामाजिक परिवेश के संदर्भ में की थी । समाज 'शनैः -शनैः' प्रगति करके अपना स्वरूप बदलता रहा है । उसी प्रकार ज्ञान ने भी अपने स्तरों में निरन्तर विकास किया है । इसी : समाज एवं ज्ञान के विकास स्तरों को यहां विस्तार से समझाया जा रहा है । पहले हमें समाज एवं ज्ञान की उदविकासीय प्रकृति को समझ लेना चाहिए ।

4.3 ज्ञान एवं समाज का उद्‌विकास

उद्‌विकासीय सिद्धान्त के अनुसार सभी जैव व्यवस्था एवं मानव समाज जो जैविकीय के समकक्ष ही मानी जाती है, उद्‌विकास की प्रक्रिया से गुजरे है । इसमें इनका सरल व्यवस्था से जटिलता की ओर उत्तरोतर चरणों में निरन्तर विकास हुआ है । प्राणी जगत में सबसे पहले पृथ्वी पर एक कोशीय जीव पैदा हुए और बाद में बहु -कोशीय जीव उत्पन्न हुए, जो विकास क्रम मे आगे बढ़ते -बढ़ते जटिल से जटिल बहुकोशीय मानव शरीर की व्यवस्था बनी । उस मानव शरीर में भी मस्तिष्क और उसके बोध ज्ञान की अवस्थाओं का भी क्रमिक विकास हुआ है । इस विकास यात्रा की अवधि करोड़ों वर्षा की रही है । वे ही प्राणी इस पृथ्वी पर अस्तित्व में रह सके जो संघर्ष में अपने आपको बचा पाये। इसी प्रकार मानव, समाज भी सरल अवस्थाओं की ओर से जटिल व्यवस्थाओं की ओर क्रमिक विकास करते हुए निरन्तर बदलते रहे है । उद्‌विकास एवं प्रगति के सिद्धान्त के प्रतिपादन में कॉम्ट ऐसा मानते थे कि बौद्धिक विकास के साथ -साथ ही श्रम विभाजन एवं जनसंख्या वृद्धि भी बढ़ते चले गये । ऐसा भी विश्वास व्यक्त किया गया कि मानव मस्तिष्क एवं व्यक्ति का बोध -ज्ञान साथ -साथ ही विकसित हुए है तथा इनमें निरन्तर प्रगति भी होती रही -है । अर्थात विविध प्रजातियों का क्रमिक विकास होने के साथ समष्टि विकास (Phylogem) होता चला गया और उसी क्रम में ही व्यष्टि विकास (Ontogeny) की अवस्थाएं भी प्रकट हुई । इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत मस्तिष्क, मानव क्रिया, एवं समाज ऐसी ऐतिहासिक उदविकासीय प्रक्रिया की क्रमिक अवस्थाओं से गुजरते है कि वे धीरे -धीरे अंतिम पूर्णता की स्थिति तक पहुंच जाते है । हम अनुभव करते है कि बालक के जन्म के समय वह एक शिशु के रूप में आता है धीरे -धीरे किशोर अवस्था और फिर युवावस्था में होते हुए वृद्ध होता है । इसमें उसके शरीर, मन, बुद्धि आदि का क्रमिक विकास होता है । इसी प्रकार मानव समाज एवं ज्ञान भी विकास क्रम से गुजरते है ।

4.4 मानव ज्ञान की प्रकृति एवं प्रकार

मानव एक ऐसा बोध ज्ञान युक्त प्राणी है जिसमें तान प्रमुख गुण बताए गये हैं - संवेदनशील (भावुक), क्रियाशील (सक्रिय) एवं बोधज्ञान शुद्धि) मानव की एक अहम विशेषता यह है कि वह निरन्तर एवं सदा से क्रियाशील, रचनाधर्मी तथा सर्जनकार रहा है । इन क्रियाओं, रचनाओं आदि मे व्यक्ति अपनी बुद्धि या ज्ञान का प्रयोग कम बल्कि भावना या मनोभाव अथवा संवेदनशीलता का प्रयोग अधिक करता है । अमूर्त विचार या ज्ञान के तर्क कभी भी किसी क्रिया

या रचना का निर्धारण नही करते है, बल्कि उसकी प्रेरक एवं निर्धारक तो भावनाएं ही होती है । यद्यपि भावना या संवेदना हमेशा दिल या हृदय से प्रस्फुटित होती है जिन्हें उचित अभिव्यक्ति का स्वरूप पहनाने के लिये ज्ञान या विचार भी आते हैं । इस बात को कॉम्ट ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है -

"मानव को अपनी भावना / संवेदना से क्रिया या व्यवहार करना होता है तथा उस क्रिया को सम्पन्न करने हेतु उसे मन - मस्तिष्क से सोचना भी पड़ता है।"

यद्यपि कई विद्वानों / इतिहासकारों ने मानव व्यवहार के लिये बुद्धि या ज्ञान को जिम्मेदार या प्रभावशाली कारक बताया किन्तु कॉम्ट उनके विचारों से सहमत नहीं हैं । कॉम्ट के अनुसार किसी भी मानसिक आवेग या मनोवेग के लिये व्यक्ति के मनोभाव या संवेग ही उसके स्त्रोत होते हैं । मानवता की आत्मा भी हमेशा इन्हीं मनोभावों से जुड़ी होती है और यही मनोभाव व्यक्ति की क्रिया के सूक्ष्म केन्द्र होते हैं । इस दृष्टि से व्यक्ति का बोधज्ञान तो उसके व्यवहार एवं क्रिया को केवल मात्र निर्देशित या नियंत्रित ही कर पाता है: उनका प्रारंभ तो संवेग या मनोभावों के द्वारा ही होता है। इसका कतई यह अर्थ भी नहीं है कि कॉम्ट ने ज्ञान का महत्व कम बताया है। एक तरफ व्यक्ति की श्रेष्ठता है ज्ञान की प्रतीक है ओर दूसरी तरफ उसकी ताकत या शक्ति है जो उसके संवेग एवं मनोभाव से स्फुटित होती है । दोनों मे विपरीत सम्बन्ध बताया गया है । जहां श्रेष्ठता या ज्ञानशक्ति अधिक है वहां ताकत या शारीरिक शक्ति कम विद्यमान है । क्योंकि जो सर्वश्रेष्ठ होता है वह सबसे कमजोर दिखाई देता हैं किन्तु ज्ञान यदि क्रिया का स्त्रोत नहीं भी है तो भी उसकी महिमा कम नहीं है क्योंकि ज्ञान अपने आप में शक्ति न होते हुए भी वह स्वयं श्रेष्ठता की कसौटी तो है ही ।

कॉम्ट ने अपनी विवेचना में यह भी स्पष्ट किया है कि व्यक्ति के मस्तिष्क के अग्र भाग (भाल) में ही ज्ञान अवस्थित है । इसी कारण वह ज्ञान व्यक्ति के अवबोधन अथवा अनुभूति के अंगों के साथ सीधे सम्पर्क में रहता है । ज्ञान के पीछे अवस्थित है व्यक्ति के मनोभावों का केन्द्र, जहां से क्रिया का सक्रिय अंगों में गति देने हेतु उनसे सीधा सम्पर्क रहता है ।

मानव प्राणी की संवेदनशीलता (मनोभाव), क्रियाशीलता एवं बोधज्ञान के भी कई उप प्रकार बताये गये हैं । इन उप प्रकारों की विवेचना करना भी यहां उचित होगा । सबसे पहले मनोभाव के प्रकारों को देखें । ये दो प्रकार के है: अहम्वादी मनोभाव एवं परमार्थवादी मनोभाव । अहम्वादी मनोभावों मे भी कुछ और भिन्नताएं स्वास्थ्य, यौन एवं प्रवृत्ति -मूलक मनोवेगों की होती है । इनके अलावा भी इनमें कुछ मनोभाव अहम्वादी होते हुए भी अन्य से सम्बन्धित भी होते है । जैसे, मिलीटरी एवं औद्योगिक मनोभाव अहमवादी होते हुए भी लोगों की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति में सक्रिय बनते है । मिलिटरी मनोभाविक प्रवृत्तियाँ लोगों की बाधाएं दूर करने में प्रेरणाएं प्रदान करती है तो औद्योगिक प्रवृत्तियों से लोगों की विविध भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु वस्तुओं के उत्पादन में प्रेरणाएं मिलती है । इनके साथ ही कॉम्ट ने दो और प्रकार की अहम्वादी प्रवृत्तियाँ बनाई है - आत्मगौरव (pride) एवं मिथ्या अभिमान (vanity) की भावना से व्यक्ति अपनी प्रभुता को लोगों पर कायम रखने वे लिये अभिप्रेरित

होता है तथा मिथ्या -अभियान के द्वारा अन्य लोगों से अपनी महिमा गाज करवाने के लिये लालायित रहता है ।

परमार्थवादी मनोभाव भी तीन प्रकार के बताये गये है: - मित्रता, श्रद्धा एवं दया । मित्रता के मनोभाव में अन्य लोगों के प्रति सद्भाव एवं बराबरी के स्तर पर रहते हुए उनकी सहायता करना या उनको सहयोग देने की प्रेरणाएं सम्मिलित हैं । श्रद्धा भाव के अन्तर्गत अपने वृद्धजनों, गुरुजनों एवं पितृजनों के प्रति सम्मान, विनम्रता एवं उनकी आज्ञा का पालन करने की प्रेरणाएं आती हैं । दया भाव की दृष्टि से अपनी क्षमता अनुसार सहायता करना अभिप्रेरित होता है । इन मनोभाव को मानवतावादी धर्म के विकास एवं संस्थापना के लिये अधिक उपयोगी बताया गया है ।

बोधज्ञान को व्यक्ति की सामान्य समझ के संदर्भ में समझा गया है जिससे उसकी चेतना का स्तर निर्धारित होता है । यह बोधज्ञान भी दो प्रकार का बताया गया है - सामान्य समझ (understanding) एवं अभिव्यक्ति (expression) । समझ के भी दो प्रकार बताए गये है: कर्ताप्रधान (Active) एवं कर्मप्रधान (Passive) । कर्मप्रधान समझ तो प्राय: अमूर्त अथवा स्थूल स्वरूप की हो सकती है, किन्तु कर्ताप्रधान समझ हमेशा व्यवहार या क्रिया के लिये प्रेरकमूलक या परिणाम मूलक होगी । व्यक्ति की अभिव्यक्ति से ही उसके विविध कर्म या क्रियाएं सम्पन्न होती है ये क्रियाएं जो भी तीन प्रकार की बताई गई है: साहसिक क्रिया, निष्पादन की विवेकशीलता एवं क्रिया संपादन की स्पष्टता। उक्त सभी को एक साथ सारणी - 1 में प्रस्तुत किया गया है ।

सारणी - 1

मानव की प्रकृति के तीन आधार

मनोभाव / मनोवेग		**व्यवहार क्रिया**	**बोधज्ञान**
अहम् चेतना स्वास्थ्य,योनप्रवृतिमूलक, मिलिटरी औद्योगिक मनोभाव आत्म गौरव, मिथ्याभिमान	परमार्थवादी चेतना मित्रता श्रद्धा दयाभाव	साहसिक क्रिया निष्पादन की विवेकशीलता सम्पादन की स्पष्टता	समझ कर्म -प्रधान एवं कर्ता प्रधान

कॉम्ट के अनुसार मानव ने निरन्तर अपने ज्ञान के क्रमिक विकास मे परमार्थवादी क्रियाओं में अपने आपको लगाना सीखा हैं । व्यक्ति हमेशा अपने बोधज्ञान को पथप्रदर्शक के रूप में ही प्रयुक्त करता है । यह बोध ज्ञान उसे मार्गदर्शन तो देता ही है, साथ ही उसकी क्रियाओं पर नियंत्रण करने में भी प्रेरित करता है । मानव समाज के विकास के प्रारंभिक चरण में व्यक्ति की बुद्धि या विवेक से इतना नियंत्रण नहीं हो पाता था जितना कि वर्तमान समय में । इसका कारण यह है कि ज्ञान के स्तरों में भी पहले विकास नहीं हुआ था । अधिकांश रूप से व्यक्ति अपने मनोवेगों पर ही निर्भर था। उसका प्रत्यक्षवादी या वैज्ञानिक ज्ञान तो धीरे -धीरे कालान्तर में अन्य लोगों के साथ व्यवहार करने एवं स्वयं के अनुभव एवं अनुभूतियों में ज्ञान के परिमार्जन से ही विकसित हुआ है । बाह्य चुनौतियों का मुकाबला करते -करते व्यक्ति ने

नई -नई तकनीकियों को इजात किया एवं ज्ञान का संचित एवं व्यवस्थित भण्डार ही विज्ञान बना । ये ही ज्ञान के विकास स्तर कहलाते है जिनकी विस्तार से व्याख्या आगे की जा रही है।

4.5 ज्ञान के विकास के स्तर

कॉम्ट ने क्रमिकता के सिद्धान्त के आधार पर ही मानव ज्ञान एवं मानव समाजों के क्रमिक विकास के तीन स्तरों का प्रतिपादन किया है । आदिकाल में मानव समाज का प्रारंभिक विकास हुआ तब संस्कृति के नाम पर केवल लोगों की बोली, संकेत, प्रतीक, विश्वास एवं पारिवारिक परिवेश ही था ।

धर्म के नाम पर जीववाद या वस्तु -पूजा में लोगों के विश्वास एवं संस्कार ऐसे थे कि कोई पशु, पेड़, चट्टान आदि की पूजा -अर्चना की जाती थी । फिर धीरे -धीरे तर्कसंगत के आधार पर विवेचनाएं होने लगी और समाज में ज्ञान का उदय होने लगा । बाद मे विज्ञान और तकनीकी के नये -नये स्वरूप आ जाने से समाज के स्वरूप भी बदलने लगे । आदिकाल से कॉम्ट के समकालीन समाज तक ज्ञान के विकास की कई अवस्थाएं देखी गई । किन्तु उन्हें मोटे तौर पर तीन स्तरों में क्रमिक रूप से अवतरित होते हुए देखा गया है: -

1. धर्मशास्त्रीय या धर्मतात्विक स्तर (Theological Stage)
2. तत्व -मीमांशीय या तात्विक स्तर (Metaphysical Stage)
3. प्रत्यक्षवादी या वैज्ञानिक स्तर (Positivistic Stage)

उपर्युक्त तीन अवस्थाओं में पहली अवस्था सबसे पहले रही जिस स्तर पर मानव समाज विकास की सीढ़ी के प्रारंभिक पायदान पर अवस्थित था । दूसरा स्तर मध्यकालीन कहलाता है जो पश्चिमी जगत में इसाई धर्म के अभ्युत्थान के साथ आया और भारत में वैयक्तिक समय में या पौराणिक काल में तात्विक विवेचना गीता या रामायण काल में जो ज्ञान की अवस्था थी उसे तात्विक ज्ञान का स्तर माना जा सकता है । तीसरी अवस्था वैज्ञानिक स्तर की है जो ज्ञार्नाजन के बाद नवीन वैज्ञानिक खोजों से ज्ञान का नया स्वरूप विकसित होने से बनी है । इन्हीं तीनों अवस्थाओं की विस्तृत व्याख्या आगे की जा रही है ।

4.5.1 धर्मशास्त्रीय स्तर

यह मानव मस्तिष्क के बोधज्ञान की प्रारंभिक अवस्था थी । इसमें मानव या समाज की उत्पत्ति, रचना, भरण -पोषण, सुरक्षा एवं अन्त में संहार आदि सभी के लिये ईश्वरीय शक्तियों को ही जिम्मेदार माना जाता था । सम्पूर्ण जड़ -चेतन वस्तुओं में ईश्वरीय शक्ति की उपस्थिति भी मानी जाती थी । पूरी प्रकृति ईश्वरीय देन मानी जाती थी । जब ऐसा कहा जाय कि "ईश्वर की इच्छा के बिना किसी पेड़ का एक पत्ता भी नहीं हिलता और एक तिनका भी किसी शक्ति के द्वारा न हटाया जा सकता और न जलाया सकता' ' तो यह धर्मशास्त्रीय मान्यता - ही कही जायेगी । इसमें किसी प्रमाण या सबूत साक्ष्य की कोई दरकार नहीं होती है। सभी मान्यताएं स्वयंसिद्ध कथनों पर ही टिकी होती है । यदि प्रमाण दिया भी जाता है तो दिव्य - वाणी या ईश्वरी वाणी जैसे बाड़ बिल, कुरान, गीता/भागवत आदि ग्रंथों से ही उदधृत

किया जाता है । मानव शरीर को ईश्वरीय रचनाओं में श्रेष्ठतम कृति माना गया तथा मस्तिष्क में जो बोधज्ञान है वही ईश्वरीय तत्व की उपस्थिति मान लिया गया ।

इस धर्मशास्त्रीय स्तर में जो ज्ञान की अवस्था थी वह सरल एवं सीधे तौर पर मनोभावों या भावनाओं से ही प्रभावित थी । इनमें भी अदृश्य शक्ति के प्रति भय एवं वस्तुपूजा, जीव पूजा, जीववाद आदि की धारणाएं प्रचलित थी । इन विचारों को फैलाने वाले, इनकी रचना करने वाले तथा इनमें निरन्तर नया रूप देने वाले विशिष्ट लोगों में ओझा, जादूगर, भोपा, पुजारी, फादर, पादरी, पुरोहित, धर्मगुरू, संत आदि के नाम लिये जा सकते है । पुजारियों एवं पुरोहितों या साधु -सन्यासियों के अलावा समाज का शासन / प्रशासन एवं नियंत्रण सैन्य शक्ति या सम्राटों के द्वारा संचालित होता था । सत्ता का हस्तान्तरण पीढ़ी दर पीढ़ी स्वत: परम्परा के अनुसार मान्य था । हर धारणा / अभिधारणा के पीछे किसी देवीय शक्ति का संरक्षण बताया जाता था । प्रकृति की सभी घटनाएं, प्राकृतिक प्रकोप या सामान्य प्राकृतिक परिस्थितियों भी देवीय इच्छा से संचालित मानी 'जाती थी । व्यक्ति के बोधज्ञान के लिये देवी की कृपा / दया को ही आधार माना जाता था । मस्तिष्क के द्वारा ही देवी -देवताओं को आह्वान करके बुलवाया जाता रहा है । देवी -देवताओं का मानव प्राणी की तरह ही जैविकीय शक्ति मानकर उनसे विविध समस्याओं के समाधान खोजे जाते है । हर वस्तु या पेड़ -पौधे अथवा पशु -पक्षी को ईश्वरीय कृति मानी जाती है तथा उनमें से कुछ को तो विशेष महत्व को पवित्र मानकर उसकी पूजा अर्चना भी की जाती है । यह पूजा उस देवता को समर्पित होती थी जिससे उस विशेष वस्तु का सीधा सम्बन्ध माना जाता है । मान लें, गाय भारतीय परिवेश में कृष्ण को सर्वाधिक प्रिय लगने वाला पशु और कृष्ण स्वयं गो -पालन में संलग्न रहे थे । अत: गाय को गो -माता मानकर उसकी विशेष पूजा -अर्चना करना उसी धर्मशास्त्रीय चेतना का सूचक हैं । इसी प्रकार, सभी आदिम समाजों में वस्तु -पूजा आदि के पीछे जीव या ईश्वरीय शक्ति का इन वस्तुओं में निवास मानने का विश्वास ही प्रबल है । धर्मशास्त्रीय स्तर के ज्ञान को भी तीन श्रेणियों में क्रमिक रूप से विकसित बताया है: -

(अ) वस्तु पुजा (Fetishism) : यह ज्ञान के धर्मशास्त्रीय स्तर की सबसे पूर्व एवं प्रारंभिक अवस्था मानी जाती है । हर अजैव वस्तु में जीवन शक्ति होने का विश्वास ही वस्तु -पूजा को जन्म देता है । इसे जीववाद भी कहा जाता है । 'जड़ वस्तुओं में भी जान होती है,' इस विश्वास के कारण यह माना जाता है कि जो जीवित प्राणी है उनकी आत्मा जड़ वस्तुओं में स्वत: प्रविष्ट कर जाती है । भारत में महिलाओं द्वारा चैत्र मास के कृष्ण पक्ष की दसवीं तिथि को पीपल के पेड़ की पूजा इस विश्वास से की जाती है कि पीपल में विष्णु भगवान का निवास है । इसी प्रकार नीम, आँवला बिल्ला, अशोक आदि पेड़ो की भी अलग -अलग अवसरों पर पूजा अर्चना होती है ये धारणाएं बोधज्ञान की धर्मशास्त्रीय अवस्था से अब तक चली आ रही है ।

(ब) बहु देववाद (Polytheism) : मानव सोच या ज्ञान के स्तर में क्रमिक विकास होते -होते वस्तु पूजा की अवस्था से बहु -देववाद अर्थात् लोगों का कई देवी -देवताओं में

विश्वास बढ़ने लगा । इस स्तर पर बोध ज्ञान से देवीय शक्तियों के अलग -अलग स्वरूप एवं नाम सामने आ गये जिनकी पूजा पद्धतियां भी भिन्न -भिन्न हो गई । इनके अलावा प्राकृतिक एवं मानव शक्तियों को भी देवीय शक्तियों से अलग करके उनकी पूजा की जाने लगी । अलग -अलग देवी देवताओं को मानने वाले लोगों के समुदाय एवं संप्रदाय भी अलग हो गये । मानव प्रजाति के लोग कई धार्मिक समूहों / प्रजातियों मे विभाजित हो गये । इसाई एवं इस्लाम धर्मों में तो ऐकेश्वरवाद है । किन्तु इन धर्मों के उभरने के पूर्व यूरोप एवं एशिया के देशों में बहुधार्मिक समुदाय थे जिनकी आपस में लड़ाईयों भी उनके अस्तित्व को लेकर होती रहती थी । भारत में भी प्रारंभ मे वस्तु पूजा या प्रकृति पूजा के बाद बहुदेववादी धर्मों का विकास हुआ और पुन: वैदिक धर्म के अन्तर्गत ' 'एकी ब्रहम: '' का विश्वास भी पनपा । किन्तु इसके पूर्व बहुत संख्या में स्थानीय, क्षेत्रीय एवं राष्ट्रीय स्तर के देवता विद्यमान थे । यह बहुदेववाद धर्म के ज्ञान के विकास का मध्यवर्ती स्तर है ।

(स) एकेश्वरवाद (Monotheism): धर्मशास्त्रीय ज्ञान के स्तर के विकास क्रम में यह तीसरी और अन्तिम अवस्था बताई गई है । संसार में ईसाई मत एवं इस्लाम धर्मो का आविर्भाव एकेश्वरवादी विचार की प्रधानता से स्थापित हुआ है सर्वशक्तिमान ईश्वर एक है जिसे इसाई लोग 'इसामसीहि' एवं मुसलमान लोग 'अल्लाह के नाम से जानने लगे । भारतीय वैदिक संस्कृति एवं सनातन हिन्दू धर्म में राम, कृष्ण आदि के रूप मे केवल विष्णु के अवतार को ही एकेश्वर की धारणा में सम्मिलित किया जाता है ।

4.5.2 तत्वमिमांसीय ज्ञान का स्तर

ज्ञान के विकास -स्तरों मे यह दूसरी अवस्था है जहां व्यक्ति अपने व्यवहार में वस्तु पूजा एवं देवपूजा के साथ -साथ कुछ तर्कसंगति या बुद्धि का प्रयोग भी अपनी क्रियाओं में करने लगा । इस स्तर पर आ जाने के उपरान्त समाज में पादरियों, पुजारियों धर्म गुरुओं, पंडितों, मुल्ला -मौलवियों, पुरोहितों, राजगुरुओं की प्रासंगिकता कम होने लगी । समाज की सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक संस्थाओं में नवीन बदलाव प्रकट होने से लोगों में अपनी हर क्रिया में तथा हर जड़ वस्तु या पशु -पेड़ आदि में देवीय शक्ति के तत्व की भूमिका खोजने की प्रवृत्ति कम हो गई । बुद्धिजीवियों, वैद्यों, वकीलों एवं राजनेताओं के नये सामाजिक वर्ग बनने लगे । तात्विक विश्लेषण एवं तर्कसंगति के आधार पर प्रस्तुत किये जाने वाले निष्कर्षों में ईश्वरीय तत्व की सर्वव्यापकता पर जोर दिया जाने लगा । लोगों में श्रद्धा, विश्वास एवं अन्ध विश्वास के स्थान पर तर्क, ज्ञान, चेतना एवं अनुभव जन्म ज्ञान का महत्व बढ़ने लगा । कुछ लोगों ने देवी -देवताओं की शक्तियों को नकारना भी प्रारम्भ किया ।

ज्ञान के विकास क्रम के इस स्तर पर समाज में सत्ता पर मिलिटरी शासकों / राजे महाराजाओं / जागिदारों / जगीरदारों का प्रभाव कमजोर पड़ने लगा । यद्यपि सत्ता किसी ओर व्यवस्था के हाथों में नहीं पहुंची थी । इसी कारण कई देशों / समाजों में अराजकता / हिंसा एवं अव्यवस्था फैलने लगी । ऐसी स्थिति में सामान्य नागरिकों की सुरक्षा का प्रश्न खड़ा होगा या ।

समाज में वैधता के सिद्धान्तों को भी चुनौती मिलने लगी । पुरानी सत्ता कमजोर पड़ने लगी किन्तु नई सत्ता विकसित नहीं हो पाई थी । ऐसी मध्ययुगीन काल की ज्ञान के विकास की अवस्था में सर्वाधिक लोगों मे असंतोष व्याप्त था । समाज में सर्वत्र अस्थिरता का बोल -बाला दिखाई देने लगा । ज्ञान की कई धाराओं का विकास तो हो गया किन्तु सर्वमान्य ज्ञान के सिद्धान्तों का विकास अभी भी होना शेष था ।

मानव जीवन की भौतिकवादी परिस्थितियां इस प्रकार बदलने लगी और जटिल समस्याओं को रूप लेने लगी जिनका समाधान धर्मशास्त्रों के माध्यम से तो नहीं मिल पा रहा था किन्तु तात्विक विवेचना में भी सर्वसहमत हल निकलता कठिन हो रहा था । सर्वत्र मानव जीवन की जटिलताएं, उत्पादन के नये -नये स्वरूप एवं ज्ञान की नये -नये शाखाओं ने ज्ञान के स्वरूप को ओर जटिल बना दिया । एकेश्वरवादी व्यवस्था के द्वारा मानव की न चुनौतियों का सामना करना असंभव हो गया था । इसी कारण बुद्धिजीवियां अपने बोध ज्ञान में तर्कसंगति का स्वत: विकास करते -करते तात्विक ज्ञान स्तर को और सुदृढ़ एवं इतना सक्षम बनाने का प्रयास किया कि समाज को ही प्रगति की राह पर आगे बढ़ाने में यह सहायक हो सके । जो विशिष्ट एवं स्थूल ईश्वरीय संकल्पनाएं पूर्व में विद्यमान थी उनके स्थान पर तात्विक विवेचन में अमूर्त आध्यात्मिक तत्व के महत्व एवं उसकी सत्ता की स्थापना की गई । कॉम्ट ने यह मत स्थापित किया कि तात्विक विवेचनाओं के द्वारा स्थूल / जैविकीय एक या अधिक ईश्वरीय देवी - देवताओं की धारणाओं को बदल कर तथा उन्हें अस्वीकार करके नई अमूर्त एवं आध्यात्मिक शक्तियों का निरूपण किया गया जो सर्वत्र एवं सभी परिस्थितियों में व्याप्त बताई गई । इसमें न वस्तु -पुजा, न देवपूजा एवं न व्यक्ति पूजा को स्वीकारा; बल्कि तार्किक आधार पर ईश्वरीय / आध्यात्मिक तत्व को भक्ति, श्रद्धा एवं विश्वास के साथ स्मरण करके सत्कार्यों दीन -सुखियों की सहायता करके एवं अपने उत्तरदायित्व का सही निर्वाह कर के भी उस तत्व को प्रसन्न किया जा सकता है । करुणा, प्रेम, दया, सत्य, तप, अहिंसा आदि धारणाओं का निरूपण इस तात्विक स्तर के ज्ञान में किया गया । ईश्वर को परमतत्व मानकर उसकी सत्ता अनन्त काल की सर्वव्यापक एवं सर्वशक्तिमान होने से देश, काल एवं परिवेश की सीमाओं से परे बताई जाती है । इस तत्व को प्रसन्न करने के लिये भारतीय परिवेश में भक्ति की महिमा बताई गई है । ईश्वर नाम तत्व का स्मरण, कीर्तन एवं श्रवण करने से जीव मात्र का कल्याण बताया गया है ।

मानव जीवन की प्रगति का लक्षण तात्विक विवेचना को बताया गया जो आगे चलकर प्रत्यक्षवादी या वैज्ञानिक स्तर में विकसित होने के लिये तैयार हुआ । परस्पर विरोधी मत मंतातर एवं आंतरिक व्यवस्थाओं के अत: कलह या गृह -युद्ध जैसी स्थितियों को मुकाबला करने में यह विकास क्रम की सत्ता विशेष सफलता प्राप्त नहीं कर सकी । समाज संक्रमणकाल से गुजरने लगा और लोगों का जीवन अधिक अशांत एवं जोखिम भरा भी हो गया । ऐसे में मानव ने अपने ज्ञान के विकास की अगली अवस्था में कदम रखा ।

4.5.3 प्रत्यक्षवादी स्तर

ज्ञान के विकास क्रम का यह अंतिम स्तर बताया गया है । इसमें पूर्व के ज्ञान के स्तर की अराजकताओं एवं अव्यवस्थाओं को सही करने एवं जीवन की चुनौतियों का वैज्ञानिक ढंग से

मुकाबला करने के ऐसे उपाय किये गये है जो अनुभव एवं अनुभूति के आधार पर अर्जित ज्ञान से निकाले गये । तात्विक ज्ञान में जो सिद्धान्त बनाये गये थे उनके सत्यापन की कोई संभावनाएं नहीं बताई गई । किन्तु इस प्रत्यक्षवादी स्तर पर जो भी वैज्ञानिक सिद्धान्त बनाये जाते है उनका अवलोकन एवं अनुप्रयोग द्वारा सत्यापन भी किया जाता है । हर सिद्धान्त निर्माण के पीछे अवलोकनों एवं प्रयोगों की लम्बी प्रक्रिया होती है । जो मानव की ज्ञानेन्द्रियों से सत्यापित नहीं हो सके वह वैज्ञानिक ज्ञान नहीं होता है इसी कारण तात्विक विवेचना में तर्कसंगति चाहे कितनी ही सही -लगती हो किन्तु यदि केवल विचार एवं भावना तक ही वह सीमित है और उसका ज्ञानेन्द्रियों द्वारा निरीक्षण या अनुभव नहीं किया जा सकता तो वह वैज्ञानिक या प्रत्यक्षवादी स्तर का ज्ञान नहीं कहला सकता है । अत: प्रत्यक्षवाद में विचारों का भौतिक सत्यापन होना अति आवश्यक होता है ।

प्रत्यक्षवादी ज्ञान के स्तर में मुख्य रूप से यह मान्यता है कि हर घटना / प्रघटना का कोई निश्चित कारण है जो दैविक शक्ति या आध्यात्म शक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं रखता है । स्थूल या भौतिक प्रघटना का कारण के कोई अन्य भौतिक प्रघटना ही होती है । हर परिणाम का भी कोई कारण होता है । यहां हमें ज्ञान एवं विज्ञान के बीच अंतर को स्पष्ट कर लेना चाहिए । ज्ञान तो व्यक्ति के मस्तिष्क में बाह्य जगत के प्रति या अपने प्रति जो बोध या चेतना या जानकारी होती है उसको कहा जाता है । जब व्यक्ति ऐसी अवस्था के बारे में जानता हो, बोध रखता है या समझता हो तो हम कहेंगे कि ' 'उसे ज्ञान है' ' । किन्तु विज्ञान तो ज्ञान का व्यवस्थित एवं आनुभाविक स्वरूप है जिसमें सिद्धान्त या नियम विद्यमान होते है । ये सिद्धान्त समय -समय पर सत्यापित भी किये जाते है तथा जो सत्यापित नहीं हो सकते है उन्हें अस्वीकार कर दिया जाता है । वैज्ञानिक सिद्धान्तों में सामान्यता, तटस्थता, तर्कसंगति एवं भविष्यवाणी करने की क्षमता होती है । कॉम्ट ने ऐसे ही विज्ञानों का क्रमिक विकास, वर्गीकरण एवं पदसोपान निर्धारित किया जिसे हम इकाई -3 में स्पष्ट कर चुके है ।

वैज्ञानिकों ने विश्व में अपने इस वैज्ञानिक ज्ञान की प्रगति इस प्रकार कि नये -नये आविष्कारों एवं खोजों को प्रयुक्त करके कई सैद्धान्तिक धाराएं विकसित कर ली । व्यक्ति एवं समाज की भौतिक एवं मानसिक आवश्यकतानुसार ही नवाचारों की खोज एवं स्वीकृति होती गई। वैज्ञानिक ज्ञान की वृद्धि के पीछे मुख्य रूप से दो प्रश्नों को बार -बार अपनी जिज्ञासाएं शांत करने हेतु उठाया जाने लगा. कोई घटना प्रघटना क्यों घटित हुई या होती हैं? घटना / प्रघटना कैसे घटित होती है? इन प्रश्नों के जो भी उत्तर मिलते है उनके प्रति भी सदा से 'संशय' की भावना रखते हुए प्रामाणिक तौर पर बार -बार सही उत्तर खोजने से ही विज्ञानों का उत्तरोत्तर विकास हुआ है ।

प्रत्यक्षवादी या वैज्ञानिक ज्ञान के स्तर ने मानव जीवन को एक ऐसी नई सौगात दी जो सम्पूर्ण सामाजिक -आर्थिक -राजनैतिक व्यवस्थाओं को ही बदलने में सक्षम हुई । वैज्ञानिक एवं तकनीकी आविष्कारों के व्यावहारिक उपयोग से औद्योगिक समाज की रचना हुई जिसमें से पूंजीवादी व्यवस्था एवं विचारधारा पनपी । सम्पत्ति के नये -नये स्वरूप बने एवं पूंजी का केन्द्रीकरण कुछ परिवारों के हाथों मे हुआ जो पूंजीवादी या उद्योगपति कहलाये । विज्ञानों की

भी कई विशेषीकृत शाखाएं विकसित हो गई । एक ऐसी संस्कृति का विकास हुआ जो भौतिकवादी, उपभोक्तावादी एवं सुख -सुविधाओं से युक्त जीवन के प्रति आसक्त दिखाई देती है। यद्यपि ऐसा समाज एवं संस्कृति जिसे प्रगतिशील एवं विकसित समाजों में गिना जाने लगा उन्नीसवीं एवं बीसवीं सदी के वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास की ही देन है, किन्तु जो सभ्यता एवं संस्कृति बीसवीं सदी के अन्त में या वर्तमान इकतीसवीं सदी में विकसित हो रही है, वह तो सूचना एवं तकनीकी विकास की पराकाष्ठा लग रही है जिसमें सब कुछ उपभोक्तावादी, 'इलेक्ट्रोनिक मीडिया समाज'' के रूप में विकसित हुआ है ।

इस प्रत्यक्षवादी एवं वैज्ञानिक स्तर पर आते -आते वैज्ञानिकों ने ईश्वरीय तत्व के सर्वशक्तिमान एवं सर्वव्यापक स्वरूप को जानने, उसकी उत्पत्ति एवं उद्भव की 'तात्विक व्याख्या'' करने के बजाय विविध घटनाओं / घटनाओं के कारण -कार्य सम्बन्धी सिद्धान्तों की स्थापना करना है उचित समझा । इसी विचार से अगस्ट कॉम्ट की यह मान्यता बनी की वैज्ञानिक -औद्योगिक समाज ही सम्पूर्ण विश्व की मानव जाति की सामाजिक व्यवस्था बनेगा । यही स्थिति ज्ञान के विकास क्रम की एक श्रेष्ठ अवस्था है जिसमें मानव ने पूर्व की सभी अवस्थाओं से अधिक अच्छी प्रगति करते हुए अपने आप को अधिक सुविधाजनक बना लिया है। नई अवस्था पूर्व की बनी हुई सभी अवस्थाओं को विघ्नवंश करके विकसित की गई है जो उद्विकास के क्रमिक बदलाव का ही एक सिद्धान्त होता ही है । कॉम्ट ने उद्विकास के सिद्धान्त का सदा एक रेखीय दिशा में ही निरूपित किया है जिसमें आगे ही बढ़ने के संकेत है तथा मानव प्रजाति निरन्तर अपने ज्ञान के विकास के द्वारा उत्तरोत्तर प्रगति के मार्ग पर आगे ही बढ़ती है । इस संबन्ध में अब्राहम एवं मोर्गन (1985) के द्वारा दिया गया निष्कर्ष यहां उद्धरित करना भी उचित होगा :

> *"Comte's theory if progress often referred to as the unilinear theory of evolution, invoved the development of the human race to a single design: the culmination of the individual mind, the human mind , and the human society in an ultimate state of positivism. Human history of a single people, Comte reasons, because the progress of human mind gives unity to the entire history if society" (pg.)*

अर्थात् कॉम्ट ने प्रगति के एक -रेखीय उद्विकासवादी सिद्धान्त के द्वारा मानव प्रजाति के विकास को एक ऐसे मॉडल में बताया है जिसमें मानव का व्यक्तिगत मस्तिष्क या बोधज्ञान मानव समाज, मानव का सामान्य ज्ञान एक दिशा में विकसित होते -होते उत्कर्ष करके प्रत्यक्षवाद की चरम अवस्था तक पहुंचता है मानव -इतिहास वास्तव में मनुष्यों के समूहों का ही एक इतिहास है जिसमें समाज के सम्पूर्ण घटनाक्रम की एकीकृत विवेचना से मानव मस्तिष्क (ज्ञान) की प्रगति मालूम पड़ती है ।

4.6 ज्ञान के स्तर एवं सामाजिक संगठन

ज्ञान के विकास के स्तरों की उत्तरोतर प्रगति के साथ ही सामाजिक व्यवस्था या संगठन में भी उद्विकासीय बदलाव आये है । जो धर्मशास्त्रियों ज्ञान की अवस्था थी वह उस समाज या सामाजिक संगठन की देने थी जो डंडे के बल पर नियंत्रित होती थी । धर्मगुरुओं का प्रभाव तो था किन्तु उनसे भी अधिक बल प्रयोग सेना या सम्राट / जमींदार / जागीदार के मातहत सैनिकों एवं सिपह -सालारों द्वारा करके समाज को संगठित एवं नियंत्रण में रखा जाता था । बर्बरतापूर्वक सत्ता का प्रयोग या दुरुपयोग करते हुए राजे महाराजे या सम्राट निरन्तर अपनी सत्ताओं का विस्तार करने हेतु युद्ध की गतिविधियों मे व्यस्त रहते थे । आर्थिक संगठन के अन्तर्गत कृषि, पशु पालन एवं व्यापारिक गतिविधियों का संचालन होता था । दास प्रथा भी प्रचलन में थी । किन्तु इन सबसे ऊपर ईश्वरीय शक्तियों एवं देवी देवताओं के नाम से जीववादी विश्वास एवं संस्कारों का सर्वत्र बोल -बाला था । परिवार की संस्था का विकास हो चुका था । पारिवारिक सम्बन्धों में रक्त -सम्बन्धी एवं विवाह -सम्बन्धी नातेदार बन गये थे । तात्विक मीमांसा के स्तर पर आते -आते ज्ञान के स्वरूपों में गणित एवं खगोलशास्त्रीय विज्ञानों का क्रमिक विकास हो चुका था । फिर धीरे -धीरे ज्ञान / विज्ञान में प्रगति हुई और भौतिक विज्ञान तथा रसायनशास्त्र या आयुर्विज्ञान जैसे विज्ञानों की रचना हुई । समाज में वकील, बुद्धिजीवी, वैद्य,लेखक, कलाकार आदि व्यावसायिक वर्ग विकसित होने लगे । श्रम विभाजन में विशिष्टिकरण विकसित हुआ । उद्योग धंधे नये पनपे तथा उत्पादन की नई व्यवस्था विकसित हुई । पूंजीपति, प्रबन्धक, शिक्षक, अधिकारी, बाबू मेकेनिक, इंजीनियर, वैद्य तथा अन्य व्यवसायी वर्गो का विकास ज्ञान के तृतीय स्तर के विकास के साथ ही हुआ । समाज क्रांतिकारी परिवर्तनों से गुजरते हुए प्रजातांत्रिक शासन प्रणाली के रूप में विकसित हुए । नये वर्ग, नई भूमिकाएँ, नई संस्थाएँ, नये -नये निर्माण, नई औद्योगिक एवं तकनीकी नीतियां विकसित होने लगी जो ज्ञान के विकास में उत्कर्ष एवं प्रगति की परम उच्च स्थिति दर्शाती है । सारणी -2 में ज्ञान के विकास -स्तर को सामाजिक ईकाइयों के साथ जोडकर दर्शाया गया है । प्रत्यक्षवादी वैज्ञानिक स्तर के ज्ञान की सामाजिक व्यवस्था में नागरिक समाज का अभ्युदय हुआ है । कई नागरिक संगठन राज्य सत्ता एवं पूंजीपतियों के बीच सेतु का काम करने लगे है इन्हें ऐच्छिक संगठन या स्वयंसेवी संस्थाओं (Voluntary Organization) का नाम दिया गया हैं ।

सारणी -2

ज्ञान के विकास के स्तर एवं सामाजिक इकाईयाँ

ज्ञान के स्तर	नाम	प्रमुख विशेषताएं	प्रधान भूमिकाएं	प्रमुख सामाजिक इकाईयां
प्रथम (प्रारंभिक)	धर्मतात्विक धर्मविज्ञान धर्मदर्शन	सर्वशक्तिमान देवी / देवताओं की मान्यता सभी की रचना निर्मितदेवी देवताओं से वस्तु पुजा : बहु देववाद एकल देववाद व्यवस्था पर ज़ोर	पुजारियों पुरोहितों पादरियों मुल्ला - मौलवियों,धर्म - गुरुओं के साथ ही सेवाप्रमुखोंकी भूमिकाऐं	परिवार मातृसत्तात्मक अथवा पितृसत्तात्मक
द्वितीय (मध्यकालीन)	तात्विक / तत्वदर्शन	ईश्वर के स्थान रहस्यमयी शक्तियां अर्मूत क्षमताओं में विश्वास , अवस्था किन्तु प्रगति प्रारंभ	बुद्धिजीवियों, वकीलों एवं विशिष्ट ज्ञान वार्ताओं का अधिक महत्व	राज्य' संस्था का अभ्युदय (अधिनायक / राज्य प्रमुख)
तृतीय (उत्कर्ष एवं अंतिम)	वैज्ञानिक / प्रत्यक्षवादी अथवा सकारात्मक	वैज्ञानिक विधि पर आधारित अनुसंधानों से सिद्धान्तों का निरूपण एचआर प्रघटन की कारकार्यता की व्याख्या वैज्ञानिक ईश्वर के स्थान रहस्यमयी शक्तियां अर्मूतक्षमताओं में	वैज्ञानिक विधि पर वैज्ञानिक ,उद्योगपति एवं व्यवसायी भूमिकाऐं प्रबंधन, इंजीनियर, वैध आचार्य लेखक,कलाकार आदि	मानवता का धर्म प्रबन्धनका समाज प्रजातंत्रीय प्रणाली नागरिक समाज

प्रत्यक्षवादी एवं वैज्ञानिक स्तर के ज्ञान की पराकाष्ठा अंतिम रूप से विकसित विज्ञानों -जीव विज्ञान सामाजिक विज्ञान, नीतिविज्ञान आदि में बन पाई । इसी कारण समाजशास्त्र सभी प्रत्यक्षवादी विज्ञानों का सिरमोर बना । इस स्तर पर आते -आते सामाजिक व्यवस्था भी जटिल रूप में उभरी तथा हर प्रकार से इसका ज्ञान अर्थात् विविध प्रकार के सिद्धान्तों का निरूपण भी किया गया । कॉम्ट की मान्यता यह थी कि आधुनिक समाज ही विकास एवं प्रगति की तीसरी एवं अंतिम अवस्था है जो संक्रमणकालीन (Crisis) स्थिति से गुजर रही है । यह संक्रमण

प्राचीन सामाजिक व्यवस्था के विघटन तथा नवीन व्यवस्थाओं की स्थापना का है । नवीन व्यवस्थाओं में बुद्धिजीवियों, वैज्ञानिकों, विचारकों, तर्कशास्त्रियों, विधिवेताओं की विशेष भूमिका बनी है । दूसरी ओर सर्वत्र पूंजी / सम्पत्ति के स्वामित्व या नियंत्रण का बोल -बाला है जिसमें उद्योगपतियों अथवा उद्योगों के प्रबन्धकों एवं विशेषज्ञों की भूमिका ही मुख्य है । समाज सुधार की भी सर्वाधिक आवश्यकता इस स्तर पर पड़ी है । स्वयं अगस्त कॉम्ट एक सुधारक की भूमिका निभाना चाहते थे जो संकटकालीन समाज जिसमें सभी तरफ सामाजिक मूल्यों एवं मान्यताओं का हास हो रहा था, को पुन: मानवीयता के धर्म के माध्यम से व्यवस्थित बनाना चाहते थे ।

4.7 समाजशास्त्रीय ज्ञान की प्रगति

कॉम्ट के समकालीन समाज म औद्योगीकरण के आर्थिक विकास एवं उदारीकरण तथा निजीकरण की नीतियों से सम्पन्न एवं विभिन्न वर्गो के बीच की दूरियां और बढ़ी । धनी और पूंजीपति की हैसियत सम्पत्ति के केन्द्रीयकरण से और मजबूत हुई तथा कर्मचारी वर्ग तथा मजदूर वर्गो की क्रय -शक्ति निरन्तर कम होती गई । समाज की सुदृढ़ता एवं एकीकरण की प्रक्रिया कमजोर होने से सामाजिक सामंजस्यता में कमी आई । मानवीय मूल्यों के चौ -तरफा ह्रास होने तथा भौतिकवादी एवं उपभोक्तावादी रुझान बढ़ने से सर्वत्र नैतिक पतन होने लगा । ऐसे में समाजशास्त्रीय अध्ययनों में प्रत्यक्षवादी उपागम को अपनाते हुए सामाजिक प्रगति तथा एकीकरण स्थापित करने के लिये नये सिद्धान्तों का निर्माण करना कॉम्ट का सबसे बड़ा योगदान था । कॉम्ट यह भी मानते थे कि मानव की तुलना में समाज की सत्ता प्रबल है । मानव के स्वार्थपूर्ण एवं एकीकरण विरोधी प्रवृत्तियों दो रोका जा सकता है । व्यक्ति के बजाय समाज का हित सर्वोपरि है । कॉम्ट ने अपने अंतिम योगदानों मैं सकारात्मक धर्म की स्थापना की । कॉम्ट को आशा थी कि समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के द्वारा समाज की व्याधियों. विघटन एवं अन्तर्विरोधों को कम किया जा सकता है । इस प्रकार कॉम्ट एक आदर्शवादी सामाजिक विचारक थे । कॉम्ट के -लाख प्रयासों के बाद भी तत्कालीन समाज और उसके बाद के समाज को भी विघटनकारी प्रवृत्तियों, जैविक पतन, हिंसात्मक प्रदर्शनों से बचाया नहीं जा सका । कॉम्ट के बाद जो समाजशास्त्र विकसित हुआ वह एक तरफ तो वैज्ञानिक उपागम पर आधारित विषय के रूप में भी निरूपित किया । दूसरी ओर कई समाजशास्त्रीयों ने इसे एक कला के रूप में विकसित किया । यहां पर कॉम्ट के द्वारा प्रस्तुत एक कथन उद्धरित करना उचित होगा जो उन्होंने समाजशास्त्र के उद्देश्य को लेकर लिखा था :

> *"I understand social physics to mean that science which occupies itself with the study of social phenomena considered in the same light as astronomical, physical, chemical and physiological phenomena, that is to say, as being subject to natural and invariable laws, the discovery of which is the special object of its researchers." - August Comte, System of Positive Polity, 1966, p. 39."*

अर्थात् सामाजिक भौतिकी से तात्पर्य एक ऐसे विज्ञान से है जिसमें सामाजिक (समाजशास्त्रीय) प्रघटनाओं का अध्ययन उसी तरह से किया जाता है जैसा कि खगोलशास्त्रीय, भौतिकीय, रासायनिक एवं शरीर रचना से सम्बन्धित घटनाओं का किया जाता है । इस विज्ञान (समाजशास्त्र) के अनुसंधानकर्ताओं का विशिष्ट उद्देश्य यह है कि संभाग के अपरिवर्ती एवं स्वतः -जनित नियमों (सिद्धान्तों) की निरन्तर खोज करते रहे । यह समाज विज्ञान सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वोपरि स्तर का विज्ञान है तथा समाज के लिये सर्वाधिक उपयोगी भी है ।

4.8 सारांश

यह सम्पूर्ण इकाई ज्ञान के विकास के स्तरों की विवेचना तो करती ही है साथ ही अगस्ट कॉम्ट द्वारा प्रतिपादित व्याख्या को भी प्रस्तुत करती है इसका अध्ययन करने से आज के लगभग दो शताब्दी पूर्व की सामाजिक व्यवस्था पर प्रतिपादित विचारों की जानकारी उपलब्ध हो जाती है । मानव के बोधज्ञान एवं समाज की प्रगति को समानान्तर विकास क्रमों में बदलते हुए समझाया गया है । ज्ञान के विकास में पराकाष्ठा का स्तर आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान का है जो औद्योगिक पूंजीवादी सामाजिक व्यवस्था में विकसित हुआ है ।

4.9 बोध प्रश्न

1. मानव ज्ञान एवं समाज के विकास स्तरों की विवेचना कीजिये ।
2. क्या ज्ञान के विकास के स्तरों का सामाजिक संगठन के साथ कोई ताल -मेल है? स्पष्ट कीजिये ।
3. संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिये
   (अ) धर्मशास्त्रीय ज्ञान का स्तर एवं तत्कालीन समाज
   (ब) प्रत्यक्षवादी ज्ञान का स्तर एवं आधुनिक समाज

4.10 संदर्भ ग्रन्थ

1. Abraham, Francis and John Henry Morgan. 1985. Sociological thought: from Comte to Sorokin, New Delhi: Macmillan India.
2. Aron ,Raymond, 1965 , Main Currents in Sociological Thought ,Vol.I, penguin Books
3. Coser, Lewis A. 1996, Masters of Sociological Thought: Ideas in Historical and Social Context. Jaipur: Rawat Pub.
4. Zetlin, Irving M.1969. Ideology and Development of Sociological Theory, New Delhi: Prentice - Hall of India

इकाई -5

इमाईल दुर्खीम ' सामाजिक तथ्य

इकाई की रूपरेखा :

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 'द रूल्स ऑफ सोश्यालॉजिकल मेथड' ग्रंथ का परिचय

5.3 समाजशास्त्र के अध्ययन की विषय -वस्तु सामाजिक तथ्य

5.3.1 सामाजिक तथ्यों की व्याख्या

5.3.2 सामाजिक तथ्यों के लक्षण

5.3.3 सामाजिक तथ्यों के प्रकार

5.4 सामाजिक तथ्यों के अध्ययन के नियम

5.5 सामाजिक तथ्यों के वर्गीकरण के नियम

5.6 सामाजिक तथ्यों के अर्थघटन के नियम

5.7 समीक्षा

5.8 सारांश

5.9 शब्दावली

5.10 बोध प्रश्न

5.11 संदर्भ ग्रंथ

5.0 उद्देश्य

इस इकाई के मुख्य उद्देश्य आपको दुर्खीम के मतानुसार समाजशास्त्र के अध्ययन की विषय वस्तु (Subject -Matter) क्या है इसका व्यवस्थित परिचय देना है । इस इकाई के अध्ययन के बाद आपको निम्न बिन्दुओं पर स्पष्ट जानकारी प्राप्त होगी -

- दुर्खीम ने समाजशास्त्र की विषयवस्तु को स्पष्ट शब्दों में परिभाषित करना क्यों जरूरी माना।
- क्यों उन्होंने ' सामाजिक तथ्यों '' को समाजशास्त्र के अध्ययन की विषय वस्तु के रूप में परिभाषित किया?
- सामाजिक तथ्यों का अर्थ एवं उनके लक्षण क्या है?
- समाजशास्त्रीय वैज्ञानिक रूप से सामाजिक तथ्यों के अध्ययन में किन -किन नियमों का पालन करना आवश्यक है?

इन प्रश्नों से सम्बन्धित सामग्री के आधार पर आप समझ सकेंगे कि दुर्खीम ने समाजशास्त्र को एक वैज्ञानिक अध्ययन का स्थान देने के प्रयास में किन -किन बुनियादी बातों को स्पष्ट रूप से परिभाषित? अनिवार्य समझा ।

5.1 प्रस्तावना

आज से लगभग पौने दो सौ वर्षा पूर्व समाज के विधिवत् अध्ययन के लिये फ्रेन्च सामाजिक विचारक अगस्त कॉम्ट (1798 - 1857) ने समाजशास्त्र की नींव रखी । उनका प्रमुख आशय प्राकृतिक विज्ञानों की तरह समाज के अध्ययन के लिये वैज्ञानिक अभिगम और अध्ययन के नियमों पर आधारित समाज का विज्ञान का श्री गणेश करना था । अगस्ट कॉम्ट के इन प्रयासों को हर्बर्ट स्पेन्सर; विलफ्रेडो पेरेटो जॉर्ज सिमेल तथा फर्डिनन्द टोनिज आदि ने अपने -अपने नजरिये से विचारकों की श्रेणी में इमाईल दुर्खिम का नाम भी समाजशास्त्र के एक प्रवर्तक के रूप में लिया जाता है । आज भी समस्त विश्व में समाजशास्त्रियों को दुनिया में ऐसा माना जाता है कि इमाईल दुर्खीम के योगदानों के अध्यापन के बिना सही समाजशास्त्र को नहीं जाना जा सकता । इसलिये आज भी प्रारम्भिक समाजशास्त्र के पाठ सीखने के स्तर से लेकर उच्च स्तर के शोध आधारित अध्ययनों में दुर्खीम के योगदान को सम्मान से उपयोग होता है । वे समाजशास्त्र में सकारात्मक पद्धति के प्रतिष्ठाता माने जाते हैं, हालांकि समाजशास्त्र में सकारात्मकवादी अभिगम का आह्वान अगस्ट कॉम्ट ने किया था ।

5.2 'द रूल्स ऑफ सोश्यालॉजिकल मेथड' ग्रंथ का परिचय

समाजशास्त्र को एक विज्ञान के स्तर पर लाने के लिये दुर्खीम ने बुनियादी मुद्दों पर जो प्रयास किये उनका सम्पूर्ण परिचय ' 'द रूल्स ऑफ सोश्यालॉजिकल मैथर्ड'' शीर्षक के ग्रंथ में से मिलता है । उनका यह ग्रंथ उनके अन्य ग्रंथों की तुलना में संक्षिप्त है, परन्तु काफी गहन है । इसका अंग्रेजी में अनुवादित प्रकाशन 1895 में हुआ था । इससे पहले इस ग्रंथ में प्रस्तुत सामग्री उन्होंने लेखों की एक श्रृंखला' के रूप में प्रकाशित किया था जिन्हें बाद में संकलित कर उक्त ग्रंथ का आकार दिया । इन लेखों में दुर्खीम ने समाजशास्त्र को एक विज्ञान का स्थान प्राप्त कराने में जो तर्क दिये थे, उनका बौद्धिकों ने भारी विरोध किया और एक तरह से दुर्खीम के समाजशास्त्र की अध्ययन पद्धतियों के विचारों को अत्यन्त विवादास्पद बना दिया । आलोचकों का कहना था कि प्राकृतिक विज्ञानों की विषय -वस्तु की तरह समाजशास्त्र की विषयवस्तु को देखा या समझाया नहीं जा सकता । उनका कहना था कि सामाजिक तथ्यों को ' 'वस्तुओं ' ' की तरह लेना और उनका तटस्थ अर्थघटन करना नितान्त असम्भव है । परन्तु दुर्खीम इन आलोचकों से कतई विचलित नहीं हुए ।

इस ग्रंथ का अंग्रेजी का अनुवाद 1938 में सराह ऐं. सोलोनाथ और जोन्ह म्यूलर (Sarah A.Solvery and Johan H.Mueller) ने किया । आमुख और भाषान्तर करने वालों प्राक्वथन के बाद इस ग्रंथ के कुल छः अध्याय और अन्त में सारांश दिया गया है । प्रथम अध्याय में सामाजिक तथ्य का अर्थ और व्याख्या की गई है, दूसरे अध्याय में सामाजिक तथ्यों के निरीक्षण के नियम बताये गये हैं । तीसरे अध्याय में सामान्य तथा रूग्ण (Normal and pathological) सामाजिक तथ्यों को वर्गीकृत करने के नियम दिये गये है । चौथे और पाँचवें अध्याय में अनुक्रम से सामाजिक तथ्यों के समाज की अवस्था संदर्भ में प्रकार निश्चित करने की तथा सामाजिक तथ्यों के अर्थघटन की बात समझाई गई है । छठे' अध्याय में सामाजिक

तथ्यों मे सम्बन्धित अध्ययनों में समाजशास्त्रीय कसौटी का महत्व दर्शाया गया हैं । अंतिम अध्याय में अर्थसभर सारांश दिया है ।

5.3 समाजशास्त्र के अध्ययन की विषय -वस्तु : सामाजिक तथ्य

सामाजिक तथ्य दुर्खीम की यह एक बात दृढ़ मान्यता वाली थी कि समाज में व्यक्ति एवं उनके सामाजिक सम्बन्धों और घटनाओं को भी वैज्ञानिक ढंग से समझा जा सकता है । इस संदर्भ में उन्होंने अपने पूर्वगामियों के समाज सम्बन्धित दार्शनिक विचारों का खण्डन करते हुए कहा कि ऐसे विचार वास्तविक परिस्थितियों के विश्लेषण पर आधारित न होकर बौद्धिकों के मस्तिष्क की पैदाइश होते हैं । अत: वे वैज्ञानिकता की शर्तों से परे होते हैं । उन्होंने समाजशास्त्र को एक विज्ञान का स्तर देते हुए नीचे दर्शाई गई शर्तों का ध्यान रखना प्रत्येक समाजशास्त्र के लिये अनिवार्य बताया । समाजशास्त्र के अध्ययन की विज्ञान पर आधारित निम्न शर्तें है :

(1) किसी भी विज्ञान पर आधारित विषय की प्रथम शर्त यह है कि उसके अध्ययन की विषय -वस्तु (Subject - matter) की स्पष्टता के आधार पर उसके अध्ययन की मर्यादाऐं अथवा लक्षमण रेखाऐं परिभाषित होती है । यही बात समाजशास्त्र के लिये भी सत्य है ।

(2) विज्ञान का सम्बन्ध वास्तविक परिस्थितियों, तत्वों एवं घटनाओं से होता है । उसमें काल्पनिक चित्रण का कोई स्थान नहीं होता । समाजशास्त्र का सम्बन्ध भी वास्तविक सामाजिक घटनाओं तथा परिस्थितियों से होता है ।

(3) विज्ञान सर्व सामान्य नियम (Universal laws) ढूँढ निकालने का प्रयास करता है । उसका किसी छुटपुट घटना से कोई सरोकार नहीं होता । समाजशास्त्र भी सामाजिक ढाँचे तथा -व्यवस्था के मूल आधार पर सर्व सामान्यत नियम ढूँढने का प्रयास करना हैं ।

(4) विज्ञान में अपवादों का अध्ययन न होकर सामान्य प्रवाहों में समझाने का प्रयास होता है । समाजशास्त्र का भी अपवादों के अध्ययन से कोई लेना देना नहीं होता है ।

(5) प्राकृतिक जगत का संचालन निश्चित नियमितता या प्रवाहों (Regularities) के अधीन होता है । विज्ञान इन नियमितताओं का ढूंढ निकालने का प्रयास करता है । इसी तरह से एक विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र का लक्ष्य भी सामाजिक -व्यवस्था की निरंतरता और परिवर्तन से जुड़ी नियमितताओं को समझाने का होता है ।

(6) जिस तरह से प्राकृतिक या भौतिक जगत का अपना अस्तित्व होता है, इसी तरह से सामाजिक जगत का भी स्वयं संचालित अस्तित्व होता है इस बात को ध्यान रखना अनिवार्य है ।

(7) सामाजिक जीवन से सम्बन्धित समरूपताऐं (Uniformities), समाजों का संचालन करते नियम तथा भिन्न -भिन्न श्रेणियों में समाजों का वैज्ञानिक ढंग से वर्गीकरण करने आदि के हेतु जिस तरह से भौतिक विज्ञानों को निश्चित वैज्ञानिक अध्ययन पद्धतियाँ है, उसी तरह की वैज्ञानिक अध्ययन पद्धतियाँ समाजशास्त्र के लिये भी

अनिवार्य है । समाजशास्त्री को ऐसी वैज्ञानिक पद्धतियों पर ही आधार रखना अनिवार्य होता है ।

समाज के वैज्ञानिक अध्ययन में उपरोक्त शर्तों की अनिवार्यता पर भार देते हुए उन्होंने निम्न दो मुद्दों को अत्यन्त महत्व के बताया ।

(अ) अध्ययन की विषय -वस्तु की स्पष्ट व्याख्या अथवा पहचान तथा

(ब) उक्त विषय -वस्तु के वस्तुनिष्ठ (Objective) निरीक्षण और अर्थघटन की पद्धति की स्पष्ट पहचान

इस तरह से समाजशास्त्र को समाज के वैज्ञानिक अध्ययन के रूप में प्रस्थापित करने के प्रयास में जरूरी बौद्धिक भूमिका तैयार करने हेतु दुर्खीम ने कहा कि समाजशास्त्र के अध्ययन की विषय -वस्तु सामाजिक तथ्य (Social facts) होते हैं । साधारण शब्दों में कहे तो ये तथ्य मानवीय समाज के पर्यावरण के वे तत्व या पहलू होते हैं जो समाज या सामूहिक जीवन में से जन्म लेते हैं ।

5.3.1 सामाजिक तथ्यों की व्याख्या

आपने देखा कि दुर्खीम के मतानुसार समाजशास्त्र के अध्ययन की वस्तु सामाजिक तथ्य है । अत: समाजशास्त्रीय अध्ययनों का एक मात्र उद्देश्य सामाजिक तथ्यों का वैज्ञानिक ढंग से अर्थघटन करना होता है । प्रश्न यह है कि सामाजिक तथ्य किसे कहते है । समाज जीवन व्यापन करते व्यक्ति की क्रिया -प्रतिक्रियाओं में से किन्हें सामाजिक तथ्य के आधार पर समझाया जाय और किस क्रिया -प्रतिक्रिया को समाजशास्त्रीय अध्ययनों से अलग रखा जाए? दुर्खीम ने कहा कि समाज के वैज्ञानिक अध्ययन में इन प्रश्नों से सम्बन्धित स्पष्टता का होना नितांत आवश्यक है । इसका एक कारण यह भी था कि जब दुर्खीम समाजशास्त्र के अध्ययनों को प्राकृतिक या भौतिक विज्ञानों के स्तर पर लाने का बौद्धिक प्रयास कर रहे थे, उस वक्त सामाजिक विचारकों सोच में समाजशास्त्र के अध्ययन की विषय -वस्तु के बारे में स्पष्टता नहीं थी । अत: दुर्खीम ने भार पूर्वक कहा कि सबसे पहले हमें समाजशास्त्र को विषय -वस्तु के बारे में स्पष्ट होना चाहिए

इस प्रयास में उन्होंने सामाजिक तथ्य (Social fact) की विभावना दी और कहा कि समाजशास्त्र के अध्ययन की विषय -वस्तु सामाजिक - तथ्य होते है ।

सामाजिक तथ्य क्या होते हैं, यह समझाते हुए दुर्खीम ने कहा कि सामाजिक तथ्य कोई प्राकृतिक घटनाओं की श्रेणी में नहीं आते हैं । भूकम्प, वर्षा, सर्दी, गर्मी, गुरूत्वाकर्षण, ग्रहण, दिन -रात, पेड़ -पौधे या पर्वत इत्यादि प्राकृतिक घटनायें तत्व हैं । तथा ये समाज के परे हैं इस तरह मानव एक प्राणी मात्र हैं और जन्म से कई जैविक वृत्तियाँ प्राप्त करता है, वे भी सामाजिक नहीं होती हैं अत: इन्हें भी सामाजिक तथ्य की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है । तदउपरान्त व्यक्ति की कई जन्मजात मनोवृत्तियाँ भी होती है । जैसा कि भय, हताशा, खुशी, उल्लास, क्रोध एवं चिन्ता आदि की मनोवृत्तियाँ व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक अवस्था से सम्बन्ध रखती है और इनकी जड़े व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक प्रकृति में होती हैं अत: इस प्रकार की

मनोवृतियाँ भी सामाजिक तथ्य नहीं कही जा सकती और इन्हें समाजशास्त्र की अध्ययन की विषय -वस्तु से परे रखना अनिवार्य होता है । इस तरह से प्राकृतिक जीवशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक स्त्रोतों से जन्म लेती घटनाओं को व्यक्ति को समाज जीवन व्यापन करते हुए व्यवहार में से अलग छांटकर केवल व्यवहार की वहीं रित -भाँते जो समाज में से प्रकट होती हैं सामाजिक तथ्यों की श्रेणी में आती है ।

दुर्खीम के मतानुसार 'सामाजिक तथ्य काम करने, सोचने तथा अनुभूति के तौर -तरीके होते है जो व्यक्ति से बाहर अस्तित्व रखते है और दबाव लाने की एक शक्ति से युक्त होने के कारण व्यक्ति को अपने अधीन रखते हैं । दुर्खीम के ही शब्दों में Social fact "consist of ways of acting ,thinking and feeling external to the individual and endowed with a power of coercion by reason of which they control him .

ब्रजराज चौहान इसे समझाते हुए कहते हैं कि "सामाजिक तथ्य किसी भी समूह के सदस्यों की क्रियाओं, सोच और भावनाओं के निर्धारित स्वरूप हैं, जो एक व्यक्ति से परे और उससे अधिक सशक्त हैं । कभी -कभी ऐसे तथ्य निश्चित स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं और यदा कदा सामाजिक लहर के रूप में गतिवान बने रहते हैं । संक्षेप में सामाजिक तथ्यों में व्यक्ति के जीवन तथा व्यवहार में सम्मिलित ओर अभिव्यक्ति वे तमाम सामाजिक नियमों एवं नियंत्रणों प्रथाओं, रिवाजों, कार्य -पद्धतियों, विश्वासों विधि -विधान एवं भावनाओं के स्वरूप इत्यादि का समावेश हो जाता हे, जो व्यक्ति के सामाजिक पर्यावरण को निर्धारित करते हैं तथा सामूहिक -चेतना का अभिन्न अंग होते हैं ।

5.3.2 सामाजिक तथ्यों के लक्षण

दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यों की उपरोक्त व्याख्या के आधार पर अर्थघटन करते हुए सामाजिक तथ्यों के निम्न गुणों का विवेचन किया है । इन गुणों की समझ, आपको सामाजिक तथ्यों का वैज्ञानिक अध्ययन करने के दौर में तटस्थता बनाये रखना सम्भव है यह जानने में मदद करेगी ।

(i) बाह्यता (Externality)
(ii) दबाव लाने की शक्ति (Constraint)
(iii) मुक्त अस्तित्व (Independence)
(iv) सर्वव्यापकता (Ubiqutous)

अब आपको संक्षेप में प्रत्येक लक्षण का संक्षिप्त परिचय देंगे

(i) बाह्यता (Externality)

सामाजिक तथ्यों का जनक समाज यानी कि सामूहिक जीवन होता है अत: ये व्यक्ति से बाह्य और परे होता है । इसका अर्थ हुआ कि सामाजिक तथ्य वैयक्तिक चेतना (Individual consciousness) से परे होते हैं । व्यक्ति के जन्म से पहले पीढ़ी दर पीढ़ी इनका अस्तित्व चला आता है ओर व्यक्ति की मृत्यु के बाद भी इसका क्रम चलता रहता है इसका अर्थ यह भी नहीं कि सामाजिक तथ्य जड़ होते हैं । समय और संयोग के अनुसार

समाज स्वीकृति के आधार पर इनमें परिवर्तन भी आता है । व्यक्ति तो इन्हें जन्म के बाद समाजीकरण की प्रक्रिया के अधीन आत्मसात ही करता है ।

(ii) दबान लाने की शक्ति (Constraint)

सामाजिक तथ्यों का स्त्रोत समाज होता है अत: इन तत्वों मे समस्त समाज की शक्ति या समाज का पृष्ठ बल निहित होता है । अत: व्यक्ति इनके समक्ष निर्बल और लाचार होता है अत: व्यक्ति की क्रिया -प्रतिक्रियाऐं नया व्यवहार सामाजिक तथ्यों द्वारा निर्देशित मार्गों से ही चलना है । दुर्खीम ने कहा है कि सामाजिक तथ्यों के निर्देशों का पालन व्यक्ति की एक नैतिक जवाबदारी (Moral obligation) बन जाती है । दूसरे शब्दों में कहें तो सामाजिक तथ्यों के ऊपर अपनी शक्ति का उदाहरण इस बात से मिलता है कि व्यक्ति को सामाजिक तथ्यों का पालन करना पड़ता है - जैसे कानून, रिवाज या धार्मिक विधि -विधान के नियमों का पालन करना व्यक्ति के लिए अनिवार्य होता है वह व्यक्ति की अपनी स्वेच्छा से प्रेरित निर्णय पर निर्भर नहीं रहता । अत: दुर्खीम ने कहा कि सामाजिक तथ्य व्यक्ति से अधिक शक्तिशाली होते हैं । वे व्यक्ति पर नैतिक दबाव लादते हैं ।

(iii) मुक्त अस्तित्व (Independence)

आपने देखा कि सामाजिक तथ्य समाजजन्य होते हैं अत: ये व्यक्ति की इच्छा तथा उसके नियंत्रण से मुक्त होने हैं । इतिहास इस बात का साक्षी है कि सामाजिक तथ्यों के रूप में अपना अस्तित्व टिकाये हुए रीति -रिवाज विधि -विधान, क्रियाकाण्डों तथा समाज व्यवस्था के प्रस्थापित प्रारूपों के विरूद्ध अनेक आंदोलन हुए । कई आंदोलनों ने हिंसक स्वरूप भी धारण किया । धर्म के नाम पर युद्ध भी हुए । फिर भी सामाजिक तथ्यों के अधीन व समर्थित प्रथाओं तथा रिवाजों में परिवर्तन लाना सम्भव नहीं हो पाया । जाति -प्रथा तथा दहेज के विरूद्ध लगभग सभी प्रयास इन कुप्रथाओं को समाज से आज भी नहीं उखाड़ सके । सामाजिक तथ्य सर्वशक्तिमान होते हैं अत: अपने आप में मुक्त भी होते हैं

(iv) सर्व व्यापकता (Ubiqutous)

इसका अर्थ है यह हुआ कि सामाजिक तथ्य समाज में सर्वत्र लागू होते हैं । इनका अस्तित्व किसी व्यक्ति या समूह विशेष के पक्ष में या विरूद्ध नहीं होता । ये समाज के समस्त सदस्यों को समाज स्वीकृतियों के अनुसार लागू होते है । उदाहरण के तौर पर धार्मिक विश्वास या क्रिया -काण्ड के साथ जुड़े पवित्रता के भाव या निषेधों के नियम किन्हीं खास व्यक्तियों के लिए जरूरी हो तथा किन्हीं अन्य व्यक्तियों के लिए अपवाद या स्व निर्णय के आधीन हो ऐसा नहीं होता । ये समाज में सर्वव्यापी होते है और सभी को इनका पालन करना नैतिक जिम्मेवारी होती है सामाजिक -तत्वों की व्याख्याता और उनके निश्चित लक्षणों के परिचय के बाद अब आपको सामाजिक तथ्यों के प्रकार समझने को मिलेंगे ।

5.3.3 सामाजिक तथ्यों के प्रकार

दुर्खीम ने कहा कि सभी समाज व्यक्ति एवं व्यक्ति के सामाजिक सम्बन्धों पर आधारित एक सामाजिक वास्तविकता होती है । फिर भी सभी समाज एक दूसरे से भिन्न भी होते है । अत: सभी समाजों में विद्यमान सामाजिक तथ्य एक ही स्वरूप के नहीं होते । इसी

आधार पर उन्होंने समाज के साथ सुसंगतता को केन्द्र में रखकर सामाजिक तत्वों को निम्न दो क्षेत्रों में विभाजित किया है

(अ) सामान्य सामाजिक तथ्य (Normal social fact)

(ब) रूग्ण सामाजिक तथ्य (Pathological social fact)

समाज के स्वरूप को ध्यान में रखते हुए दुर्खीम सामान्य सामाजिक तत्वों को समझाते हुए कहते है कि जो तथ्य समाज के लक्षणों के साथ सुसंगत होते है वे सरल शब्दों में सामान्य सामाजिक तथ्यों की श्रेणी में आते है परन्तु जो तथ्य समाज के लक्षण एवं अवस्था के साथ सुसंगत नहीं होते वे सभी रूग्ण सामाजिक तथ्यों की श्रेणी में आते है । अत: कह सकते है कि श्रम विभाजन का जो स्वरूप आदिम समाजों के साथ सुसंगत हो तो वह सामान्य सामाजिक तथ्य कहलायेगा । परन्तु अगर ये ही स्वरूप आधुनिक औद्योगिक तथा जटिल समाजों में पाया जायेगा तो वह रूग्ण सामाजिक तथ्य (Pamological social Fact) की श्रेणी में गिना जायेगा । दूसरे उदाहरण के रूप में कहे तो समाज में आत्महत्या एक सामान्य सामाजिक तथ्य है, परन्तु अचानक आत्मा हत्या की दर (Rate) में -वृद्धि हो जाये तो इसे रूग्ण सामाजिक तथ्य कहेंगे ।

5.4 सामाजिक तथ्यों के अध्ययन के नियम

आपने देखा कि दुर्खीम समाज का वैज्ञानिक अध्ययन के रूप में समाजशास्त्र को समाज का वैज्ञानिक अध्ययन के रूप में समाजशास्त्र को शान की एक शाखा के रूप में प्रस्तावित करना चाहते थे । इस प्रयास में उन्होंने प्रमुख तथा दो बातों पर विशेष ध्यान देना अनिवार्य बताया । एक अध्ययन की विषयवस्तु की स्पष्टता तथा दूसरा अध्ययन की पद्धति की वैज्ञानिकता अन्त उन्होंने समाजशास्त्री को जो सामाजिक तत्वों के अध्ययन के निश्चित नियम भी दर्शाये है । अब आपको संक्षेप में इन नियमों का परिचय देंगे ।

1. सामाजिक तथ्यों को "वस्तुओं" के रूप में स्वीकार करो । चूँकि जिस तरह से वस्तुओं का अपना वास्तविक स्वरूप होता हैं, उसी तरह से सामाजिक तथ्यों की भी अपनी वास्तविकता होती है । उन्होंने अपनी इस बात के पक्ष में तर्क देते हुए कहा कि जिस तरह व्यक्ति किसी भी वस्तु को केवल अपनी इच्छा मात्र से नहीं बदल सकता है, उसी तरह सामाजिक तथ्य भी व्यक्ति की इच्छा से नहीं बदले जा सकते । समाजशास्त्री को यही बात ध्यान में रखते हुए सामाजिक - तथ्यों के कारण और परिणामों का अर्थघटन करना चाहिए ।
2. सामाजिक तथ्यों का अध्ययन करते वक्त दूसरी महत्व की अनिवार्यता यह है कि उसे सामाजिक तथ्य से जुड़ी अपनी वैयक्तिक पूर्व -धारणाऐं तथा पसंदगी नापसंदगी की मानसिकता से सम्पूर्ण रूप से मुक्त हो जाना जरूरी है । तभी तो तथ्यों को बोलने का अवसर मिलेगा और सही रूप से उनका अध्ययन हो सकेगा ।
3. तीसरा महत्व का नियम यह है कि समाजशास्त्री को जिस सामाजिक तथ्य का अध्ययन करना है उसके निरीक्षण योग्य जो भी बाह्य लक्षण हो उसके बारे में

व्यवस्थित रूप से स्पष्टता प्राप्त कर लेनी चाहिए । जैसे कि आत्महत्या के अध्ययन में समूह के साथ व्यक्ति सुग्रथंन का स्वरूप क्या है, यह समझ लेना जरूरी है ।

4. सामाजिक तथ्यों के अध्ययन के वक्त समाजशास्त्री को यह भी सदैव ध्यान में रखना अनिवार्य है कि सामाजिक तथ्यों की अभिव्यक्ति किसी खास व्यक्ति के व्यवहार या क्रिया -प्रतिक्रिया में पाई जाती हो तो भी यह सब कुछ उक्त व्यक्ति की अपनी वैयक्तिक अभिव्यक्ति की बात नहीं होती । सामाजिक तथ्यों के अध्ययन में वस्तुनिष्ठता (Objectivity) तभी सम्भव हो सकती है जबकि उन्हें व्यक्ति से अलग रख कर उनका अर्थघटन किया जाय ।

दुर्खीम ने कहा कि उपरोक्त नियमों का सही अर्थ में पालन करके ही सामाजिक जीवन का वैज्ञानिक अध्ययन किया जा सकता है ।

5.5 सामाजिक तथ्यों के वर्गीकरण के नियम

आप जानते है कि सामाजिक तथ्य समाज या सामूहिक जीवन में से जन्म लेते है । आप यह भी जानते है कि सभी समाज एक समान नहीं होते । इस संदर्भ में दुर्खीम ने स्पष्ट किया कि सभी समाजों मे कई आधार मूल समरूपताऐं (Similarities) होते हुए भी आपस में एक समाज से दूसरे समाज से कई बातों में भिन्न भी होता है । यानी कि समाजों के बीच समरूपता (Similarities) के साथ -साथ भिन्नता (Dissimilarities) भी होती है । समाजशास्त्री इस तरह से समरूपता और भिन्नता के आधार पर समाजों की अलग -अलग श्रेणियाँ ढूँढनी चाहिये । प्रत्येक श्रेणी मे अनेक समाज आयेंगे । सामाजिक तथ्यों के अध्ययन मे समाजशास्त्री के लिये यह जरूरी नहीं कि ये किसी एक श्रेणी में आते प्रत्येक समाज का अध्ययन करे । प्रत्येक श्रेणी के प्रतिनिधि रूप समाज में निश्चित सामाजिक -तथ्य का संकलन किस स्वरूप का है, इस मुद्दे पर समाजशास्त्री को ध्यान से अनिवार्य है । अगर अध्ययन के लिये चुने गये सामाजिक तथ्य उक्त समाज के साथ सुसंगत हैं तो उन्हें सामान्य सामाजिक तथ्यों (Normal Social facts) की तरह परिभाषित किया जाएगा अनन्यता वह रूग्ण सामाजिक तथ्य की श्रेणी में आयेगा । इस आधार पर प्राप्त समाज या स्पष्टता उसी श्रेणी में आते अन्य समाजों के समाज जीवन को समझने में उपयोगी साबित होती है।

5.6 सामाजिक तथ्यों के अर्थघटन के नियम

समाजशास्त्र में दुर्खीम के योगदानों में सामाजिक तथ्यों के अर्थघटन के बारे में उन्होंने जो नियम बनाये उनसे समाजशास्त्र के व्यवस्थित विकास को नई दिशायें प्राप्त हुई । दुर्खीम ने स्वयं के समाज के श्रम विभाजन के अध्ययन के उपरांत आत्महत्या और धर्म तथा समाज के बीच संबंधों के स्वरूप समझाने हेतु इन्हीं नियमों पर आधार रखा । दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यों के समाजशास्त्रीय अर्थघटन के जो नियम दर्शाये उनमें से उनका अभिगम या दृष्टि बिन्दु प्रकट होता है । सरल शब्दों में कहें तो समाजशास्त्री को सामाजिक तथ्यों का अर्थघटन करते वक्त दो बातों पर ध्यान रखना नितान्त अनिवार्य है । एक, उक्त सामाजिक तथ्य क्यों (why) अस्तित्व में आया? और दूसरा वह तथ्य प्रवर्तमान समाज -व्यवस्था की किन -किन आवश्यकताओं को

सन्तुष्ट करता है। प्रथम मुद्दे से कार्य प्रणाली (Causal) के सम्बन्ध समझे जा सकते है तथा दूसरे मुद्दे से प्रकार्यात्मक विश्लेषण (Functional analysis) हो सकता है ।

इस सम्बन्ध में दुर्खीम ने जो सूक्ष्म नियम बताये उन्हें संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत करेंगे ।

1. कार्य -कारण के सम्बन्ध ढूँढने से पूर्व अध्ययनकर्त्ता को हमेशा ध्यान रखना अनिवार्य है कि कारण या कारक (cause) सदैव परिणाम (Consequence) से पहले आता हैं । अत: किसी सामाजिक तथ्य का जन्म कब हुआ यह निश्चित करना अनिवार्य है ।
2. सामाजिक तथ्य का जन्म किन परिस्थितियों में हुआ यह सुनिश्चित करते वक्त उक्त सामाजिक तथ्य के प्रकार्य (Function) क्या हैं, यह जानना सदैव अलग रखना चाहिये । इसका अर्थ यह हुआ कि सामाजिक तथ्य के अर्थघटन के वक्त कारणों तथा प्रकार्यों की अलग -अलग स्पष्ट व्याख्यायें करनी जरूरी है । दोनों को अलग -अलग रखने से उनके पारस्परिक सम्बन्धों को आसानी से समझाया जा सकता है ।
3. सामाजिक तथ्य का अर्थघटन करते वक्त एक सामाजिक तथ्य दूसरे सामाजिक तथ्य के द्वारा समझाया जा सकता है । इस बात का ध्यान रखना जरूरी है । यानी कि सामाजिक तथ्य का अर्थ घटन गैर - सामाजिक (Non -social fact) द्वारा नहीं किया जा सकता है । अत: सामाजिक तथ्य का अर्थघटन प्राकृतिक, जैविक या मनोवैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर नहीं किया जा सकता है ।
4. दुर्खीम ने यह भी बताया कि सामाजिक तथ्यों के अर्थघटन में तुलनात्मक पद्धति का सहारा लेना चाहिये । जैसे कि अगर किसी एक सामाजिक तथ्य को दूसरे सामाजिक तथ्य का कारण (cause) दर्शाना है तो इस तथ्य की उपस्थिति या अनुपस्थिति जहाँ -जहाँ दिखाई देती है उन परिस्थितियों की तुलना करनी चाहिए । इससे एक बात यह भी जानने में मिलेगी कि निश्चित सामाजिक तथ्य की उपस्थिति के स्वरूप में पाई जाने वाली भिन्नता (Variation) के क्या परिणाम आते हैं । दुर्खीम इस प्रकार के तुलनात्मक अभिगम को समाजशास्त्र में परोक्ष परीक्षणों (indirect - experiments) की उपमा देते हैं ।

इसके अतिरिक्त दुर्खीम सामाजिक तथ्यों के बीच सह -सम्बन्ध ढूँढने की तार्किक विधि को भी सामाजिक तथ्यों के अर्थघटन में उपयोगी दर्शाते हैं ।

5.7 समीक्षा

दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यों की अवधारणा तथा उनके अध्ययनों की जो विशिष्ट पद्धति व नियमावली दर्शाई इससे समाजशास्त्र के वैज्ञानिक विकास में असाधारण वेग आया, यह बात आज सामाजिक वैज्ञानिकों का विशाल वर्ग निर्विवाद वर्ग स्वीकार करता है । दुर्खीम की प्रकार्यात्मक विश्लेषण की शैली ने 20 वीं सदी के मध्यार्थ में अमेरिकन समाजशास्त्र पर छायी रही ऐसा, कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी । हालांकि दुर्खीम जब ये विचार रख रहे थे तब फ्रांस और यूरोप के अन्य देशों के बुद्धिजीवियों ने दुर्खीम के विचारों का भारी विरोध किया था यह बात आप पहले जान चुके हैं । इसके अलावा कई बाद के अन्य सामाजिक विद्वानों ने भी

उनके योगदान के महत्व का स्वीकार करते हुए कुछ आलोचनात्मक टिप्पणी भी दी है । इस प्रकार की टिप्पणियों को अब संक्षिप्त रूप में समझेंगे ।

1. दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यों की अवधारणा का निर्माण करते वक्त व्यक्ति को नगण्य मान कर एक मात्र समाज पर जो भार दिया है वह एक मार्गी है । समाज के महत्व के साथ व्यक्ति के अस्तित्व का भी महत्व होता है ।
2. सामाजिक तथ्यों की बाह्यता पर दुर्खीम ने जो अतिशय भार दिया है इसके फलस्वरूप समाज में रहते हुए व्यक्तियों की भावनाओं की अवहेलना होती है । व्यक्ति को भावशून्य और समाज को सर्व शक्तिमान समझना सर्वदा सही साबित नहीं होता ।
3. सामाजिक तथ्यों को 'वस्तुओं' के रूप में देखना सामाजिक सम्बन्धों तथा गतिविधियों की संवेदनात्मकता का अस्वीकार तुल्य साबित होता' है ।
4. सामाजिक सम्बन्धों तथा समाज जीवन का आधार पारस्परिक प्रनिती होता है । इस में भावनात्मक पहलू का भी आधार होता है । आज जो सही है, और एक स्थल पर जो सही है, वह सार्वत्रिक रूप से साबित नहीं हो सकती । अत: भौतिक या प्राकृतिक विज्ञानों की तरह समाजशास्त्र में सामान्यीकरण के आधार पर सार्वत्रिक नियम या सिद्धान्तों की रचना नहीं हो सकती है ।
5. अंत में आलोचकों की एक अन्य बात की तरफ भी अपना ध्यान आकर्षित करेंगे । दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यों का अध्ययन करते वक्त "वस्तुनिष्ठता" (Objectivity) पर भार दिया । परन्तु आलोचकों का कहना है कि एक भौतिकशास्त्री जिस तरह से अपने अध्ययन की विषय -वस्तु से निरपेक्ष हो सकता है, उसी तरह एक समाजशास्त्री अपने अध्ययन की विषय -वस्तु के समय अपनी मान्यताओं, धारणाओं या पूर्वग्रहों से छुटकारा नहीं ले सकता है ।

उपरोक्त कुछ टिप्पणियों का यह अर्थ कतई नहीं कि ये दुर्खीम के योगदान की अवगणना रूप हैं । वास्तव में इन टिप्पणियों के होते हुए भी दुर्खीम के योगदान का महत्व और उसकी मौलिकता घटती नहीं है । और यही कारण है कि आज भी प्रत्येक समाजशास्त्री के लिये दुर्खीम के विचार उसकी व्यवसायिक जीवनयात्रा की नींव को मजबूत करते हैं ।

5.8 सारांश

दुर्खीम ने सामाजिक तथ्य की अवधारणा की रचना तथा सामाजिक तथ्यों के निरीक्षण एवं अर्थघटन के नियम निश्चित करके समाजशास्त्र को वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करने में अमूल्य योगदान किया है । इनके इस योगदान के फलस्वरूप एक तरफ समाजशास्त्र के अध्ययन की विषय - वस्तु के बारे में सामाजिक विचारकों और बौद्धिकों में प्रचलित विवाद को हल करने में सहायता मिली है, तो दूसरी ओर समाज का विश्वसनीय ज्ञान प्राप्त करने में जरूरी अध्ययन पद्धतियों की स्पष्टता हुई है । सामाजिक तथ्यों के प्रकार के आधार पर समाज के विकास और उसके बदलते स्वरूप में सामाजिक तथ्यों की सरलता तथा प्रवाह आदि से सम्बन्धित कई नये तथ्य भी प्रकाश में आये ।

दुर्खीम के इस योगदान की मौलिकता तथा परिपक्वता का उदाहरण इस बात से मिलता है कि उन्होंने समाज के श्रम -विभाजन आत्महत्या; धर्म का प्रारम्भिक स्वरूप और समाज में उसकी अनिवार्यता, नैतिक आधार आदि के अपने अध्ययनों में सामाजिक तथ्यों की अवधारणा एवं उनके अध्ययन की जो पद्धतियाँ दर्शाई उन्हीं पर आधार रखा । आज सौ वर्षों का समय बीत गया फिर भी दुर्खीम के इन योगदानों की बौद्धिक स्वीकृति में तिलभर की भी कमी नहीं आई है ।

5.9 शब्दावली

1. सामाजिक तथ्य - व्यक्ति के व्यवहार विचार और भावनाओं के वे तौर -तरीके जो समाज में से जन्म लेने के कारण व्यक्ति से बाह्य होते है, और व्यक्ति पर दबाव लाने की एक शक्ति युक्त होने से व्यक्ति पर अपना नियंत्रण रखते हैं ।
2. सामान्य सामाजिक तथ्य - वे सामाजिक तथ्य जो समाज के विकास परिस्थितियों तथा अवस्था के साथ सुसंगत होते हैं ।
3. रूग्ण सामाजिक तथ्य - वे सामाजिक तथ्य जो समाज के विकास की परिस्थिति तथा अवस्था के साथ सुसंगत नहीं होते ।
4. प्रकार्यात्मक विश्लेषण - सामाजिक घटनाओं के समस्त सामाजिक ढाँचे और उसके खण्डों, उपखण्डों पर पड़ते परिणामों का अर्थघटन पर आधारित अभिगम ।
5. प्रवाह - सामाजिक तथ्यों की वैचारिकता पर आधारित एक लहर जो ' समय' ' तथा ' "स्थल" के संदर्भ में जन्म लेती है ।
6. अभिगम - सामाजिक तथ्यों का अर्थघटन करने में दिशा -सूचक, दृष्टिबिन्दु जो वैचारिक पर आधारित होता है ।

5.10 बोध प्रश्न

1. दुर्खीम ने समाजशास्त्र को विज्ञान का स्तर देने हेतु किन बातों को विशेष महत्व का बताया?
2. सामाजिक तथ्यों की व्याख्या कीजिये ।
3. सामाजिक तथ्यों की बाह्यता का लक्षण समझाइये ।
4. दुर्खीम सामाजिक - तथ्यों को वस्तुओं (Things) के रूप में देखने को क्यों कहते हैं । 'वस्तुओं' के कहने के पीछे उनका क्या तात्पर्य है?
5. सामाजिक तथ्यों के लक्षण समझाइये ।
6. सामान्य सामाजिक तथ्य और रुग्ण सामाजिक तथ्य की अवधारणाऐं स्पष्ट कीजिए ।
7. दुर्खीम के मतानुसार सामाजिक तथ्यों के अर्थघटन के नियम दशाईये ।
8. दुर्खीम के सामाजिक तथ्यों की अवधारणा की समीक्षा कीजिए ।

5.11 संदर्भ ग्रंथ

1. Emile Durkheim : 1938 ; The Rules of Sociological Method, Free Press New York
2. ब्रिज राज चौहान : 1994 ; समाज विज्ञान के प्रेरक स्त्रोत : ए.सी. ब्रदर्स; 2,दर्शनपुरा ,उदयपुर
3. Anthony Giddens : 1978: Durkheim : William Collins sons of Co.ltd Glasgow'
4. Bogardus E.S. 1970: Development of Sociological Thoughts: New York.
5. Lukes, S. 1973: Emile Duirkeim; His life and works; Allen unwin, London.

इकाई 6 -

इमाईल दुर्खीम : धर्म और समाज

इकाई की रूपरेखा :

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 द एलिमेन्ट्री फोर्मस ऑफ द रिलिजियस लाईफ: ग्रंथ परिचय

6.3 दुर्खीम के मतानुसार धर्म की व्याख्या

6.4 दुर्खीम और कार्ल मार्क्स के विचारों से समाज धर्म का स्थान

6.5 धर्म का प्रारंभिक स्वरूप: गणचिन्ह वाद (टेटेमिजम)

6.6 दुर्खीम के अनुसार समाज मे धर्म की भूमिका

6.7 समीक्षा

6.8 सारांश

6.9 शब्दावली

6.10 बोध प्रश्न

6.11 संदर्भ ग्रंथ

6.0 उद्देश्य

समाज में धर्म का स्थान और भूमिका का अध्ययन महान सामाजिक विचारकों का एक प्रिय विषय रहा है । इस इकाई का उद्देश्य आपको धर्म के बारे में इमाईल दुर्खीम ने गहन विश्लेषण के आधार पर जो समाजशास्त्रीय समझ दी है उसकी जानकारी देना है । इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपको निम्न बिन्दुओं पर स्पष्टता प्राप्त होगी ।

(अ) दुर्खीम धर्म की क्या व्याख्या करते हैं । उनके मतानुसार धर्म के क्या तत्व होते हैं।

(ब) धर्म का प्रारम्भिक स्वरूप क्या रहा होगा ।

(क) धर्म की उत्पत्ति का स्त्रोत क्या है ।

(ड) समाज में धर्म के बारे में दुर्खीम के विचार और कार्ल मार्क्स के विचारों में क्या समानता है और क्या अन्तर है ।

(ई) समाज में धर्म की क्या भूमिका है ।

इन पहलुओं के उपरांत आप दुर्खीम के प्राथमिक और आधुनिक जटिल समाजों में धर्म से जुड़ी वास्तविकताओं तथा दुर्खीम के विचारों को जानेंगे । अन्य सामाजिक विचारकों की दुर्खीम के विचारों के प्रति प्रमुख बौद्धिक प्रतिक्रियाऐं क्या रही हैं, आदि विषयों पर भी जानकारी प्राप्त करेंगे ।

6.1 प्रस्तावना

दुर्खीम का जन्म एक ऐसे यहूदी परिवार में हुआ था जहाँ धार्मिक विधि -विधानों तथा विश्वासों का विशेष स्थान था । परन्तु दुर्खीम स्वयं को धर्म से जुड़े विश्वासों से कोई खास लगाव नहीं था तथा विधि -विधानों में भी उनकी कोई आस्था नहीं थी । फिर भी नैतिक - व्यवहार में धर्म के प्रभाव का महत्व वे जानते थे । रूढ़िग्रस्त परिवार में उनके लालन -पालन के फलस्वरूप उन पर धर्म का जो कुछ भी प्रभाव पड़ा हो, एक बात स्पष्ट रूप से कही जा सकती है कि दुर्खीम को धर्म की सामाजिक उत्पत्ति तथा धर्म की प्रकृति (Social origin and nature of religion) के बारे में जानने का प्रारम्भ से ही विशेष आकर्षण रहा था ।

इसी बौद्धिक आकर्षण के फलस्वरूप उन्होंने धर्म के बारे अपने मौलिक विचार रखे, जो विशेष रूप से मध्य आस्ट्रेलिया की अरून्टा (Arinta) आदिम जाति के बारे मे उपलब्ध आंकडों और साहित्य पर आधारित थे । दुर्खीम स्वयं कभी अरून्टा आदिम जाति में धर्म का अध्ययन करने के लिए आस्ट्रेलिया नहीं गये । फिर भी उपलब्ध साहित्य के गहन अध्ययन के आधार पर उन्होंने धर्म के बारे में प्रचलित सिद्धान्तों और मान्यताओं का खण्डन करते हुए कहा कि समाज मे धर्म का जन्म व्यावहारिक कारणों से होता है । दूसरे शब्दों में धर्म समाज जीवन की कई आवश्यकताओं को संतुष्ट करने के लिये उत्पन्न होता है ।

6.2 द एलिमेन्ट्री फोर्मस ऑफ द रिलिजियस लाईफ: ग्रंथ परिचय

धर्म और समाज के बीच सम्बन्धों के बारे में दुर्खीम ने द एलिमेन्ट्री फार्मस ऑफ द रिलिजियस लाईफ' शीर्षक का ग्रंथ लिखा । यह ग्रंथ फ्रेन्च भाषा में था और उसका प्रकाशन 1912 में हुआ । तीन वर्ष बाद इस ग्रंथ का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हुआ । दुर्खीम के इस विशाल ग्रंथ के तीन भाग हैं । प्रथम भाग से पहले प्रस्तावना के रूप में धर्म सम्बन्धित प्रचलित ज्ञान का ब्यौरा दिया है । यही दुर्खीम ने आदिम समाजों में पाये जाने वाले धार्मिक विश्वासों और क्रिया -काण्डों का धर्म के प्रारम्भिक स्वरूप समझने में रहे महत्व का उल्लेख करते हुए अपने अध्ययन के प्रश्न को समझाया है । ग्रंथ के प्रथम खण्ड में धर्म में सम्बन्धित कई प्रारंभिक प्रश्नों का औचित्य बताते हुए धर्म की व्याख्या की आवश्यकता के बारे में अपना पक्ष स्पष्ट किया । इसके अलावा धर्म की उत्पत्ति के बारे मे जीवनवाद प्रकृतिवाद तथा आत्मा के परलौकिक शक्ति के रूप में रूपान्तर आदि में जुड़े विचारों का खण्डन किया है । इस ग्रंथ में दूसरे खण्ड के अंतिम चरण में धर्म के प्रारम्भिक स्वरूप के बारे में अपनी बात रखते हुए 'गणचिन्ह वाद'' या टोटेमिजम (Totemism) को धर्म का प्रारम्भिक स्वरूप अध्ययन किया है । इस ग्रंथ के दूसरे खण्ड में 'गणचिन्ह ' से जुड़े पवित्रता के विश्वासों के स्त्रोत गणचिन्ह के साथ जुड़ी सर्वशक्तिमान की भावनाऐं तथा पवित्र और सामान्य वस्तुओं का वर्गीकरण; गण (clan) का संगठित स्वरूप; व्यवहार में पालन करने के. निषेध आदि का विश्लेषण दिया है । यहाँ दुर्खीम ने धर्म से जुड़े कई प्रस्तावित सिद्धान्तों का खण्डन भी किया है । धर्म और जादू में विद्यमान तात्विक भेद को समझाया है । ग्रंथ के तीसरे खण्ड में धर्म से जुड़ी क्रिया -काण्डों की श्रृंखला का वास्तविक जीवन में पड़ती सकारात्मक तथा नकारात्मक प्रभावों का विवेचन किया है

। इन क्रिया काण्डों की पवित्रता को बनाये रखने के लिये सामाजिक जीवन में निश्चित निषेधों के पालन का महत्व समझाते हुए उनकी अनिवार्यता भी दर्शाई है । इसके अलावा समाज को एक नैतिक बल (Moral face) के रूप में परिभाषित कर धर्म के सामाजिक प्रकार्यो की व्याख्या की है ।

6.3 दुर्खीम के मतानुसार धर्म की व्याख्या

दुर्खीम ने धर्म की व्याख्या करने से पहले यह स्पष्ट किया कि धर्म का सही अर्थ और जन्म 'आत्मा' 'परमात्मा' अथवा प्राकृतिक शक्ति में विद्यमान है । इसे विश्वास के आधार पर नहीं समझाया जा सकता है । उनका कहना है कि धर्म का सम्बन्ध सामूहिक चेतना से है । उसे ईश्वर में विश्वास की बात से जोड़ कर समझाया नहीं जा सकता, क्योंकि विश्व में कई धर्म ऐसे हैं जो ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानते । उदाहरण के तौर पर उन्होंने कहा कि बौद्ध धर्म में ईश्वर के अस्तित्व को नहीं माना जाता। दुर्खीम के मतानुसार धर्म वास्तव मे समाज का ही प्रतिबिम्ब है । दूसरे शब्दों में कहे तो धर्म सामूहिक प्रतिनिधित्व (Collective Representation) का प्रतिबिम्ब है ।

धर्म की व्याख्या करने के प्रयास में दुर्खीम ने दूसरे महत्व को स्पष्टता करते हुए कहा कि विश्व के सभी धर्मों में विश्वासों और प्रतीकों (Beliefs and Symbols) को सांसारिक जीवन की दिन -प्रतिदिन की प्रवर्तियों से अलग रखा जाता है । इतना ही नहीं परन्तु धर्म से जुड़े विश्वासों और प्रतीकों के प्रति दृढ़ आस्था और पवित्रता के भाव होते हैं । तीसरी बात यह कही कि सभी धर्मो में वास्तविक जगत की सभी वस्तुओं को दो श्रेणियों में विभक्त किया जाता है । ये श्रेणियाँ हैं (1) पवित्र (Sacred) (2) सामान्य या प्रोफेन (Profane) वस्तुऐं । पवित्र वस्तुओं को धर्म से जोड़ा जाता है। अत: इनके प्रति श्रद्धा एवं पूजा के भाव होते हैं । ये तत्व या वस्तुऐं इसलिये पवित्र मानी जाती है क्योंकि सामूहिक चेतना इन्हें पवित्र गिनती है । यान कि किसी भी पवित्र वस्तु के ऐसे कोई नैसर्गिक गुण नहीं होते हैं जो अपने आप में पवित्र हों । समूह या समाज उन्हें पवित्र गिनता है । इस कारण से वे पवित्र मानी जाती है और उन्हें धर्म से जोड़ा जाता है । उदाहरण के तौर पर हिन्दू धर्म में गाय, तुलसी और स्वस्तिक चिन्ह को पवित्र माना जाता है, क्योंकि समस्त समाज इन्हें पवित्र गिनता है । इस तरह के समस्त उदाहरण अन्य धर्मो से भी मिल सकते हैं । पवित्र वस्तुओं के बारे में दुर्खीम ने एक अन्य महत्वपूर्ण स्पष्टता भी की है । उनके अनुसार पवित्र वस्तुओं का यह गुण होता है कि जब वे सामान्य या साधारण (profane) वस्तुओं के संसर्ग में आती है तो उनकी पवित्रता का क्षय हो जाता है, परन्तु इसका उल्टा सम्भव नहीं होता । इसलिये धर्म में प्रायश्चित का प्रावधान होता है, जो समाज स्वीकृत विधि विधानों द्वारा पूरा करना पड़ता है । जब तक इस तरह के विधि विधान नहीं बनाये जाते है तब तक पवित्र वस्तुओं की खोई हुई पवित्रता (Sacredness) पुन: प्रस्थापित नहीं होती ।

पवित्र वस्तुओं को साधारण या 'प्रोफेन वस्तुओं से सदैव अलग रखने की बात को आगे समझाते हुए दुर्खीम कहते हैं कि जब व्यक्ति सांसारिक जीवन क्षेत्र से धार्मिक जीवन के क्षेत्र में प्रवेश करता है तब भी उक्त व्यक्ति को समाज स्वीकृत संस्कार या दीक्षा (Initiation) ग्रहण

करनी पड़ती है । इसके लिये भी पूर्व परिभाषित विधि विधान होते हैं जो सांसारिक जीवन की अपवित्रता को आलोप करके उक्त व्यक्ति में धार्मिक पवित्रता का आरोपण करने के आशय से किये जाते हैं । इस तरह से जब व्यक्ति का संस्कार या दीक्षा हो जाती है । उसके बाद उसका भी सांसारिक जीवन के क्षेत्र में नाता टूट जाता है । उसकी भर्ती मठ (Monastery) से जुड़े सामाजिक संगठन में हो जाती है । यह मत से जुड़ाव सामाजिक संगठन, कुदरती पर्यावरण से परे और बाहर होता है । उसका अपना कृत्रिम आवरण होता हैं जो कि कुदरती पर्यावरण जहाँ सामान्य जन अपना जीवन यापन करते हैं उससे सम्पूर्ण भिन्न होना है ।

अन्य धर्म की व्याख्या के सम्बन्ध में दुर्खीम ने एक अन्य महत्व की बात यह कही कि केवल समस्त तत्वों को "पवित्र" और ‘‘साधारण" की श्रेणियों में विभाजित कर देना ही धर्म के लक्षणों को जानने के लिये काफी नहीं है । धर्म के सम्बन्ध एकमात्र विश्वासों (Beliefs) से ही नहीं परन्तु उसके अनिवार्य तत्वों में विधि -विधान; क्रिया -काण्ड तथा उत्सवों आदि का भी उतना ही महत्वपूर्ण स्थान है । इनके जरिये धर्म का सामाजिक पहलू अभिव्यक्त होता है । दूसरे शब्दों में इनके माध्यम से समूह को जोड़ता है या सुगठित करता है । दुर्खीम ने "चर्च" शब्द का प्रयोग धर्म गुरुओं के कोटि क्रम (Hierarchy) या पुजारियों के अर्थ में कतई नहीं किया । उनका तात्पर्य केवल श्रद्धालुओं के अपने नियमित सामाजिक संगठन से था । आप भी देखते होगे कि एक ही प्रकार के धार्मिक विश्वासों और उनसे जुड़े विधि विधानों तथा उत्सवों को मनाने वाले लोगों में स्वत: निकटता और संगठन जन्म लेता है।

दुर्खीम ने यह भी कहा कि धर्म से जुड़ी सभी सामाजिक प्रवृत्तियाँ इसी सामाजिक संगठन के संदर्भ में होती है । इसी के आधार पर उन्होंने धर्म और जादू Religion and magic) के बीच अन्तर बताते हुए कहा कि

(अ) धर्म मे श्रद्धालुओं का अपना सामाजिक संगठन होता है । जब कि जादू मे क्रिया काण्ड होते हैं । परन्तु जादू को मानने वाले का ऐसा कोई संगठन नहीं होता ।

(ब) धर्म से जुड़े मठाधिपति या धर्म गुरू के नेतृत्व की तरह जादूगर का नेतृत्व नहीं होता था । उसकी समूह के नेता की हैसियत नहीं होती । परन्तु उसके वैयक्तिक रूप से कोई ग्राहक या आसानी होते है ।

धर्म की व्याख्या करने में दुर्खीम ने उपरोक्त तत्वों को आधार स्वरूप माना है । उन्होंने धर्म की व्याख्या करते हुए कहा कि "एक धर्म पवित्र वस्तुओं से - यानी कि वे वस्तुऐं कि जो अलग रखी जाती हैं और वर्जित होती -हैं जुड़े विश्वासों तथा विधि विधानों की एक ऐसी सुसंकलित व्यवस्था होती है जो अपने अनुयाइयों को एक नैतिक समुदाय में संगठित करती है, जिसे ‘‘चर्च’’ के नाम से जाना जाता है । इस तरह दुर्खीम के अनुसार धर्म केवल "पवित्र" वस्तुओं से जुड़ा होता है । वस्तु के प्रति "पवित्रता" के भाव समूह जीवन में से प्रकट होते हैं । किसी भी समाज मे धर्म का अपवित्र वस्तुओं से सम्बन्ध नहीं होता । तद्उपरांत चूँकि ये पवित्रता के भाव सामूहिक जीवन में से जन्म लेते हैं, अत: इनका व्यक्ति की मनोवृति या जैवकीय वृतियों से कोई लेना -देना नहीं होता है । समूह की भावनाओं या श्रद्धा के बिना इन पवित्र वस्तुओं का अपना स्वयं का ऐसा कोई धार्मिक महत्व नहीं होता ।

6.4 दुर्खीम और कार्ल मार्क्स के विचारों से समाज धर्म का स्थान

इस इकाई के प्रारम्भ में आपने देखा कि धर्म और समाज का विषय प्रमुख सामाजिक विचारकों का एक प्रिय विषय रहा है । दुर्खीम और कार्ल मार्क्स दोनों ने अपने -अपने नजरिये से समाज में धर्म के महत्व को स्वीकार किया है । परन्तु विषय के गहन विश्लेषण में दोनों के अभिगमों में आधारभूत तात्विक भेद रहा है । अब आपको संक्षेप में इन दोनों महान सामाजिक विचारकों के मतभेद की जानकारी देंगे ।

(i) दुर्खीम और कार्ल मार्क्स दोनों ने समाज की संकल्पना में आधार भूत अंतर है । मार्क्स समाज को सामाजिक वर्गो के विभाजित स्वरूप को समझाते हैं जबकि दुर्खीम समाज को उसके विकास की हर अवस्था में सामाजिक सुदृढ़ता (Social Solidarity) के माध्यम से समझाते हैं । इसी कारण दोनों के विचारों मे समाज में धर्म की भूमिका के बारे में आधारभूत अंतर पाया जाता है ।

(ii) कार्ल मार्क्स के कथनानुसार समाज में धर्म का अस्तित्व एक सामाजिक वर्ग द्वारा दूसरे सामाजिक वर्गो के नियंत्रण और शोषण के लिये होता है । जबकि दुर्खीम समाज में इस तरह के वर्गो का अस्तिव ही नहीं मानते हैं । अत: धर्म को समस्त समाज की सामूहिक चेतना और सामूहिक प्रतिनिधित्व का रूप दर्शाते हैं ।

(iii) मार्क्स धर्म को समाज में विघटन लाने वाला एक बल (force) बनाते हैं, जबकि दुर्खीम धर्म को समाज की नैतिकता का आधार और समाज में एकता लाने वाला बल (Force) कहते हैं।

(iv) दुर्खीम धर्म को केन्द्र में रखकर इस विश्व की सभी वस्तुओं को पवित्र और साधारण की दो श्रेणियों में विभाजित करते हैं । कार्ल मार्क्स के विश्लेषण में इस प्रकार की योजना नहीं है ।

(v) कार्ल मार्क्स ने धर्म को जनता के संदर्भ में अफीम (ओपियन ऑफ मॉसेज) की उपमा दी है, जबकि दुर्खीम ने इसे सामूहिक चेतना का अभिव्यक्त रूप बताया है ।

(vi) कार्ल मार्क्स ने समाज में धर्म का आधार उत्पादन के आर्थिक सम्बन्ध बताया है जबकि दुर्खीम धर्म की सामूहिक जीवन का स्वयंभू पैदाइश बताते हुए अंत में कहते हैं कि समाज ही ईश्वर हैं ।

इस तरह से 19वीं सदी के इन दो मेधावी विद्वानों के विचारों में इस विषय पर तात्विक भेद पाया जाता है । दोनों ने अपने -अपने दृष्टि बिन्दु से समाज में धर्म के अस्तित्व के बारे में मौलिक योगदान किया है । बौद्धिकों की दुनिया में दोनों विचारक युग प्रवर्तक माने गये हैं । इनके योगदानों का आज भी उतना ही महत्व है। खासकर के अपने अध्ययन में उन्होंने जो आधारभूत प्रश्न खड़े किये उनकी मौलिकता आज भी सभी स्वीकारते है।

इसके अलावा इन्होंने इन प्रश्नों के जो उत्तर दिये वे भी नये -नये अध्ययनों के लिये प्रेरणा के स्त्रोत रहे हैं । संक्षेप में कहे तो इन दोनों महान विचारकों ने सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में जो सैद्धान्तिक आधार प्रदान किये वे आज भी नये अध्ययनों के लिये दिशासूचक (Light House) की भूमिका अदा करते हैं ।

6.5 धर्म का प्रारंभिक स्वरूप: गणचिन्ह वाद (टेटेमिजम (Totemism)

धर्म और समाज के बीच सम्बन्धों के अध्ययनों में दुर्खीम का मुख्य उद्देश्य धर्म के मूल तत्व और धर्म का प्रारम्भिक स्वरूप जानना था । इसलिये उन्होंने आस्ट्रेलिया की अरून्टा आदिम जाति के बारे में उपलब्ध साहित्य तथा विश्लेषणों का आधार रखा । इस अर्थ में उनका यह योगदान द्वैतियक स्त्रोतों पर आधारित हैं । चूँकि दुर्खीम ने धर्म का प्रारम्भिक स्वरूप समझाया था अत: उन्हें अपने गहन अध्ययन के लिये ऐसा समाज पसंद किया था जो आदिम अवस्था में हो और जहाँ पर बाह्य समाजों का प्रभाव का अभाव हो । इस तरह के समाज के चयन के लिये उन्होंने तत्कालीन अन्य विद्वानों द्वारा भिन्न -भिन्न समाजों के बारे में जो अथेनोग्राफिक अध्ययन प्रस्तुत किये गये थे उनका अध्ययन किया और अन्त में मध्य आस्ट्रेलिया की अरून्टा आदिम जाति का अपने गहन अध्ययन के लिये चयन किया ।

यहाँ आपका यह प्रश्न हो सकता है कि दुर्खीम को धर्म के मूल तत्व जानने की आतुरता क्यों थी? और उन्होंने इसके लिये आदिम समाज का चयन ही क्यों किया? इन प्रश्नों के जबाव के तौर पर निम्न दो कारण प्रस्तुत हैं -

1. दुर्खीम मानते थे कि धर्म विकास कि प्रक्रिया और उसकी जटिलता के आधार पर उसका सरल और प्रारम्भिक स्वरूप नहीं जाना जा सकता । धर्म के सरल और मूल तत्वों को समझने के लिये आधुनिक जटिल समाजों से आदिम समाजों में विद्यमान होते हैं ।
2. समय और स्थल के साथ धर्म में जो परिवर्तन आते गये उन्हें सही दिशा में समझने का आधार केवल धर्म के प्रारम्भिक स्वरूप को समझने से मिल सकता है ।

उपरोक्त परिपेक्ष में अरून्टा आदिम जाति के बारे में उपलब्ध जानकारी के आधार पर दुर्खीम ने प्रतिपादित किया कि धर्म का प्रारंभिक स्वरूप गणचिन्हवाद टोटमवाद है । उन्होंने धर्म का उद्भव कैसे हुआ यह जानने के बजाय किन्हीं परिस्थितियों ने धर्म को जन्म दिया यह जानना महत्वपूर्ण बताया । इसलिये दुर्खीम ने अरून्टा आदिवासीयों के जीवन के दो पहलूओं का विश्लेषण किया:

अ. जब व्यक्ति अकेला होता है. और

ब. जब व्यक्ति अपने अन्य लोगों के साथ सामूहिक जीवन यापन करता है ।

दुर्खीम ने कहा कि आदिम समाजों में जब व्यक्ति अकेला होता है तो उसे जीवन के हर कदम पर असुरक्षा, हताशा और असफलता का भय खाये रखता हैं । उसका जीवन संघर्ष से भरा और डरावना लगता है । अकेलेपन में इस प्रकार की अनुभूति किसी एक खास व्यक्ति को ही होती हो, ऐसी बात नहीं है । वास्तव में सभी व्यक्तियों को अकेले जीवन यापन करने के क्षणों में ऐसी अनुभूतियाँ होती है । इस अर्थ में सभी के अपने -अपने अनुभवों में समरूपता अथवा असुरक्षा पाई जाती है ।

तद्उपरान्त जीवन में कोई नवीनता, गतिशीलता और आनन्द की अनुभूति का भी अभाव होता है। परन्तु इसके विरूद्ध जब व्यक्ति समूह में अपने लोगों के साथ जीवन यापन करता है तो उसे एक अदिपेय आनन्द तथा सुरक्षा की अनुभूति होती है । उसके जीवन में एक

अनन्य शक्ति तथा गतिशीलता का संचार होता है तब तक उसे आनन्द और सुरक्षा की अनुभूति होती रहती है, परन्तु ज्यों ही वो समूह से अलग होता है उसे अकेलेपन की असुरक्षा और डरावनी परिस्थितियों की अनुभूति पुन: घेर लेती है । ऐसा क्यों होता है? इस प्रश्न के जबाव में दुर्खीम ने कहा कि आदिम मानव के दिमाग में समूह में स्थित किसी अद्‌वितीय शक्ति का एहसास आता है । उसे लगा कि व्यक्ति के वैयक्तिक जीवन से परे समूह जीवन की अपनी हस्ती सर्व शक्तिमान होती है । इस बात की अनुभूति के कारण समूह या समाज की शक्ति का विश्वास अस्तित्व में आया और समूह के प्रति श्रद्धा तथा भक्ति के भावों का जन्म और विकास हुआ । समूह के प्रति इन भावों को प्रकट करने के लिये समूह के प्रतीक या गण चिन्ह का भाव प्रकट हुआ, जिसे टोटम कहा जाता है । यह गण चिन्ह पशु पक्षी पेड़ पौधे, प्राकृतिक तत्व या अन्य कोई भी चिन्ह हो सकता है, जिसे समूह या गोत्र के लोग सामूहिक रूप से अपने कुल का प्रतीक मानते हैं । अत: यह श्रद्धा, आस्था या सामूहिक चेतना की बात होती है । इसमें निहित शक्ति तथा पवित्रता का आधार उक्त चिन्ह के अपने नैसर्गिक लक्षणों या स्वरूप आदि में नहीं होता है । उक्त गण चिन्ह पवित्र और शक्तिमान है । क्योंकि समूह ऐसा मानता है ।

दुर्खीम ने कहा कि गण चिन्ह के साथ जुड़ी धार्मिक विधि विधान की श्रृंखला समूह के प्रति श्रद्धा और भक्ति भाव क्षणिक नहीं होते परन्तु आदिम समाज के लोगों के समग्र जीवन का एक अन्तर्गत भाग हो जाता है । समूह में विद्‌यमान शक्ति को प्रसन्न रखने के लिए विविध विधि विधानों के द्‌वारा लोग अपने आप को उसके समक्ष समर्पित करते हैं और दिन प्रतिदिन के जीवन में उक्त शक्ति के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए समूह द्‌वारा निर्देशित निषेधों का पालन करते हैं । इन निषेधों के पालन के पीछे एक विश्वास और भय यह भी होता है । उनके उल्लंघन से समूह की शक्ति की पवित्रता भ्रष्ट होगी तथा समूह की शक्ति अप्रसन्न होगी । इसके परिणामस्वरूप वैयक्तिक और सामूहिक जीवन संकटग्रस्त और संघर्षमय बनेगा । इसी कारण इस शक्ति को सदैव प्रसन्न रखने के लिये थोड़े -थोड़े अन्तराल के बाद भिन्न -भिन्न विधि विधान तथा उत्सव होते रहते हैं । ऐसे समय पर गण या समूह के लोग एकत्रित होते हैं और सामूहिक रूप से नृत्य, संगीत, धार्मिक -विधि विधान आदि में भाग लेते हैं । इसके अलावा समुदाय में महत्वपूर्ण माने जाने वाली वस्तुओं का विनिमय एवं समर्पण करते है । दुर्खीम ने यह कहा कि ऐसे अवसरों पर लोग आपस में मिलते हैं तथा अपने सुख -दुःख के समाचार बांटते हैं । इन सभी विशिष्ट अनुभूतियों के कारण आदिम समाज के लोगों में समूह या गण में विद्‌यमान शक्ति का विश्वास उत्तरोत्तर पुर्नस्थापित होता रहता है और लोगों को एक -दूसरे से सामूहिक स्तर पर जोड़े रखता है।

इस तरह से दुर्खीम के मतानुसार धर्म का प्रारम्भिक स्वरूप गण चिन्हवाद या टोटमवाद है जो समूह में विद्‌यमान शक्ति के विश्वास में से प्रकट होता है । यह विश्वास सामूहिक चेतना का एक रूप होता है जिसका धार्मिक विधि विधान आदि सामूहिक प्रतिनिधित्व करते हैं ।

अंत में उपरोक्त वर्णन के आधार पर कहा जा सकता है कि दुर्खीम ने गणचिन्ह वाद की विश्लेषणात्मक स्वरूप 19 वीं सदी के क्रान्तिकारियों ने धर्म की उत्पत्ति को ऐतिहासिक घटना के रूप में किस तरह से हुई यह दर्शाने का प्रयास किया, जबकि दुर्खीम ने यह जानने का प्रयास किया कि धर्म की उत्पत्ति क्यों हुई । उन्होंने प्राथमिक, निरक्षर और सरल समाजों का

आधार रख कर धर्म के सर्वसामान्य सामाजिक लक्षण ढूँढ निकालने का प्रयत्न किया और कहा कि धर्म के ऐसे लक्षण समय और स्थल के भेद बिना सर्व समाजों में पाये जाते हैं । उदाहरण के तौर पर आदिम समाजों में पाया जाने वाला गण चिन्हवाद आधुनिक विज्ञान और टेक्नोलॉजी पर आधारित जटिल समाजों राष्ट्र ध्वज, राष्ट्रीय पक्षी आदि अनेक राष्ट्र के प्रतीकों के स्वरूप में पाया जाता है । दूसरा आधुनिक समाजों मे ईश्वर भिन्न -भिन्न स्वरूपों में भले ही देखा जाता है फिर भी यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि विश्व के सभी धर्मो में पवित्र और साधारण वस्तुओं का भेद पाया जाता है, और केवल पवित्र वस्तुओं को ही धर्म समाज का नैतिक आधार प्रदान करते हैं जो समाज के हितों और संघठन का संवर्धन करता है ।

अब आप दुर्खीम के अध्ययन के धर्म की समाज में एकता लाने वाले एक बल के रूप में जानकारी प्राप्त करेंगे ।

6.6 दुर्खीम के अनुसार समाज मे धर्म की भूमिका

दुर्खीम ने समाज में धर्म के प्रारम्भिक स्वरूप और उसके सामाजिक लक्षणों के अध्ययन के आधार पर जो योगदान किया उससे समाजशास्त्र में प्रकार्यात्मक विश्लेषण को असाधारण प्रोत्साहन प्राप्त हुआ यह सर्वविदित है । सही अर्थ में कहे तो समाजशास्त्र में प्रकार्यात्मकवाद के उत्तम उपयोग का उदाहरण धार्मिक उत्सवों और विधि विधानों के विश्लेषण मे इमाईल दुर्खीम के योगदान मध्य आस्ट्रेलिया की अरून्टा आदिम से प्राप्त तथ्यों पर आधारित था ।

समाज में धर्म की भूमिका के बारे में दुर्खीम के विचार जानने से पहले एक महत्व की जानकारी प्राप्त करना उचित होगा । दुर्खीम ने इस संदर्भ में धार्मिक विधि विधानों के दो स्वरूप बताये

(अ) निषेधात्मक विधि -विधान : जो निषेधों तथा प्रतिबन्धक क्रियाऐं दर्शाते हैं । इन क्रियाओं को दुर्खीम पवित्रता वाले श्रावण मास में हिन्दू या रमजान के महीने में मुसलमान बिरादरी में दिन -प्रतिदिन की प्रवृतियों में कई निषेधों का कड़ाई के साथ पालन करते हैं । चूँकि धार्मिक विधि विधानों का यह नाकारात्मक पक्ष होता है अत: दुर्खीम इसे 'द नगेटिव कल्ट' की उपमा देते हैं ।

(ब) सकारात्मक विधि -विधान : ये धार्मिक विधि -विधान और उत्सव धर्म से जुड़ी पवित्र वस्तुओं के प्रति आस्था और समर्पण के सकारात्मक पहलू होते हैं । इन अवसरों पर प्रिय वस्तुओं का त्याग अनुकरण, स्मृतिरूपी और पियक्यूलर यानि की पश्चातापरूपी विधि विधान किए जाने हैं । सामूहिक भोजन का आयोजन भी होता रहना है । ऐसे अवसर पर समूह के आराध्य देव का भोग लगाया जाना है तथा माँस या अन्य व्यंजन का शेष भाग सभी सदस्यों द्वारा "प्रसाद" के रूप में ग्रहण होता है । इन्हें करते वक्त समूह की शक्ति की अनुभूति प्रकट होती है और अद्वितीय आनन्द अनुभव किया जाता है । इस तरह का अनुभव वैयक्तिक ढंग से कतई प्राप्त नहीं किया जा सकता है । दुर्खीम इसे 'पोजीटीव कल्ट' विधि विधान के इस सकारात्मक पक्ष की उपमा देते है ।

अब आप समाज में धर्म की भूमिका की जानकारी प्राप्त करेंगे । आपने आगे देख कि दुर्खीम के धर्म के अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य किन परिस्थितियों में अथवा समाज में धर्म का उद्भव क्यों हुआ, यह जानता था । इस सम्बन्ध में दुर्खीम ने अरून्टा आदिम जाति में धर्म की भूमिका के बार में जो तथ्य संकलित किए उसके आधार पर उन्होंने धर्म के चार प्रमुख सामाजिक प्रकार्यों को समझाया है ।

(1) एक अनुशासनात्मक और प्रारम्भिक समाजीकरण का प्रकार्य
(A disciplinary and preparatory function)

(2) सामाजिक एकता लाने में प्रकार्य
(A cohesive function)

(3) आनन्द -उल्लास और खुशहाली का अनुभूति प्रकार्य
(Euphoric feeling and euphoric function)

(4) धरोहर को पुर्नस्थापित करने का प्रकार्य सामाजिक

(1) एक अनुशासनात्मक और प्रारम्भिक समाजीकरण का प्रकार्य

(A disciplinary and preparatory function)

समाज की निरंतरता तथा व्यापक तभी सम्भव और सुरक्षित हो सकती है, जबकि समाज या समूह के सभी सदस्य समाज के नीति -नियमों का अनुमोदन करें और समाज के हित में अपने व्यवहार और प्रवृतियों पर स्वयं भू अंकुश लायें । दुर्खीम कहते हैं कि धार्मिक उत्सव और विधि -विधान व्यक्ति को अपने पर स्व -नियंत्रण लादने और संयम से जीवन यापन की शिक्षा देते है । त्याग और समर्पण के भाव आरोपित कर समाज के लिये निष्ठावान सदस्य तैयार करते है । इसके फलस्वरूप समाज को अपने अस्तित्व को टिकाये रखने के लिये देखा कि दुर्खीम के मतानुसार समाज का मूलभूत नैतिक आधार धर्म पर ही निर्भर होता है । धर्म की शिक्षा के कारण ? ही व्यक्ति समूह के हित में अपना सर्वस्व लुटाने को तैयार हो जाता है । समाज में धर्म की इस आधारभूत भूमिका के फलस्वरूप अनुयायिओं में मूल्यों तथा चेतना का जन्म होता है ।

(2) सामाजिक एकता लाने में प्रकार्य

दुर्खीम के धर्म और समाज के बीच सम्बन्धों के बारे में मुख्य बात यह है कि दुर्खीम धर्म को समाज में एकता लाने वाले एक बल के रूप में दर्शाते है । धार्मिक उत्सव और विधि -विधान के अवसर लोगों को साथ -साथ इकट्ठा होकर सामूहिक रूप से अपनी आस्था की अनुभूति के अलावा समूह की शक्ति के समक्ष सभी को एक होकर समर्पित होने के भाव का अनुभव करवाते हैं । ऐसी अनुभूति वैयक्तिक जीवन में प्राप्त करना नितांत असंभव होना है । ये ही ऐसे अवसर होते हैं जबकि व्यक्ति अपनी दैनिक जीवन की कठिनाईयों को भूल कर अपनी हस्ती को समूह में विलीन कर देता है । तद्उपरान्त एक अन्य महत्व की बात यह है कि धर्म अपने अनुयायिओं को जीवन के समान ध्येय और उन्हें प्राप्त करने के निश्चित समाज स्वीकृत मार्ग प्रस्तावित होती है । इससे एकाधिकार प्रस्तावित होती है । इससे आपस में भाईचारा,

सौहार्द की भावना जन्म लेती है । समूह या समाज के हित में आपसी संघर्ष स्वत: टल जाते हैं और सामाजिक एकता प्रबल होती है ।

(3) आनन्द -उल्लास और खुशहाली की अनुभूति का प्रकार्य

धर्म से जुड़े विधि -विधान और उत्सव आदि लोगों को एक अद्‌वितीय आनन्द उल्लास की अनुभूति करवाते हैं । इससे व्यक्ति की समाज के प्रति जिम्मेदारी तथा निष्ठा की भावना प्रबल होती है । विशेषरूप से देखा जाय तो संकट के समय में व्यक्ति समूह के साथ रहकर असाधारण सुरक्षा और शक्ति का अनुभव करता है । विपरित समय में भी ऐसे अवसर उसे आनन्द उल्लास का एहसास कराते है । धार्मिक त्यौहारों 'पर नये -नये व्यंजन बनाना, नये -नये कपड़े पहनना, सामूहिक रूप से समूह के दृष्ट या गण -चिन्ह के प्रति पूजा तथा समर्पण प्रकट करना आदि सभी प्रवृतियाँ इन अवसरों पर अनुभव किये जाने वाले आनन्द और खुशियों के घोतक हैं । चूंकि ये अवसर निरंतर आते रहते हैं अत: ये भाव भी उत्तरोत्तर पुर्नस्थापित होते रहते हैं ।

(4) सामाजिक धरोहर को पुर्नस्थापित करने का प्रकार्य

समाज मे धर्म की प्रकार्यात्मक भूमिका समझाते हुए दुर्खीम कहते हैं कि धार्मिक विधि -विधान और अनुष्ठान समूह को ऐसे अवसर प्रदान करते हैं जबकि लोग सामूहिक की धरोहर के प्रति गौरव के भाव जागृत होते है, परन्तु उनके प्रति आस्था और समर्पण के क्षेत्र में भी प्रबलता आती है । अतीत के गौरव को याद कर वे नई सामूहिक शक्ति प्राप्त करते हैं जो उन्हें बदलती हुई परिस्थिति में भी एक जुट रहने का सामर्थ्य प्रदान करती है । इसके अलावा समूह अपने वर्तमान को इन उत्सवों और त्यौहारों के जरिये भूतकाल से जोड़ता है । इस अर्थ में धर्म की भूमिका शैक्षणिक प्रकार्य भी अदा करती है ।

आपने देखा कि धर्म समाज में एक सामाजिक बल के कार्य के रूप में सामाजिक एकता लाने के उपरांत समूह के आनन्द, प्रमोद, सुरक्षा और विरासत के संवर्धन में महत्वपूर्ण प्रकार्यात्मक भूमिका पूरी करता है।

6.7 समीक्षा

दुर्खीम के इस गहन अध्ययन के फलस्वरूप निःसंदेह समाजशास्त्र में धर्म का प्रारम्भिक स्वरूप और उसके प्रकार्यो को समझने में नई दिशा मिली है । तद्‌उपरांत प्रकार्यात्मक विधि का उत्तम उदाहरण मिला है । दुर्खीम के इन विचारों ने सामाजिक विचारकों में एक नई जागती को जन्म दिया, जिसके फलस्वरूप दुर्खीम के विचारों की विवेचना भी हुई है । रॉबर्ट मर्टन ने अपनी प्रतिक्रिया देते हुए धर्म की प्रकार्यात्मक भूमिका के विचार का खण्डन किया । मर्टन कहते हैं कि जब भिन्न -भिन्न धर्मो के लोग एक ही समाज में रहते हैं तो धार्मिक मतमतान्तर और स्वार्थों को लेकर समाज के सदस्यों में अक्सर टकराव और संघर्ष होती है । मानव इतिहास में धर्म के नाम पर हुए युद्ध इसका एक सबूत देते हैं । कभी -कभी एक ही धर्म के पंथों और गुटों के बीच भी ऐसे हिंसात्मक टकराव पाये जाते हे । दूसरा, दुर्खीम 'का यह मानना कि' केवल धर्म ही अपने अनुयायिओं को जीवन के अंतिम लक्ष्य और मूल्य देता है यह सही नहीं है । मर्टन कहते हैं कि समाज में जो लोग नास्तिक होते हैं वे भी जीवन के अंतिम मूल्यों और ध्येय में अडिग

आस्था रखते हैं । यह, बात दुर्खीम के विचारों से नहीं समझाई जा सकती । तीसरा मर्टन यह भी कहते हैं कि जब धर्म के निदेशों तथा मूल्यों का "वृहद समाज के अन्य स्त्रोतों से आये निर्देशों तथा मूल्यों का वृहद समाज के अन्य स्त्रोतों से आये निर्देशों तथा मूल्यों के साथ मेल नहीं बैठता है, उस परिस्थिति में धर्म के इस प्रश्न' का उत्तर दुर्खीम के योगदान से नहीं मिलता है । इन्हीं भाव से मिल्टन सिंगर तथा विलियम जे.गुडे ने भी अपनी प्रतिक्रियाऐं दी हैं । इसी तरह की आलोचनात्मक टिप्पणी करते हुए हैरी एलपर्ट (Harry Alpert) कहते है कि दुर्खीम ने समाज में सामाजिक एकता लाने वाले एक बल के रूप में केवल धार्मिक विधि - विधान और उत्सवों का आधार समाज, में क्रियाशील धर्म से परे काम करने वालों की अवहेलना की है । आलोचकों की प्रक्रियायें तार्किक और तथ्यपूर्ण हैं । परन्तु जो भी जो दुर्खीम का धर्म और समाज का साहित्य एक महत्वपूर्ण कृति के रूप में देखी जाती है । क्योंकि उन्होंने समाजशास्त्रीय अध्ययन के हेतु जो प्रश्न खड़े किये और जिस बौद्धिक परिपेक्ष में यह अध्ययन किया उसे आज भी महत्वपूर्ण माना जाता है ।

6.8 सारांश

धर्म और समाज के बीच सम्बन्धों का अध्ययन सामाजिक विज्ञानों के विकास के प्रारम्भिक समय सही सामाजिक विचारकों के आकर्षण का विषय रहा है । अगस्त कॉम्ट कार्ल मार्क्स, मेक्स, वेबर, टॉनीज आदि की तरह इमाईल दुर्खीम ने भी समाजशास्त्रीय अध्ययनों में केन्द्रित स्थान हासिल किया है । उन्होंने धर्म की एक सामाजिक तथ्य के रूप में व्याख्या की और कहा कि धर्म के उद्भव का स्त्रोत एक मात्र समाज और सामूहिक जीवन है । ईश्वर का विश्वास स्वयं समाज की खोज है । उन्होंने धर्म के दो प्रमुख पहलू बताये । एक विश्वास और दूसरा विधि -विधान तथा उत्सवों की श्रृंखला । तदउपरान्त दुर्खीम ने कहा कि सभी धर्मो में प्राकृतिक और सांसारिक वस्तुओं को पवित्र और सामान्य या साधारण की श्रेणियों में विभाजित होता है । पवित्र वस्तुओं को धर्म के साथ जोड़ा जाता है और उसकी पवित्रता बनाये रखने के लिये विविध निषेधों का पालन होता है । परन्तु किन्हीं कारणों से इनकी पवित्रता खण्डित होती है तो समाज स्वीकृत विधियों से पश्चाताप करके उनकी अपवित्रता का नाश किया जाता है ।

दुर्खीम ने धर्म का प्रारम्भिक स्वरूप गण चिन्ह बताया । इसका आधार वैयक्तिक जीवन की कठिनाईयों. हताशा सामूहिक जीवन बिताने के अनुभव की जारी अद्वितीय सुरक्षा आनन्द और सम्पूर्णता की अनुभूति में से फलित समूह में असाधारण शक्ति के अस्तित्व का स्वीकार है । इस शक्ति को प्रसन्न रखने के लिये निरंतर सामूहिक विधि -विधान और उत्सवों का आयोजन होता है । इन्हीं विश्वासों और विधि विधानों के जरिये गणचिन्ह या टोटम (Totem) के प्रति श्रद्धा और पूजा के भाव सहित उसके समक्ष समर्पण के भाव प्रकट हुए । दुर्खीम ने मध्य अस्ट्रेलिया के अरून्टा आदिम जाति के धार्मिक विश्वासों और विधि -विधानों के अर्थघटन के आधार पर ये विचार प्रस्तुत किये ।

इसके उपरांत समाज में धम का क्या भूमिका होती है? इस प्रश्न का भी अध्ययन किया और धर्म समाज में एकता लाने वाले एक बल के रूप में आलेखित किया । धर्म

सम्बन्धित दुर्खीम का यह योगदान समाजशास्त्र में प्रकार्यात्मक विश्लेषण का एक उत्तम उदाहरण माना जाता है ।

6.9 शब्दावली

1. धर्म – विश्वासों और विधि -विधानों की व्यवस्था जो अपने अनुयाइयों को एक नैतिक समुदाय में संगठित करती है । धर्म का सारोकार "पवित्र" (Sacred) वस्तुओं से होता है ।
2. विश्वास – सामूहिक चेतना का एक स्वरूप जो समाज जीवन में से स्वत: जन्म लेता है ।
3. विधि विधान – सामूहिक चेतना का अभिव्यक्त स्वरूप जो सामुदायिक प्रतिनिधित्व (Collective representation) के रूप में पाया जाता है ।
4. गण चिन्ह – यह गोत्र अथवा समूह का प्रतीक होता है । इसके साथ सभी सदस्यों की आस्था जुड़ी होती है और सदैव भाव, तथा पूजा -अर्चना समर्पित की जाति है । गोत्र या समूह का यह चिन्ह, पशु, पक्षी, वृक्ष, पौधा या अन्य कोई प्राकृतिक तत्व आदि हो सकता है। इसे (Totem) टोटम भी कहा जाता है ।
5. पवित्र-वस्तुएं – इस श्रेणी में वे तमाम वस्तुऐं आती हे जिन्हें समूह या समाज धर्म के साथ जोड़ता है । इस श्रेणी में वे तमाम वस्तुऐं आती है जो सांसारिक तथा सामान्य मानी जाती हैं । इन्हें पवित्र वस्तुओं के संसग्र में नहीं आने दिया जाता क्योंकि ये नष्ट कर देती हैं ।
6. साधारण वस्तुऐ – इस श्रेणी मे वे तमाम वस्तुऐ आती है जो सांसरिक तथा सामान्य मानी जाती है। इन्हेपवित्र व्स्तुओं के संसग्र में नहीं आने दिया जाता क्योंकी ये नष्ट केआर देती है।
7. विधि विधान का सकारात्मक पक्ष – ये धर्म से जुड़े विधि -विधानों का सकारात्मक पहलू होते है जो अनुयायियों को त्याग, पूजा -पाठ, समर्पण; बाधा आदि के लिये निश्चित दिशा सूचक देते हैं । इनमें पश्चात्ताप करने की विधि भी आ जाती है।
8. विधि विधान का नकारात्मक पक्ष – ये धर्म तथा समूह शक्ति की सर्वोपरिता तथा पवित्र वस्तुओं की पवित्रता बनाये रखने के उद्देश्य से निश्चित निषेधों का पालन करने का मार्ग बताते हैं ।

6.10 बोध प्रश्न

1. दुर्खीम धर्म को एक सामाजिक बल (Social Force) क्यों कहते हैं?
2. "पवित्र" और "साधारण" वस्तुओं के लक्षण दर्शाइये ।
3. दुर्खीम के मतानुसार धर्म के प्रारंभिक स्वरूप समझाइये ।

4. धार्मिक विधि -विधानों के नकारात्मक पक्ष और सकारात्मक पक्ष को समझाइये ।
5. धर्म और समाज के बीच के सम्बन्धों के बारे में दुर्खीम और कार्लमार्क्स के विचारों कीजिए ।
6. दुर्खीम के योगदान के आधार पर समाज में धर्म की भूमिका समझाइये ।
7. धर्म की समाज में एकता लाने वाले बल के रूप में आलोचना कीजिए ।

6.11 संदर्भ ग्रंथ

1. Durkheim,Emile The Elementary Furms of the Religios:Free press,VSA
2. चौहान, ब्रजराज 1994; समाज विज्ञान के प्रेरक स्त्रोत. ए.सी.ब्रदर्स 2 दर्शनपूरा, उदयपुर
3. Nisbet,Robert 1965: Emile Durkheim, Prentice Hall,Ink,New Jersey
4. Merton, Robert 1961: Social Theory and Social Structure: The Free press; Glencone Inikoins, U.S.A.

इकाई - 7

इमाईल दुर्खीम : समाज में श्रम विभाजन

इकाई की रूपरेखा

7.1 उद्देश्य

7.2 प्रस्तावना

7.3 ग्रंथ का परिचय

7.4 समाज में श्रम विभाजन के प्रकार्य

7.4.1 यांत्रिक सुदृढ़ता

7.4.2 सावयवी सुदृढ़ता

7.5 श्रम विभाजन के कारण

7.5.1 प्राथमिक कारण

7.5.2 द्वैतियक कारण

7.6 श्रम विभाजन के असामान्य स्वरूप

7.7 समीक्षा

7.8 सारांश

7.9 शब्दावली

7.10 बोध प्रश्न

7.11 संदर्भ सूची

7.1 उद्देश्य

इस इकाई में आप दुर्खीम के प्रसिद्ध अध्ययन समाज में श्रम विभाजन' के बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त करेंगे । विशेष तौर से आपको निम्न बिन्दुओं पर जानकारी प्राप्त होगी :

(अ) समाज में श्रम विभाजन के बारे में दुर्खीम का मौलिक दृष्टिबिन्दु क्या रहा है?

(ब) दुर्खीम समाज में श्रम विभाजन के परिणामों के बारे में क्या कहते हैं?

(स) क्या श्रम विभाजन के एकमात्र आर्थिक परिणाम ही आते हैं?

(द) समाज में श्रम विभाजन के पीछे क्या कारण होते हैं? तथा

(य) श्रम विभाजन के कौन -कौन से स्वरूप हो सकते हैं?

इन प्रमुख प्रश्नों के अतिरिक्त आपको समाज में श्रम -विभाजन तथा श्रम के विशेषीकरण के बारे में समाज की उत्पत्ति के साथ एक अनिवार्य एवं स्वयं -भू प्रकट होगी । इसी तरह इस इकाई की सूक्ष्म समझ के आधार पर आप यह भी पायेंगे कि श्रम -विभाजन समाज की सामूहिक -चेतना के साथ अन्तर्निहीतरूप से जुड़ा होता है ।

7.2 प्रस्तावना

दुर्खीम का समाज में श्रम विभाजन' का अध्ययन समाज -शास्त्रीय साहित्य में दो प्रमुख कारणों से आज भी सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में एक मूल स्त्रोत के रूप में जाना जाता है : - (1) इस अध्ययन के आधार पर दुर्खीम ने आधुनिक समाजशास्त्रीय विचारों के विकास में जो मूल्यवान योगदान किया है, यह जाना जा सकता है,और (2) यह अध्ययन समाजशास्त्रीय अध्ययन पद्धतियों की कई आधारभूत संकल्पनाओं को उजागर करता है । इसके अलावा दुर्खीम का यह अध्ययन इसलिये भी मूल्यवान माना जाता है क्योंकि उन्होंने समाज में श्रम विभाजन के विश्लेषण के आधार पर कई सामाजिक विचारक जैसे कि हॉब्स (Hobbes), लॉक (Locke), कार्ल मार्क्स (Karl Marx) आदि के (उपयोगितावादी प्रत्यक्षवाद Utilitarian Positivism) विचारों का खण्डन करते हुए 'श्रम विभाजन' को सामाजिक जीवन का स्त्रोत बताया ।

7.3 ग्रंथ का परिचय: समाज में श्रम विभाजन

इमाईल दुर्खीम का समाज में श्रम विभाजन के अध्ययन पर आधारित ग्रन्थ 'द डीविजन ऑफ लेबर इन सोसायटी' (The Divison of Labour in Society) शीर्षक से ई.स. 1893 में प्रकाशित हुआ। यह ग्रन्थ उनकी पीएच. डी. (Ph.D.) की पदवी के लिये तैयार किये गये महाशोध -निबन्ध पर आधारित था । इसका मूल स्वरूप फ्रेंच भाषा में था । इस महामूल्यवान ग्रन्थ का जार्ज सिम्पसन ने ई.स. 1933 में अंग्रेजी में अनुवाद किया । समाजशास्त्र में इसी अनुवादित आवृत्ति का आधार लिया जाना है । हालांकि अनुवादक सिम्पसन ने लिखा है कि दुर्खीम के मूल ग्रन्थ में जिन शब्दों का प्रयोग हुआ है उनमें से कई शब्दों के अंग्रेजी पर्याय उपलब्ध न होने के कारण फ्रेंच शब्द के सर्वाधिक निकट अर्थ रखने वाले शब्द के प्रयोग ही हो । इस बात का अनुवाद करते वक्त खास ध्यान रखा गया है ।

संक्षेप में कहें तो इस ग्रन्थ के कुल तीन खण्ड हैं । प्रथम खण्ड से पहले जार्ज सीम्पसन (George Simpson) ने अनुवाद के रूप में अपनी बात कही है । इसके अलावा मूल ग्रन्थ के पाँच संस्करणों का परिचय देते हुए उक्त ग्रन्थ की बौद्धिक समस्या एवं समस्त ग्रन्थ की रूपरेखा का परिचय दिया है ।

इस ग्रन्थ में प्रथम खण्ड का मुख्य विषय श्रम विभाजन के प्रकार्य और उसके परिणाम स्वरूप जन्म लेती सामाजिक सुदृढ़ता (Social Solidarity) अथवा एकता समझाना है । इस खण्ड में कुल सात अध्याय है। प्रथम अध्याय में "प्रकार्य" (Function) का अर्थ एवं प्रकार्य के आलेखन की पद्धतियों की बात की है । दूसरे अध्याय में "यांत्रिक सुदृढ़ता" तथा तीसरे अध्याय में "सावयवी सुदृढ़ता की विशद समझ दी है । बाद के अध्यायों में इन दोनों प्रकार की सुदृढ़ता का समस्त समाज के ढाँचे के संदर्भ में रहे सुचितार्थो का विश्लेषण दिया है । दूसरे खण्ड के कुल पाँच अध्याय है । इसके प्रथम अध्याय में समाज में श्रम विभाजन की प्रगति के साथ मानवीक सुखाकारी (Human Happiness) के जुड़े विचार का खण्डन किया है । दूसरे अध्याय में श्रम विभाजन के प्राथमिक कारण और तीसरे व चौथे अध्याय में द्‌वितीयक कारणों की समझ दी है । पाँचवें अध्याय में श्रम विभाजन के परिणाम बताये है । ग्रन्थ के तीसरे खण्ड

के कुल तीन अध्याय है । प्रथम अध्याय में श्रम विभाजन के असामान्य अथवा रोगिष्ट स्वरूपों (Abnormal forms) की तथा दूसरे अध्याय में ऊपर से या बाहर से थोपे गये असामान्य स्वरूप के श्रम विभाजन का विश्लेषण दिया है । अंतिम अध्याय में भी इसी तरह के असामान्य स्वरूप के श्रम विभाजन का वर्णन किया है । अंत में दुर्खीम ने अपने इस योगदान का सारांश दिया है ।

7.4 समाज में श्रम विभाजन के प्रकार्य

सरल शब्दों में दुर्खीम के मतानुसार प्रकार्य का अर्थ किसी भी घटना के उन परिणामों से होता है जो समस्त व्यवस्था के लिये सकारात्मक (Positive) होते हैं । जिस तरह से एक जीव के सभी अंग अपना -अपना कार्य करते हुए स्वयं का, जीव के अन्य अंगों का तथा अंततोगत्वा समग्र जीव का अस्तित्व एवं विकास सम्भव बनाते हैं, तो उस जीव के अंगों में से प्रत्येक की यह क्रियाशीलता 'प्रकार्य'' या Function कहा जायेगा । इस बात को समाज के संदर्भ में स्पष्ट करते हुए ब्रजराज चौहान लिखते है कि ''समाज की सावयव के रूप में, उसकी विभिन्न संख्याओं को उसके अंगों में तथा उनकी गतिविधि द्वारा - समाज को जीवित रखने के योगदान को ही प्रकार्य कहा गया है ।

दुर्खीम के समाजशास्त्रीय अध्ययनों में एक केन्द्रीय महत्व का प्रश्न यही रहा है कि वे कौन से बन्धन हैं जो समाज में व्यक्ति को एक -दूसरे से जोड़े रखते हैं' इसी संदर्भ में समाज में श्रम विभाजन के अध्ययन का उनका प्रारम्भिक प्रश्न था कि समाज में श्रम विभाजन का प्रकार्य' क्या हैं? इस प्रश्न का उत्तर ढूंढने में उन्होंने कहा कि श्रम विभाजन कोई सभ्यता (Civilization) को जन्म नहीं देता वरन् समाज में एकता (Cohesion) लाने का काम करता है । इसी बात के आधार पर उन्होंने कार्ल मार्क्स के इन विचारों कीर भी खण्डन किया कि औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप श्रमिकों का उत्तरोत्तर गहन शोषण होता जीता है और आर्थिक उत्पादन की प्रक्रिया में श्रमिक के सभी मानवीय तथा नैसर्गिक गुणों का हास हो जाता है और सम्पूर्ण अलगाव (Alienation) की अनुभूति करने लगता है । दुर्खीम ने कहा कि वास्तव में औद्योगिक क्रान्ति के साथ श्रमिक की ऐसी दशा नहीं होती । श्रमिक समाज में चल रही प्रक्रिया से कतई अलग नहीं हो -जाता । इससे विपरीत श्रमिक समाज से और भी घनिष्ठ रूप से जुड़ा रहता है ।

इस संदर्भ में यह जानना उचित होगा कि प्राथमिक एवं सरल समाज -व्यवस्था से आधुनिक औद्योगिक और जटिल समाज -व्यवस्था की तरफ के प्रयास में वो कौन सी बात है जो यह समझा सकें कि ज्यों -ज्यों व्यक्ति स्वयं संचालित (Autonomous) होता जाता है त्यों -त्यों वो समाज पर ज्यादा अवलम्बित ढंग से विकसित होने पर भी उतना ही ज्यादा समाज पर निर्भर होता जाता है?

उक्त प्रश्नों के उत्तर के रूप में दुर्खीम ने तर्क के साथ एक अत्यन्त महत्व की बात यह कही कि समाज में श्रम विभाजन के केवल आर्थिक कार्य ही नहीं होते । श्रम विभाजन का सामाजिक कार्य भी होता है । समाज में इसका अस्तित्व एक सामाजिक पहलू और नियम के रूप में होता है । इसलिये श्रम विभाजन का समाज में नैतिक आधार होता है । अत: सामाजिक

जीवन के सभी तत्वों में से श्रम विभाजन एक आधारभूत तत्व है । दुर्खीम ने कहा कि सामाजिक सम्बन्धों की घनिष्ठता तथा परस्पर निर्भरता के लिये उक्त सम्बन्धों में जुड़ने वाले व्यक्ति के बीच समरूपता तथा विविधता (Similarities and Dissimilarities) दोनों का अपना -अपना महत्व होता है । प्राथमिक या आदिम समाजों में समरूपता का महत्व होता है तो आधुनिक औद्योगिक समाजों में विविधता का महत्व होता है । इन दोनों ही समाजों में श्रम - विभाजन सामाजिक सुदृढ़ता (Social Solidarity) लाने का काम करता है । इस स्पष्टीकरण के अलावा दुर्खीम ने यह भी बताया कि सामाजिक सुदृढ़ता के दो प्रकार होते हैं : -

(i) यंत्रवत सुदृढ़ता (Mechanical Solidarity)

(ii) सावयवी या जैविक सुदृढ़ता (Organic Solidarity)

अब आप संक्षेप में इन दोनों प्रकार की सामाजिक सुदृढ़ताओं तथा इनसे सम्बन्धित अन्य अनुशांगिक बातों का परिचय प्राप्त करेंगे ।

7.4.1 यंत्रवत सुदृढ़ता (Mechanical Solidarity)

यंत्रवत सुदृढ़ता समाज में श्रम विभाजन के सरल तथा प्रारम्भिक स्वरूप में से जन्म लेती है । इस प्रकार का श्रम विभाजन उम्र तथा लिंग (Age and Sex) के आधार पर होता है । साथ ही इस प्रकार के सरल तथा प्रारम्भिक श्रम विभाजन का आधार समरूपता (Likeness) होती है । यानि कि इस प्रकार के श्रम विभाजन में भाग लेने वाले लोगों कि क्रियाएं, आवश्यकताएं, अनुभवों की पृष्ठ -भूमि तथा जीवन दर्शन (World view) इत्यादि समान होते हैं, अत: वे एक दूसरे के जीवन में स्वाभाविक ढंग से यंत्रवत् भाग ले सकते हैं । इसके अलावा समाज का आकार छोटा होता है । अत: यह केवल सम्भव होता है ऐसा नहीं है पर अनिवार्य रूप से पाया जाता है ।

इस संदर्भ में दुर्खीम ने कहा कि यंत्रवत सुदृढ़ता वाले समाजों में समाज का स्थान केन्द्रीय होता है । व्यक्ति की हर क्रिया -प्रतिक्रिया का मूल्यांकन समाज पर उसके क्या प्रभाव पड़ते हैं, इस बात को ध्यान में रख कर किया जाता है । अत: समाज तथा समाज की आवश्यकतायें ही सर्वोत्तम महत्व की होती है । यहाँ जो नैतिकता के नियम होते है वे एकमात्र समाज की सुदृढ़ता को ही लक्ष्य में रखते हैं । अत: किसी भी व्यक्ति का अनपेक्षित -व्यवहार, नीति -रीति का भंग या अपराधिक काम समस्त समाज के विरूद्ध माना जाता है । दूसरे शब्दों में व्यक्ति की कोई भी क्रिया जो सामूहिक चेतना (Collective Conscience) को ठेस या नुकसान पहुँचाती है उसे अपराधिक माना जाता है और समाज के दण्डात्मक नियमों के आधीन अपराधी को समाज के हित में दण्ड दिया जाता है ।

इस तरह से यंत्रवत सुदृढ़ता वाले समाजों में नैतिकता के नियम एवं सामाजिक नियंत्रण के बल (Forces) व्यक्ति पर हावी रहते हैं । यहाँ जो भी कानून होते हैं उनका स्वरूप दमनकारी (Repressive Low) होता है । किसी भी व्यक्ति का अपराध अन्य किसी व्यक्ति या समूह अर्थात् पीड़ित के विरूद्ध नहीं माना जा कर समस्त समाज के विरूद्ध माना जाता है । इसी कारण यहाँ अपराध या नियम भंग की परिस्थिति में केवल दो ही पक्ष होते हैं - एक

अपराधी पक्ष और दूसरा समाज । जब व्यक्ति अपराधी साबित होता है तो उसे जो दण्ड दिया जाता है उसकी मात्रा अपराध के कारण सामाजिक सुदृढ़ता या सामूहिक चेतना को लगी ठेस या नुकसान से कहीं गुना ज्यादा होती है । दुर्खीम के मतानुसार इसका प्रमुख कारण यह होता है कि यंत्रवत सुदृढ़ता वाले समाजों में व्यक्ति का अपराध सामूहिक चेतना' (Collective Conscience) को भ्रष्ट तथा अपमानित करना है। अत: वो समूह या समाज के विरूद्ध माना जाता है । दूसरे शब्दों में कोई कृत्य इसलिये सामूहिक चेतना को झटका नहीं देता है क्योंकि वह कृत्य एक अपराध है । परन्तु इससे विपरीत अगर कोई भी कृत्य सामूहिक चेतना को झटका देता हो तो वह अपराध गिना जाता है । यानि कि किसी कृत्य को अपराध होने के कारण दोषयुक्त नहीं कह कर, कोई कृत्य दोषमुक्त है अत: उसे अपराध कहा जाता है ।

समाज की सामूहिक चेतना का समाज में अपना कोई अंश या निश्चित स्थान नहीं होता है जो कि एक मूर्त रूप में बताया जा सके । वास्तव' में सामूहिक चेतना तो समस्त समाज में सामूहिक विश्वास और भावनाओं के रूप में फैली होती है तथा समाज के प्रत्येक व्यक्ति को स्पर्श करती है । इतना ही नहीं सामूहिक चेतना का व्यक्ति से परे अपना स्वतंत्र अस्तित्व होता है । इसलिये समाज में सामूहिक चेतना का सर्वोच्च स्थान होता है और उसका व्यक्ति पर अपना प्रचंड दबाव होता है । व्यक्ति स्वयं को भी इस दबाव की अनुभूति होती है । दूसरी और व्यक्ति को भी 'सामूहिक चेतना' के आश्रय में समाज की धरोहर प्राप्त होती है । इसी कारण उसे सामाजिक जीवन यापन करते करते समाज के अन्य सभी सदस्यों के साथ एक संस्कृति एवं सामाजिक पर्यावरण में भाग लेने का अवसर मिलता है । तदोपरान्त सामूहिक चेतना का जीवन काल एक व्यक्ति के काल से दीर्घ होता है अत: इसके जरिये एक पीढ़ी का दूसरी पीढ़ी' के साथ नाम जुड़ता है । दुर्खीम ने सामूहिक चेतना को इन विशिष्ट लक्षणों को ध्यान में रख कर ही इसे समाज में सर्वोच्च बताया और कहा कि आदिम समाजों में दण्डनात्मक कानून वास्तव में धार्मिक कानून ही होते हैं और ये कानून जो उद्देश्य पूरा करते हैं वह उद्देश्य अंततोगत्वा सामाजिक ही होता है । अंत में कहा जाय तो दमनकारी कानून आदिम समाजों में पाई जाने वाली यंत्रवत सुदृढ़ता की विशेषता होती है ।

आगे आपने देखा कि आदिम समाजों का आकार छोटा होता है । इसका अर्थ यह हुआ कि यहाँ के सदस्यों की अन्तक्रियाऐं काफी सीमित संख्या या अल्प व्यक्तियों के बीच ही होती है । इसी तरह पारस्परिक अन्तक्रियाओं की विविधता के अवसर भी कम होते हैं । साथ ही अनुभवों, आवश्यकताओं, जीवन दर्शन वगैरह भी समरूपता के कारण पारस्परिक निर्भरता का क्षेत्र भी सीमित होता है । इसलिये सामाजिक जीवन में धार्मिक और आर्थिक जीवन से जुड़े विश्वासों और नीति -रीति का महत्व बढ़ जाता है जिसके फलस्वरूप सामूहिक चेतना के समक्ष वैयक्तिक स्वतंत्रता के अवसर क्षीण हो जाते हैं । वास्तव में इन समाजों में एक ऐसी परिस्थिति का निर्माण होता है जहाँ वैयक्तिक चेतना (Individual Conscience) की हस्ती सामूहिक चेतना (Collective Conscience) में विलीन हो जाती है ।

7.4.2 सावयवी सुदृढ़ता (Organic Solidarity)

दुर्खीम के मतानुसार आधुनिक औद्योगिक समाजों में सावयवी सुदृढ़ता पाई जाती है । इस प्रकार की सुदृढ़ता के आधार में श्रम विभाजन और श्रम का विशेषीकरण होता है । आपने आगे देखा कि दुर्खीम ने अपने इस विचार के जरिये औद्योगिक समाज में व्यक्ति अलगाव (Alienation) का शिकार नहीं होता, इससे विपरीत वह समाज के साथ और भी जुड़ जाता है । यह प्रतिपादित कर कार्ल मार्क्स के विचारों का खण्डन किया । हालांकि दुर्खीम ने भी माना कि औद्योगिक समाजों में श्रमिक खुद का स्वामी नहीं होता । परन्तु उन्होंने यह भी कहा कि समाज की यह परिस्थिति उसके विघटन की दशा नहीं होती। वास्तव में यह तो समाज की परिपक्वता की परिस्थिति होती है । प्राथमिक समाजों में तो हर व्यक्ति अपने आप के लिये प्रवृत्तिशील पाया जाता है और ऐसा कोई स्पष्ट कारण नहीं देखा जाता जिसके अधीन व्यक्ति को दूसरों के साथ जुड़ना पड़े । वहाँ जो भी सामाजिक सुदृढ़ता पाई जाती है वह यंत्रवत (Mechanical) होती है और सामूहिक चेतना के माध्यम से व्यक्ति पर ऊपर से थोपी (Imposed from) जाती है । परन्तु आधुनिक औद्योगिक समाजों के बारे में दुर्खीम ने बताया कि एक) व्यक्ति दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियों पर आश्रित होता है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति अपने लिये आवश्यकता की सभी वस्तुएं नहीं बना सकता है । ऐसी परिस्थिति में जो सुदृढ़ता जन्म लेती है वह यंत्रवत नहीं होकर जैविक या सावयवी होती है । जैसे कि एक जीवन के शरीर का प्रत्येक अंग दूसरे अंगों पर आश्रित है, उसी तरह से औद्योगिक समाज में एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्तियों पर आश्रित रहना पड़ता है । इसी बात को दूसरे ढंग से कहें तो औद्योगिक - समाज में प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकता रहती है ।

सामाजिक सुदृढ़ता के सम्बन्ध में दुर्खीम की तरह अन्य सामाजिक विचारक जैसे कि अगस्ट कॉम्ट (August Compte), हर्बट स्पेन्सर (Herbert Spence) तथा टॉनीज (Tonnies) आदि के समक्ष भी मूल प्रश्न यह था कि पूर्व औद्योगिक समाजों में सामूहिक भावनाओं तथा विचारों (Common Sentiments and ideas) के दबाव में समाज के लोग एक दूसरे से जकड़े रहते हैं तो आधुनिक औद्योगिक समाजों में वे कौन सी बातें होती है जो इन समाजों के लोगों में सुदृढ़ता प्रस्तावित करती है? या फिर औद्योगिक समाजों में भी सामाजिक ढाँचे का सुगठन होता है । यही भी सामाजिक सुदृढ़ता समाज का आधार होती है । उन्होंने कहा कि प्राथमिक समाजों में सामाजिक सुदृढ़ता का कारण समरूपता (Likeness) होते है तो आधुनिक औद्योगिक जटिल समाजों में सामाजिक सुदृढ़ता का कारण विविधता (Differentiation) होते है ।

दुर्खीम के इस कथन का यह तात्पर्य भी है कि पूर्व -औद्योगिक या प्राथमिक समाज - व्यवस्था में से समाज औद्योगिक -व्यवस्था में आता है तो सामाजिक सुदृढ़ता नष्ट हो जाती है, ऐसी बात नहीं है । केवल सामाजिक सुदृढ़ता का स्वरूप बदल जाता है । यंत्रवत सामाजिक सुदृढ़ता का स्थान सावयवी सुदृढ़ता लेती है । अपनी इस बात को स्पष्ट करते हुए दुर्खीम कहते हैं कि समय गुजरने के साथ ज्यों -ज्यों जनसंख्या के बढ़ने के कारण पारस्परिक अन्तक्रिया की मात्रा और घनत्व में वृद्धि होती है, त्यों -त्यों समाज जीवन में जटिलता बढ़ती जाती है ।

व्यक्ति के लिये सभी कार्य करने के कौशल के स्थान पर किसी एक काम और उसके भी किसी एक सूक्ष्म भाग को पूरा करने की निपुणता प्राप्त करना अनिवार्य हो जाता है । इसके फलस्वरूप उत्तरोत्तर श्रम विभाजन एवं श्रम का विशेषीकरण एक सामाजिक आवश्यकता बन जाती है । कार्यो के इस प्रकार के विभाजन एवं विशेषीकरण के परिणामस्वरूप जो सुदृढ़ता अस्तित्व में आती है वो प्राथमिक और सरल समाजों में पाई जाने वाली सुदृढ़ता या एकता से भिन्न प्रकार की होती है ।

सावयवी सुदृढ़ता वाले इन औद्योगिक समाजों में सामाजिक नियंत्रण के क्षेत्र में कानून का स्वरूप भी बदल जाता है । यही अपराधी और अपराध का शिकार हुए पीड़ित व्यक्ति या समूह के बीच समाज एक तीसरे पक्षकार के रूप में भाग लेता है । इसका अर्थ यह हुआ कि व्यक्ति या समूह की अपराधिक क्रियाएं समस्त समाज या समूह के विरूद्ध नहीं मानकर पीड़ित व्यक्ति या पीड़ित समूह के हितों को नुकसान पहुँचाने वाला कृत्य माना जाता है । अत: समाज पीड़ित पक्ष के हुए नुकसान की भरपाई करने के उद्देश्य से दोनों पक्षों (वादी और प्रतिवादी) के बीच एक तटस्थ पक्ष के रूप में भाग लेता है । अत: यहाँ जो कानून प्रवर्तमान होते हैं उनका उद्देश्य अपराध के कारण पीड़ित पक्ष को जो नुकसान हुआ है उसकी भरपाई करना होता है ।

संक्षेप में दुर्खीम के समाज में श्रम विभाजन के सिद्धान्त से यह स्पष्ट होता है कि औद्योगिक तथा जटिल रूप से संगठित समाजों में सामाजिक सुदृढ़ता श्रम विभाजन के जरिये ही उत्पन्न होती है । विशेषतौर से व्यक्ति के अपने निहित स्वार्थ इस प्रकार के सम्बन्ध के केन्द्र में होते हैं । अंत में श्रम विभाजन तथा सामाजिक सुदृढ़ता के बीच सम्बन्धों के आधार पर यंत्रवत सुदृढ़ता तथा सावयवी सुदृढ़ता के जो दो स्वरूप बतायें है, उनमें पाया जाने वाला भेद निम्न ढंग से भी समझाया जा सकता है ।

यंत्रवत सुदृढ़ता(Mechanical Solidarity)	सावयवी सुदृढ़ता (Organic Solidarity)
1. आदिम अथवा प्राथमिक समाजों में पाई जाती है ।	1. आधुनिक औद्योगिक समाजों में पाई जाती है।
2. इसका आधार समरूपता (likeness) पर होता है । यहाँ पर श्रम विभाजन का उम्र तथा लिंग (Age and sex) के आधार पर सरल स्वरूप होता है ।	2. इसका आधार वैविध्य (differentiation) होता है । यह वैविध्य श्रम विभाजन के जटिल स्वरूप में निहित होता है ।
3. यहाँ समाज का अस्तित्व सामाजिक, नैतिक एवं धार्मिक समरूपताओं पर टिका होता है । दूसरे शब्दों में यहाँ प्रत्येक व्यक्ति की क्रिया प्रतिक्रियाएं अन्य व्यक्ति के समान ही होती है ।	3. यहाँ समाज नैतिक सहमतियों के आधार पर काम करता है । समाज के लोग निश्चित सिद्धान्तों तथा निर्णयों पर राजी होते हैं और अपने व्यवहार में प्राय: उनका अनुमोदन करते हैं ।
4. यहाँ सामुदायिक चेतना प्रबल होती है तथा व्यक्ति पर अपना प्रचंड दबाव डालती है । वास्तव में वैयक्तिक चेतना की हस्ती अंततोगत्वा सामूहिक चेतना में	4. सामुदायिक चेतना क्षीण हो जाती है और उसका स्थान श्रम -विभाजन लेता है । इसी तरह सामाजिक नियंत्रण का संचालन नैतिकता तथा करार के आधार पर होता है

विलीन हो जाती है ।	।
5. यहाँ कानून का स्वरूप दमनकारी होता है और कोई भी अपराधी कृत्य समस्त समाज के विरूद्ध माना जाता है ।	5. यहाँ कानून की स्वरूप प्रतिकारात्मक होता है । समाज अपराधी तथा उसके फलस्वरूप पीड़ित पक्ष के बीच तीसरे पक्षकार के ढंग से भाग लेता है और अपराध के कारण हुई हानि या नुकसान की भरपाई करवाता है ।
6. यहाँ धर्म तथा पारलौकिक शक्तियों के विश्वासों का प्रभुत्व होता है । अत: व्यक्ति की वैयक्तिकता का कोई महल नहीं रहता है ।	6. यहाँ धर्म स्थान पर लौकिक बातों का महत्व बढ़ता जाता है तथा मानवतावादी अभिगम व्यापक होता जाता है । स्वतंत्रता, समानता तथा सामाजिक न्याय के मानवीय मूल्य अस्तित्व में आते हैं ।
7. यहाँ श्रम विभाजन अभाव के कारण प्रमुखतया व्यक्ति सभी काम स्वयं ही करता है ।	7. यहाँ श्रम के विभाजन तथा विशेषीकरण कारण व्यक्ति एक -दूसरे के कार्य पर निर्भर रहता है और कोई एक विशिष्ट कार्य करके ही अपनी आवश्यकताओं के साधन जुटाता है ।

दुर्खीम के समाज में श्रम विभाजन में श्रम विभाजन के सिद्धान्त से श्रम विभाजन के सामाजिक प्रकार्य के फलस्वरूप सामाजिक सुदृढ़ता आती है । जब उस और लिंग के आधार पर कामों का बंटवारा होता है, तो समाज मे सामूहिक चेतना का प्रभुत्व होता है । यह अवस्था आदिम समाजों में पाई जाती है। आधुनिक विकसित समाजों में श्रम विभाजन और श्रम के विशेषीकरण का अनिवार्य होना सावयवी सुदृढ़ता को जन्म देता है । इतनी समझ के बाद अब आपको दुर्खीम के मतानुसार श्रम विभाजन के कारणों की संक्षिप्त समझ मिलेगी ।

7.5 श्रम विभाजन के कारण

दुर्खीम ने कहा कि ऐसा कोई मंत्र या फोरम्यूला (Formula) नहीं हो सकता कि जिसके जरिये यह कहा जा सके कि कब और किस स्वरूप में श्रम विभाजन होगा । उन्होंने प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट कर दिया कि "स्थान एवं समय " (Time and place) के परिमाणों पर श्रम विभाजन का स्वरूप निर्भर करता है । दुर्खीम ने प्रचलित अभिगम कि मानवीय सुख एवं खुशहाली (Happiness) की वृद्धि में श्रम -विभाजन के महत्व की भूमिका होती है, इसका खण्डन किया और कहा कि सुख की लालसा और खोज में नहीं परन्तु श्रम विभाजन का बढ़ती हुई आबादी के साथ व्यक्ति की निरन्तर बढ़ती जाती अन्त:क्रिया की मात्रा (Volume) और अन्त: क्रिया के घनत्व (Density) के फलस्वरूप विकास होता है । इस सम्बन्ध में दुर्खीम ने श्रम विभाजन के प्राथमिक कारण और द्वैतियक कारण की जानकारी दी है । यहाँ आप संक्षेप में इन कारणों को समझेंगे ।

7.5.1 श्रम विभाजन के प्राथमिक कारण

दुर्खीम ने श्रम विभाजन के कारणों को समझाते हुए कहा कि ज्यों -ज्यों समाज आदिम खण्डात्मक ढाँचे में से आधुनिक जटिल और संगठित ढाँचे की और प्रयास करता है वो इस बदलाव में श्रम विभाजन की आधारभूत प्रकार्यात्मक भूमिका होती है । दुर्खीम ने यह भी स्पष्ट किया कि ज्यों -ज्यों समाज का आकार और घनत्व बढ़ता जाता हैं, त्यों -त्यों उसी अनुपात में श्रम विभाजन जटिल होता जाता है । यह सब कुछ नैसर्गिक तौर से इसलिये सम्भव होता है क्योंकि समाज सदैव अपने आकार में विशालता तथा उच्च घनत्व (Voluminous and dense) धारण करता जाता है । सरल शब्दों में कहें तो समाज में श्रम विभाजन का विकास समाज में नैतिक और परिवर्तनशील घनत्व का समानुपाती होना है। प्रश्न यह है कि समाज में इस तरह का बदलाव क्यों आता है, जिसके फलस्वरूप श्रम विभाजन स्वत: ही जन्म लेता है और निरंतर जटिल होता जाता है । इस संदर्भ। में दुर्खीम ने निम्न तीन बातें कहीं -

1. औद्योगिक विकास के कारण जनसंख्या के घनत्व में वृद्धि । इसका अर्थ यह हुआ कि जहाँ पर औद्योगिक संस्थान तथा कारखाने होते हैं । वहाँ पर लोगों कि संख्या काफी बढ़ जाती है क्योंकि दूर -दूर से लोग काम की तलाश में यहाँ आते हैं और स्थाई हो जाते हैं । छोटे भू - भाग पर बढ़ती हुई आबादी के कारण वहाँ जनसंख्या का घनत्व बढ़ता ही रहता है ।

2. औद्योगीकरण की सहगामी प्रक्रिया के रूप में नगरों का विकास जोर पकड़ता है । यानि कि नगरीकरण की प्रक्रिया तीव्र गति प्राप्त करती है । इससे नगरवासियों को अनेकानेक लोगों के साथ रहना और मिलना -झूलना जीवन का एक अंग हो जाता है । नगर जीवन छोटे - छोटे समूहों में बँटे सामाजिक संगठन पर निर्भर न रह कर स्वयं का एक विशाल आकार प्राप्त करता है । अत: यहाँ दूर -दूर से आकर बसे लोगों का सह अस्तित्व सम्भव होता

3. संचार का नया आवागमन के माध्यमों तथा साधनों की संख्या और पद्धतियों में होती प्रगति के कारण छोटे -छोटे तथा दूर -दूर के प्रदेशों से लोगों का नगरों में आना उत्तरोत्तर सरल होता रहा है । इससे भी आधुनिक औद्योगिक केन्द्रों तथा नगरों में जनसंख्या का आकार और घनत्व लगातार बढ़ता ही जाना सम्भव हुआ है ।

इस प्रकार समाज के औद्योगिक और नगरीय विकास के साथ -साथ जनसंख्या के घनत्व में वृद्धि होती रहती है । तद्उपरांत जनसंख्या में विविधता और भिन्न -भिन्न सामाजिक श्रेणियाँ प्रकट होती है । इन्हीं सब परिवर्तनों के कारण अस्तित्व के लिए संघर्ष बढ़ जाता है । इसका उपाय श्रम विभाजन और श्रम के विशेषीकरण में होता है । व्यक्ति किसी निश्चित क्रिया के जरिये अन्य लोगों के साथ पारस्परिकता के सम्बन्धों में जुड़ जाता है ।

दुर्खीम ने श्रम विभाजन के उपरोक्त प्राथमिक कारणों के उपरांत कुछ द्वैतियक कारण भी बताये हैं ।

7.5.2 श्रम विभाजन के द्वैतियक कारण

इस श्रेणी में दुर्खीम दो प्रमुख कारणों को समझाते हैं । एक, समाज का सरल स्वरूप से जब जटिल स्वरूप की और परिवर्तन होता है तब धीरे -धीरे सामूहिक चेतना भी शिथिल होती

जाती है । साथ ही सामूहिक चेतना का स्थान भिन्न -भिन्न व्यवस्थाओं के नैतिक नियम और कानून ग्रहण करते हैं जो श्रम विभाजन पर आधारित सामाजिक ढाँचे को संगठित रूप देने का काम करते हैं । दूसरा, द्वैतियक कारण वंशानुगतता के संदर्भ में समझाते हैं । दुर्खीम ने कहा कि वंशानुगतता के कारण व्यक्ति को जन्मजात कुछ विशिष्ट दमनाऐं शक्तियाँ प्राप्त होती है । ये शक्तियाँ प्राकृतिक होती हैं । इन शक्तियों के फलस्वरूप सरल और पूर्व -औद्योगिक समाजों में धंधे या व्यवसाय पारिवारिक आधार पर पीढ़ी दर पीढ़ी चलते हैं । इससे श्रम विभाजन की प्रक्रिया लगभग गति विहीन होती है । परन्तु सामाजिक विकास के साथ जीवन यापन की चुनौतियाँ बढ़ती जाती है और परंपरागत विशिष्टताओं के आधार पर चली आ रही व्यावसायिक व्यवस्था कारगर नहीं रहती । अत: श्रम विभाजन और श्रम के विशेषीकरण के आधार पर नई व्यावसायिक व्यवस्था के नये स्वरूप विकसित होते हैं । ज्यों -ज्यों समाज का विकास और औद्योगीकरण सघन स्वरूप धारण करता है त्यों -त्यों यह नई व्यावसायिक -व्यवस्था भी सघन होती जाती है । इन्हीं परिस्थितियों में समाज की सावयवी सुदृढ़ता का भी परिवर्तन के साथ आनुपातिक रूप से विकास होता रहता है । इस सुदृढ़ता के मूल में सामूहिक चेतना के स्थान पर व्यावसायिक आचार -संहिता तथा नैतिकता के नियम एक बल के रूप में काम करते हैं ।

7.6 समाज में श्रम विभाजन के असामान्य स्वरूप

आपने देखा कि समाज के विकास के साथ श्रम विभाजन की प्रक्रिया का प्रादुर्भाव होता है । किन्तु जैसे अन्य कई सामाजिक प्रक्रियाएँ सदैव स्वस्थ और सामान्य रूप में नहीं पाई जाती हैं उसी तरह 'से श्रम विभाजन की प्रक्रिया का भी एक विकृत या असामान्य स्वरूप पाया जाता है । वृजराज चौहान ने दुर्खीम के विचारों के आधार पर लिखा कि यह असामान्य स्वरूप निम्नलिखित कई दिशाओं में प्रस्फुटित होता है

(अ) आपराधिक व्यवसाय

(ब) पूँजी तथा श्रम के बीच संघर्ष

(स) औद्योगिक एवं व्यावसायिक संक्रमण

(द) बुद्धिजीवियां के स्तर पर विकसित होने वाला श्रम विभाजन । इसका तात्पर्य यह है कि श्रम विभाजन की बढ़ती हुई मात्रा के साथ -साथ सामूहिक चेतना कमजोर हो जाती है और विज्ञान के दर्शन का प्रभाव क्रमश: क्षीण तथा अलोप होता जाता है ।

संक्षेप में कहें तो जब समाज में श्रम विभाग का स्वरूप समाज की विकास की अवस्था के साथ ठीक नहीं बैठता है तो यह अवस्था असामान्य स्वरूप के श्रम विभाजन की द्योतक है । दूसरे शब्दों में कहें तो जब समाज के विकास की अवस्था से सुसंगत दिशा और स्वरूप में श्रम विभाजन की प्रक्रिया चलती रहती है तो यह स्वरूप या सामान्य श्रम विभाजन (Normal Division of Labour) होता है । इससे सामाजिक -व्यवस्था और संगठन की परिस्थिति भी सुचारू ढंग से चलती रहती है । परन्तु जब समाज के विकास की अवस्था से सुसंगत न हो उस दिशा तथा स्वरूप में श्रम -विभाजन होता है तो यह श्रम -विभाजन का असामान्य या अस्वस्थ स्वरूप कहलाता है । दुर्खीम ने इसे अस्वस्थ या - पैथोलॅजिकल श्रम विभाजन (Pathological Division of Labour) कहा है ।

यह बात इसी तरह सत्य है कि एक व्यस्क व्यक्ति का रक्तचाप एक छोटे बच्चे में पाया जाय तो यह बच्चे की स्वस्थ अवस्था के साथ सुसंगत नहीं कहा जायेगा । इसी तरह से इसका उल्टा होना भी उतना ही सत्य है । अत: प्राथमिक समाजों से भिन्न आधुनिक औद्योगिक समाजों में लिंग और आयु (Sex and Age) के आधार पर श्रम विभाजन की परिस्थिति समाज के विकास की अवस्था के साथ विसंगतता का द्योतक है । दुर्खीम के विचारों के अनुसार यह श्रम विभाजन पैथोलॉजिकल कहा जायेगा । इसके फलस्वरूप सामाजिक विघटन और अव्यवस्था की प्रक्रिया को वेग मिलता है।

7.7 समीक्षा

समाजशास्त्रीय साहिल में दुर्खीम द्वारा समाज में श्रम विभाजन के अध्ययन को मौलिक और अद्वितीय योगदान का गौरव प्राप्त है । इस अध्ययन में उन्होंने जो प्रश्न खड़े किये और उपलब्ध आकड़ों एवं तथ्य के आधार पर उन प्रश्नों के जो उत्तर ढूँढे उनका समाजशास्त्र के विकास में अत्यन्त महत्व है। वास्तव में दुर्खीम -के विचारों ने एक तरफ हाब्स, रूसो, अगस्ट कॉम्ट, कार्ल मार्क्स, स्पेन्सर आदि अनेक विचारकों के योगदानों में से कई बातों का खण्डन किया, तो दूसरी और समाजशास्त्र के विकास के प्रवाह में अनेक बौद्धिक प्रतिक्रियाओं को जन्म दिया । इसके फलस्वरूप श्रम विभाजन के प्रकार्य और परिणामों के विषय में दुर्खीम ने जो कुछ कहा उसका टीकात्मक विवेचन भी हुआ है ।

राबर्ट मर्टन ने कहा कि समाज की प्रवर्तमान परिस्थितियों में से ही सामाजिक ध्येय (Social Goals) तय होते हैं, फिर भी समाज की बदलती परिस्थितियों के आधीन ध्येय प्राप्ति के प्रयास के साथ नई परिस्थितियाँ स्वत: जन्म लेती है । अत: दुर्खीम ने 'जो निश्चित सामाजिक -वातावरण (Social Milieu)की बात कही वो यथावत् टिकती नहीं है । दूसरा, रॉबर्ट मर्टन अपनी प्रतिक्रिया देते हुए कहते हे कि दुर्खीम के अनुसार प्राथमिक या आदिम समाजों में दमनकारी कानून कार्यरत होते हैं तथा समाज के समक्ष व्यक्ति की स्वतंत्रता और व्यक्ति - व्यक्ति के बीच जीवन के किसी भी पहलू में आपसी करार (Contract) आधारित व्यवहार का कोई अवकाश नहीं होता है । मर्टन कहते हैं कि दुर्खीम की यह बात वास्तविक परिस्थितियों में साबित नहीं होती । उन्होंने कहा कि इन समाजों में भी प्रतिशोधात्मक कानूनों (Restitutive Laws) और दिवानी कानूनों (Civil laws) का अस्तित्व होता है । इसी तरह पारस्परिक जीवन के क्षेत्र में भी आपसी करार पर आधारित सम्बन्धों (Contractual relations) के उदाहरण मिल जाते हैं । तीसरा मर्टन कहते हैं कि आधुनिक औद्योगिक समाजों. में एकमात्र श्रम विभाजन के कारण ही सामाजिक सुदृढ़ता आती है । यह विचार भी सत्य से परे है । वास्तव में, युद्ध, समूह -संघर्ष और इसी तरह कि अन्य संकट की घड़ी में समाज में सामूहिक -भावना (common sentiments) प्रकट होती है, और समाज में अद्भुत सामाजिक एकता के दर्शन होते हैं । इसी आधार को लेकर मर्टन यह भी कहते हैं कि दुर्खीम ने समाज के एक रेखीय विकास (unilinear development) का तर्क दिया वह भी स्वीकार तुल्य नहीं है ।

दुर्खीम के इस योगदान के बारे में राबर्ट मर्टन की उपरोक्त आलोचनात्मक प्रतिक्रियाओं का अपना स्थान है । इनके फलस्वरूप दुर्खीम के योगदान का महत्व कम नहीं हो जाता । वरन

आज से लगभग सवा सौ वर्ष पूर्व दुर्खीम ने समाजशास्त्रीय बिन्दु से समाज के विकास और सामाजिक सुदृढ़ता के विश्लेषण के सम्बन्ध मे जो प्रश्न खड़े किये उनका महत्व उजागर होता है।

7.8 सारांश

19 वीं सदी के सामाजिक विचारकों में इमाईल दुर्खीम का नाम सम्मान से लिया जाता है । समाज में श्रम विभाजन की भूमिका का विश्लेषण करते हुए दुर्खीम ने कहा कि सामाजिक सुदृढ़ता लाने में श्रम विभाजन की सकारात्मक भूमिका होती है । समाज में अन्न विभाजन से सुख प्राप्ति के निश्चित इरादे या व्यक्ति के बीच हुए करार (contract) नहीं होकर यह समाज के विकास के साथ स्वत: सामाजिक परिस्थितियों में से जन्म लेता है । अत: श्रम विभाजन व्यक्ति से परे एक सामाजिक घटना है। आदिम अथवा प्राथमिक समाजों में श्रम विभाजन उस तथा लिंग (age and Sex) आधारित कामों के बँटवारे के रूप में सरल स्वरूप का होता है । इन समाजों में सामूहिक चेतना का प्रबल दबाव होने के कारण व्यक्ति की हस्ती समूह या समाज में विलीन हो जाती है । इन समाजों का आकर छोटा होने के कारण और सदस्यों के अनुरूप तथा आवश्यकताओं कि समरूपता के फलस्वरूप पारस्परिक अन्तक्रिया की मात्रा (volume) और घनत्व (density) निम्नतम रहती है । अत: यहाँ सामाजिक सुदृढ़ता (mechanical solidarity) का स्वरूप यंत्रवत् सुदृढ़ता (mechanical solidarity) का होता हे । इस प्रकार की सुदृढ़ता का पतन समाज में फैले दमनकारी कानूनों (repressive laws) के माध्यम से होता है । आधुनिक औद्योगिक समाजों में जनसंख्या के बढ़ते हुए आकार और घनत्व के बीच श्रम विभाजन और श्रम का विशेषीकरण सुरक्षित अस्तित्व के लिये अनिवार्य हो जाता है । ज्यों -ज्यों समाज का सरल अवस्था से जटिल अवस्था की और प्रयास होता है त्यों - त्यों सामूहिक चेतना की प्रबलता लोप होती जाती है और श्रम विभाजन का महत्व बढ़ता जाता है । इसके फलस्वरूप आधुनिक औद्योगिक समाजों में सावयवी सुदृढ़ता (organic solidarity) पाई जाती है । यहाँ सामाजिक सुदृढ़ता का कवच प्रतिशोधात्मक कानून (restitutive laws) और व्यावसायिक समूहों की आचार -संहिता तथा नैतिकता के नियम होते है।

7.9 शब्दावली

(i) सामूहिक चेतना : समाज में सामूहिक जीवन -यापन करते वक्त समूह जीवन में से प्रकट विश्वासों तथा भावनाओं का वो स्वरूप जो व्यक्ति से परे होता है एवं समूह मानस को प्रतिबिम्बित करता है ।

(ii) सामाजिक सुदृढ़ता : यह समाज या समूह की वह परिस्थिति है जो समूह की एकता और सदस्यों में पारस्परिक सहयोग की घोतक होती है । इसी तरह समूह के हितों को केन्द्र में रख कर सामूहिक क्रियाएं होती हैं । समाज की यह स्थिति परिस्थितिजन्य होती है, अत: समाज में आये बदलाव के अनुरूप सामाजिक सुदृढ़ता का स्वरूप भी बदलता रहता है ।

(iii) यंत्रवत सुदृढ़ता : प्राथमिक या आदिम समाजों में उम्र तथा लिंग के आधार पर सरल श्रम विभाजन के फलस्वरूप जन्म लेती सामाजिक सुदृढ़ता ।

(iv) सावयवी या जैविक सुदृढ़ता : विशेषीकरण के आधार पर आधुनिक औद्योगिक समाजों में प्रवर्तमान जटिल श्रम विभाजन के फलस्वरूप जन्म लेती सामाजिक सुदृढ़ता ।

(v) दमनकारी कानून : वे कानून जो समूह या समाज की शक्ति और सत्ता को प्रस्थापित करने के आशय से अपराधी को कठोर दण्ड देने का प्रावधान दर्शाते हैं । इस तरह के कानून आदिम समाजों में विशेषतौर से पाये जाते हैं ।

(vi) प्रतिशोधात्मक कानून : वे कानून जो दण्डात्मक स्वरूप के स्थान पर पीड़ित को हुए नुकसान की भरपाई के प्रावधान दर्शाते हैं । आधुनिक औद्योगिक समाजों में इस प्रकार के कानून होते हैं।

(vii) श्रम विभाजन का सामान्य स्वरूप : समाज के विकास की अवस्था के साथ सुसंगत हो उसे स्वस्थ अथवा सामान्य स्वरूप का श्रम विभाजन कहा जाता है । यह समाज में एकता लाता है।

(viii) असामान्य अथवा अस्वस्थ श्रम विभाजन : श्रम विभाजन और विशेषीकरण का वह स्वरूप जो समाज के विकास की अवस्था के साथ सुसंगत नहीं होता है । यह सामाजिक विघटन का स्त्रोत होता है ।

7.10 बोध प्रश्न

1. दुर्खीम के मतानुसार प्रकार्य का अर्थ समझाइये । समाज में श्रम विभाजन का क्या प्रकार्य होता है?
2. "समाज में श्रम विभाजन ग्रन्थ का संक्षिप्त परिचय दीजिए ।
3. यंत्रवत सामाजिक सुदृढ़ता तथा सावयवी सुदृढ़ता की तुलनात्मक व्याख्या कीजिए ।
4. ज्यों -ज्यों व्यक्ति सामूहिक चेतना के दबाव से मुक्त हो कर स्वयं -संचालित होता जाता है त्यों -त्यों उसका समाज पर का अवलम्बन बढ़ता जाता है । " इस विधान को दुर्खीम के योगदान के आधार पर समझाइये ।
5. दमनकारी कानून का परिचय दीजिए ।
6. सावयवी सुदृढ़ता का संचालन किन नियमों के अधीन होता है?
7. श्रम विभाजन के सामान्य और असामान्य स्वरूप की व्याख्या कीजिये ।
8. दुर्खीम के श्रम -विभाजन के योगदान के संदर्भ में राबर्ट मर्टन की प्रतिक्रिया समझाइये।

7.11 संदर्भ सूची

ज्योर्ज,सिम्पसन,1933: द डिवीजन आफ लेबर इन सोसायटी: द फ्रि प्रेसन्यूयार्क।

चौहान, वृजराज, .1994: समाज विज्ञान के प्रेरक स्त्रोत: ए. सी. ब्रदर्स, 2 -दर्शनपुरा, उदयपुर ।

ल्यूक, एस., 1973 इमाईल दुर्खीम : हीज़ लाईफ एण्ट: वर्क्स, एंलन लेन एण्ड द पेन्ग्युईन प्रेस, लंदन ।

राबर्ट, निस्वेट, 1965 :इमाईल दुर्खीम, प्रेन्टिस हॉल, न्यू जर्सी, यू. एस. ए. ।
पासन्स टी., 1961: थियरीज ऑफ सोसायटी, न्यूयार्क ।

इकाई 8

इमाईल दुर्खीम : आत्महत्या

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 दुर्खीम के आत्महत्या के अध्ययन का महत्व

8.3 आत्महत्या के पीछे परम्परागत मान्यताओं का खण्डन

8.4 आत्महत्या के अध्ययन पद्धति की कठिनाई

8.5 आत्महत्या के अध्ययन में दुर्खीम का मूल प्रश्न

8.6 आत्महत्या एक सामाजिक तथ्य

8.7 आत्महत्या के प्रकार

8.8 समीक्षा

8.8.1 अहंवादी आत्महत्या

8.8.2 परार्थवादी आत्महत्या

8.8.3 ऐनोमिक आत्महत्या

8.9 सारांश

8.10 शब्दावली

8.11 बोध प्रश्न

8.12 सन्दर्भ ग्रंथ

8.0 उद्देश्य

समाजशास्त्र को एक वैज्ञानिक अध्ययन का स्तर प्रदान करने में इमाईल दुर्खीम का योगदान आधारभूत रहा है । इसलिए उन्हें समाजशास्त्र के प्रवर्तकों में से एक अग्रणी सामाजिक विचारक के रूप में जाना जाता है । सामाजिक जीवन के विश्लेषण में उन्होंने हमेशा समाज को केन्द्रीय स्थान दिया तथा व्यक्ति को समाज पर आश्रित हस्ती के रूप में देखा । यही बात अनेक समाजों के आत्महत्या के अध्ययन में से भी प्रकट होती है । इसकी विस्तृत समझ आप आगे के पृष्ठों में प्राप्त करेंगे । संदर्भ में आपको इस इकाई में निम्न विषयों पर स्पष्टता होगी-

(अ) दुर्खीम के मतानुसार आत्महत्या की घटना को किस स्वरूप में समझा जा सकता है।

(ब) क्या आत्महत्या के भिन्न -भिन्न प्रकार होते है ।

(स) क्या आत्महत्या केवल एक वैयक्तिक घटना होती है ।

(द) आत्महत्या की दर में वृद्धि के पीछे कौन से कारण होते है ।

इन प्रश्नों के उत्तर के आधार पर आप स्वयं आत्महत्या को एक समाजशास्त्रीय अध्ययन के विषय के रूप में समझ सकेंगे । तद्उपरान्त परम्परागत सोच में आत्महत्या का समझाने के लिए जिन गैर सामाजिक बलों पर जोर दिया जाता था उनकी निरर्थकता भी समझ सकेंगे । साथ ही आपको यह भी जानने को मिलेगा कि वैसे तो आत्महत्या एक वैयक्तिक

घटना होती है ओर इस तरह की सभी घटनाओं को ''स्वैच्छिक मृत्यु'' कहा जा सकता है । परन्तु जब इन घटनाओं को सामाजिक जीवन के परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित किया जाय तो आत्महत्या के अलग -अलग प्रकार प्रकट होते हैं । दुर्खीम ने आत्महत्या के अध्ययन में इन्हीं बिन्दुओं पर वैज्ञानिक अध्ययन पद्धति का आधार लेकर गहराई से योगदान किया है । इतना ही नहीं परन्तु आत्महत्या की घटना को समझने के लिये एक नया दृष्टि बिन्दु प्रदान किया है ।

8.1 प्रस्तावना

सामाजिक जीवन में व्यापकता के साथ -साथ कुछ घटनाऐं ऐसी होती हैं जो हर समाज में पाई जाती है । उदाहरण के तौर पर आर्थिक उतार -चढ़ाव अपराध, तलाक; बेकारी व्याभिचार आदि के फलस्वरूप । आत्महत्या भी इस तरह की एक घटना है जो हर समाज में पाई जाती है । विकसित समाजों में और विकासशील समाजों में प्रतिवर्ष ऐसी घटनाऐं बनती ही रहती है । अमेरिका और जापान जैसे विकसित और समृद्ध देशों में भी हजारों की संख्या में प्रतिवर्ष आत्महत्याएं होती है और भारत के विदर्भ जैसे पिछडे इलाके में भी इस प्रकार की घटनाऐं पाई जाती हैं । यह कोई नई बात नहीं है । प्राचीन समय में भी आत्महत्या होती रही है और आधुनिक समय में भी होती रहती है । दुर्खीम जब समाजशास्त्रीय अध्ययन की विषय -वस्तु और उसकी अध्ययन पद्धतियों की स्पष्टता करने में व्यस्त थे । उस दौरान उन्होंने भिन्न - भिन्न विषयों पर उपलब्ध एथनोग्राफिक सामग्री और आकड़ों का गहन अध्ययन किया । इन विषयों में एक विषय ' 'आत्महत्या'' था । इसी अध्ययन पर उन्होंने 1897 में आत्महत्या (suicide) शीर्षक नाम का ग्रंथ लिखा । यही एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह खडा होता है कि दुर्खीम समाज में आत्महत्या की घटना का विषय विश्लेषण के लिये नये सिरे से अध्ययन करने को क्यों प्रेरित हुए? जबकि इसे कई तरीकों से समझाया जाता रहा था । अब आपको इस पहलू पर समझ प्राप्त होगी ।

8.2 दुर्खीम के आत्महत्या के अध्ययन का महत्व

समाजशास्त्र में दुर्खीम के आत्महत्या के अध्ययन का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है । इसके पीछे दो प्रमुख कारण समझाये जा सकते हैं । एक दुर्खीम का दृढ़रुप से मानना था कि समाजशास्त्र के अध्ययन की विषयवस्तु सामाजिक तथ्य होते है जो सामूहिक -जीवन में से प्रकट होते हैं । दूसरे शब्दों में सामाजिक तथ्य का जनक समाज है । इसी तर्क के तहत उन्होंने कहा कि आत्महत्या एक सामाजिक तथ्य है, क्योंकि यह घटना वैयक्तिक होते हुए भी सामूहिक जीवन में से घटती है अगर यह केवल वैयक्तिक घटना ही होती तो व्यक्ति की स्वैच्छिक मृत्यु के बाद बात पूरी हो जानी चाहिये थी, परन्तु ऐसा नहीं होता है प्रत्येक समाज में ऐसी घटनाऐं निरन्तर होती ही रहती हैं । इसी वास्तविकता को स्वीकार करते हुए समाजशास्त्र की विषय - वस्तु के तहत दुर्खीम ने समाजशास्त्रीय साहित्य में आत्महत्या का सिद्धान्त दिया जो आज भी एक मौलिक और प्रतिष्ठित योगदान का स्थान रखता है ।

इस अध्ययन के महत्व का दुसरा प्रमुख कारण समाजशास्त्र की अध्ययन पद्धतियों में जुड़ा है । अपने इस योगदान में दुर्खीम ने समाजशास्त्र को एक विज्ञान के रूप में प्रस्थापित

करने के लिये जो अध्ययन पद्धतियाँ दर्शाई थी उनका स्वयं ने उपयोग करके उक्त पद्धतियों की सार्थकता का प्रमाण दिया है । उदाहरण के तौर पर उन्होंने अध्ययन की विषय वस्तु की स्पष्टता; आत्महत्या की घटना की व्याख्या; तटस्थता के नियम; तुलनात्मक अध्ययन; पद्धति का आधार; घटना के प्रकारों को समझाने के आशय से समरूपता तथा वैविध्य ढूँढने के स्तम्भरूप नियम; आंकड़ों के वर्गीकरण और विश्लेषण के नियम तथा समूह जीवन की घटनाओं की श्रृंखला के आधार पर वैयक्तिक घटना का अर्थघटन आदि उन्होंने चुस्तरूप से पालन किया । इस अध्ययन की महता इसलिये भी बढ़ जाती है क्योंकि उन्होंने यह सब कुछ आज से लगभग एक सौ दस वर्ष पूर्व किया जबकि एक तरफ समाजशास्त्र के क्षेत्र में भौतिक विज्ञानों का अध्ययन पद्धतियों के उपयोग के सम्बन्ध में प्रचण्ड बौद्धिक विवाद था और दूसरी और समाजशास्त्र की अध्ययन पद्धतियों का विकास अपने शैशवकाल में था ।

8.3 आत्महत्या के पीछे परम्परागत मान्यताओं का खण्डन

समाज में आत्महत्या क्यों होती है? क्यों कोई व्यक्ति स्वेच्छा से अपने जीवन का अन्त लाता है। यह प्रश्न हर समाज मे एक कौतुहल और चिन्ता का विषय रहा है । इस प्रश्न का जबाव ढूँढने के जो प्रयास हुए वे आत्महत्या के पीछे रहे कारणों को प्रकाश में लाते रहे हैं । इसका अर्थ यह हुआ कि दुर्खीम से पहले भी आत्महत्या के कारणों को समझाने के प्रयास होते रहे है । दुर्खीम ने इन परम्परागत मान्यताओं के आधार से दूर हट कर आत्महत्या को सामाजिक परिस्थितियों के परिपेक्ष में समझाने का अभिगम अपनाया और आत्महत्या को एक सामाजिक घटना के रूप में परिभाषित किया ।

इस बात को विस्तार से समझाया जाय तो दुर्खीम ने आत्महत्या की घटना को गैर - सामाजिक बलों (Extra -Social Forces) के आधार पर समझाने के प्रयासों का खण्डन किया और आभारपूर्वक कहा कि चूँकि आत्महत्या एक सामाजिक घटना है अत: इसे सामाजिक बलों (social forces) के परिपेक्ष में ही सही अर्थ में समझाया जा सकता है । दुर्खीम के इस तर्क के पीछे उनका सामाजिक -तथ्य (Social fact) का निरीक्षण और अर्थघटन के सम्बन्ध में जो पद्धति शास्त्रीय अभिगम रहा है वही एक मात्र आधार है । उन्होंने अपने ग्रंथ 'द रूल्स ऑफ सोश्यालॉजीकल मेथड' (1895) में कहा कि सामाजिक घटना के पीछे गैर -सामाजिक कारण नहीं हो सकते हैं । अत: जो कारण ' 'सामाजिक'' की श्रेणी में नहीं रखे जा सकते हैं ऐसे गैर - सामाजिक कारणों के माध्यम से सामाजिक घटनाओं को उनके सही रूप में नहीं समझाया जा सकता है ।

अपने पक्ष को स्पष्ट करते हुए उन्होंने गेर -सामाजिक बलों को निम्न दो श्रेणियों में विभाजित किया है।

(अ) जैवकीय -मनोवैज्ञानिक बल

(ब) भौतिक पर्यावरण

जैवकिय तथा मनोवैज्ञानिक बलों में दुर्खीम प्रजाति (Race) मानसिक खण्डता; हताशा; पागलपन; नशाखोरी; भूत -प्रेत का विश्वास, अनुकरण आदि का समावेश करते हैं । दूसरी श्रेणी में आते है, गैर -सामाजिक बलों में वे प्राकृतिक पर्यावरण; ऋतुओं (Seasons) तथा ब्रह्माण्ड

से जुड़े बलों का समावेश करते हैं । आत्महत्या के पीछे इन गैर -सामाजिक बलों पर आधारित मान्यताओं का खण्डन करते हुए दुर्खीम ने कहा कि वैयक्तिक मानसिकता अथवा मानसिक रुग्णता के आधार पर आत्महत्या का विश्लेषण नहीं किया जा सकता है । क्योंकि आत्महत्या करने वाले सभी व्यक्तियों की ऐसी दशा नहीं होती वरन् प्रतिवर्ष प्रत्येक समूह और सामाजिक परिस्थितियों मे आत्महत्याएं होती ही रहती है । अत: आत्महत्या की जड़े वैयक्तिक मानसिकता न होकर सामाजिक परिस्थिति में होती है और इन्हीं परिस्थितियों के संदर्भ में आत्महत्या को समझाया जा सकता है । इसी तरह प्राकृतिक पर्यावरण, जलवायु तथा भूत -प्रेत आदि में विश्वास के आधार पर भी आत्महत्या की घटना का विश्वसनीय अर्थघटन नहीं किया जा सकता है । अपनी इस बात के पक्ष में तर्क देते हुए दुर्खीम ने कहा कि एक ही भौतिक पर्यावरण और जलवायु में रहते हुए भिन्न -भिन्न समूहों में प्रतिवर्ष आत्महत्या होती है, फिर भी जब आत्महत्या की दर (Rate) का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो पाया जाता है कि सभी समूहों में आत्महत्या की दर समान नहीं होती है । वे कहते है कि आत्महत्या की दर में देखी जाने वाली यह भिन्नता भौगोलिक, जैवकिय अथवा मनोवैज्ञानिक कारणों के फलस्वरूप न होकर प्रत्येक समूह की अपनी विशिष्ट सामाजिक परिस्थितियों पर निर्भर होती है । दुर्खीम ने (26000) छब्बीस हजार आत्महत्याओं से जुड़े आंकड़ों का व्यवस्थित वर्गीकरण और अर्थघटन करके निचोड के रूप में उक्त तथ्य प्रकाश में लाये ।

8.4 आत्महत्या के अध्ययन पद्धति की कठिनाई

आत्महत्या के समाजशास्त्रीय अध्ययन में पद्धति शास्त्रीय दृष्टि से एक प्रमुख समस्या यह आती है कि शोध -कर्ता को पीड़ित व्यक्ति से जुड़ी तमाम जानकारी प्राप्त करने के लिये द्वितीयक स्त्रोतों पर ही आधार रखना पड़ता है । ये स्त्रोत उपलब्ध होते हुए भी सम्पूर्ण और विश्वसनीय हो यह नहीं कहा जा सकता । इसके अलावा इन स्त्रोतों से उपलब्ध सूचना तथा आकड़ों की सत्यता की कसौटी या परीक्षण करना नितान्त असम्भव न हो फिर भी अत्यन्त कठिन काम होता है । तीसरी कठिनाई यह भी होती है कि सुनियोजित परिस्थिति का अर्थसमत्त अर्थघटन अन्तोगत्वा शोधकर्ता के दृष्टिबिन्दु और धारणाओं पर आधारित होना है । दुर्खीम को भी आत्महत्या के अध्ययन से इस प्रकार की कई कठिनाईयों का सामना करना पड़ता था । दुर्खीम ने अपने अध्ययन में सरकारी और निजी आकड़ों की अस्पष्टता; अव्यवस्थितता तथा अधूरापन के कारण उन्हें भारी समस्याओं का सामना करना पड़ा था । इसके अलावा भिन्न -भिन्न समूहों में आत्महत्या की दर के तुलनात्मक अध्ययन हेतु उपलब्ध आकड़ों को उस; लिंग धर्म, वैवाहिक स्तर; व्यवसाय प्रदेश आदि के परिवत्यों पर श्रेणीबद्ध करने में भी काफी कठिनाईयां पार करनी पड़ी थी । इस काम को संतोष कारक ढंग से पूरा करने में उन्हें एम. मार्सल मॉस (M.MACLE MAUSS) की सक्रिय मदद मिली थी ।

8.5 आत्महत्या के अध्ययन में दुर्खीम का मूल प्रश्न

किसी भी वैज्ञानिक और विधिवत संशोधन में अध्ययन का एक मूल प्रश्न होता है जिसका उपलब्ध तथ्यों तथा निरीक्षण के आधार पर उत्तर ढूंढने का प्रयास किया जाता है ।

कालान्तर में इन्हीं उत्तरों में से नये प्रश्न खड़े होते हैं और इन नये प्रश्नों का भी पद्धतिसर के आधार पर अर्थसम्मत् उत्तर ढूंढे जाते हैं । इस तरह निरन्तर नये -नये अध्ययनों के जरिये विषय के शान का भण्डार समृद्ध होता जाता है । आप जानते हैं कि भौतिकशास्त्र में जड़त्व के नियम का आधार न्यूटन द्वारा खड़ा किया एक प्रश्न था कि वृक्ष से सेब का फल पृथ्वी की तरफ ही क्यों खींच कर आया? इसी तरह जब दुर्खीम आत्महत्या से सम्बन्धित उपलब्ध आंकड़ों का निरीक्षण कर रहे थे तो उन्होंने पाया कि वैसे तो आत्महत्या की घटनाऐं सभी समाजों तथा समूहों में पाई जाती है, परन्तु भिन्न -भिन्न समूहों में आत्महत्या की घटनाओं की दर (Rate) की और ध्यान दिया जाय तो ऐसा जानने को मिलता है कि कुछ समूहों में आत्महत्या की दर प्रतिवर्ष दूसरे समूहों की तुलना में नीची होती है जबकि दूसरे समूहों में स्पष्ट रूप से ऊँची पाई जाती है । इस निरीक्षण की पुष्टि के लिये उन्होंने आत्महत्या के उपलब्ध आकड़ों को धर्म, वैवाहिक स्तर; उम्र; लिंग; व्यवसाय; आय, राष्ट्रीयता; ग्रामीण और शहरी जीवन आदि अनेक परिवर्त्यो की मदद से अलग -अलग श्रेणियों में वर्गीकृत किया और पाया कि निश्चित रूप से कुछ समूहों में आत्महत्या की औसतन दर ऊँची है तो कुछ अन्य समूहों में नीची है, जबकि दोनों समूहों की अन्य परिस्थितियाँ लगभग समान है । उदाहरण के तौर पर देखें तो दुर्खीम ने जर्मनी केर बावेरिया राज्य से सम्बन्धित धर्म और आत्महत्या के आकड़ों का निरीक्षण किया तो उन्हें जानने को मिला की जहाँ -जहाँ प्रोटस्टेन्ट धर्म के अनुयायियों की संख्या अधिक थी वहाँ आत्महत्या की दर कैथोलिक धर्म के अनुयायिओं की तुलना में ऊंची थी । इसी तरह के कई अन्य निरीक्षण भी उन्होंने किये । अन्त में उन्होंने ऐसा क्यों होता है यह ढूंढ निकालने के प्रयास हाथ में लिये । इस परिप्रेक्ष्य में सरल शब्दों में कहा जाय तो दुर्खीम के आत्महत्या के अध्ययन का मूल प्रश्न था समाज में आत्महत्या की दर (Rate) में वृद्धि क्यों होती है ।

यही प्रश्न उनके आत्महत्या के अध्ययन का आधार था । इस प्रश्न के उत्तर ढूँढने के प्रयास में दुर्खीम ने न केवल आत्महत्या से सम्बन्धित परम्परागत मान्यताओं का खण्डन किया, परन्तु इसके अलावा उन्होंने आत्महत्या को समाजशास्त्रीय परिपेक्ष में परिभाषित किया; आत्महत्या के कारणों को विधिवत् प्रकाश में लाये और आत्महत्या के प्रकार भी दर्शाये । दुर्खीम के आत्महत्या से जुड़े इन पहलूओं पर आधारित योगदान के फलस्वरूप समाजशास्त्रीय साहित्य में आत्महत्या का सिद्धान्त अस्तित्व में आया। आज भी इस सिद्धान्त की महत्ता एक मौलिक योगदान के रूप में स्वीकारी जाती है ।

8.6 आत्महत्या: एक सामाजिक तथ्य

दुर्खीम के मतानुसार आत्महत्या एक सामाजिक तथ्य है । उन्होंने इस बात की पुष्टि करते हुए कहा कि भले ही व्यक्ति ने अपने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष इरादे से स्वयं अपने जीवन का अन्त लाने के लिये आत्महत्या की हो व्यक्ति के इस निर्णय का स्त्रोत उसकी वैयक्तिक मानसिकता में न होकर उसकी सामाजिक परिस्थिति में होता है । अत: उन्होंने आत्महत्या की व्याख्या करते हुए कहा कि आत्महत्या" शब्द मृत्यु की उन सभी घटनाओं को लागू होता है जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उस घटना के शिकार हुए व्यक्ति के खुद के सकारात्मक या नकारात्मक कृत्य के फलस्वरूप होती है और व्यक्ति उक्त यह परिणाम लायेगा, यह वह खुद

जानता होता है । दुर्खीम ने लिखा कि "The Term suicide is applied to all cares of death resulting directly or indirectly from a positive or negative act of the victim himself which he knows will produce this result" दुर्खीम ने कहा व्यक्ति के इस निर्णय के पीछे जैवकिय भौतिक या मनोवैज्ञानिक परिस्थितियाँ नहीं परन्तु सामाजिक परिस्थितियाँ ही जिम्मेदार होती है । इस अर्थ में आत्महत्या एक सामाजिक तथ्य होती है ।

ब्रजराज चौहान इस बात को समझाते हुए लिखते है कि "सामान्य रूप से आत्महत्या एक व्यक्तिगत कार्य का संकेत देती है । व्यक्ति स्वेच्छा से अपने जीवन का अन्त कर देता है । अब प्रश्न है, इसमें सामाजिक क्या है? उत्तर इस प्रकार है - किसी भी समाज में अमुक समय में (मान लीजिए एक साल में) एक से अधिक आत्महत्या होती है । तो इस व्यवहार में एक से अधिक व्यक्ति लिप्त है । और यह कार्य हर साल हो रहा है । अर्थात यह एक व्यक्ति का एक समय तक सीमित रहने वाला कार्य नहीं है । एक से अधिक व्यक्ति और एक से अधिक समय पर होने वाला व्यवहार व्यक्तिगत नहीं रहता, उसमें समूह के लक्षण आ जाते है । ' इस अर्थ में आत्महत्या का स्त्रोत समूह मे होता है जिसके फलस्वरूप आत्महत्या एक सामाजिक तथ्य ही है । इसी सन्दर्भ में एन्थोनी गिडन्स (Antnony Giddens) कहते हैं कि एक समाजशास्त्री को आत्महत्या की घटनाओं को वैयक्तिक व्यवहार की घटनाओं के रूप में न देखकर एक निश्चित प्रारूपधारी घटना (Pattern phenomenon) के रूप में देखना चाहिये ।

8.7 आत्महत्या के प्रकार

आपने आगे देखा कि दुर्खीम ने आत्महत्या सम्बन्धित उपलब्ध आकड़ों को विविध परिवर्त्यों के आधार पर भिन्न -भिन्न श्रेणियों में विभक्त करके उनका गहन विश्लेषण किया था । इस प्रयास के दरम्यान उनकी तीव्र निरीक्षण शक्ति के फलस्वरूप कई ऐसे तथ्य दिखे जिसके आधार पर उन्हें लगा कि वैसे तो प्रत्येक आत्महत्या की घटना स्वैच्छिक मृत्यु की होती है फिर भी समूह के संदर्भ में आत्महत्या के अलग -अलग प्रारूप दिखाई देते हैं । जैसे कि किसी भी एक समाज में प्रतिवर्ष आत्महत्या की दर लगभग समान रहती है । केथौलिक धर्म के अनुयायिओं में आत्महत्या की दर प्रोटेस्टेन्ट धर्म के अनुयायिओं की तुलना में नीची (Low) होती है । इटली की तुलना में इंग्लैण्ड में प्रतिवर्ष आत्महत्या की दर दो गुणी ऊँची (high) होती है । तथा इंग्लैण्ड में दर डेनमार्क से चार गुणी ऊँची पाई जाती है । ये तो उदाहरण है । परंतु दुर्खीम ने ऐसे कई प्रारूपों की निरीक्षण किया और इन्हीं के आधार पर उन्होंने आत्महत्या के तीन भिन्न -भिन्न प्रकार बताये, जैसे कि -

(अ) अहंवादी आत्महत्या

(ब) परार्थवादी आत्महत्या

(स) ऐनोमिक आत्महत्या

दुर्खीम ने आत्महत्या के इन तीन प्रकारों का आधार समाज या समूह की सदृढ़ता (Solidarity) या दूसरे शब्दों में कहे तो पारस्परिक रूप की भावना (Cohesion) की कक्षा

(degree) में दर्शाया । अब आपको इन तीन में से प्रत्येक प्रकार की आत्महत्या की संक्षिप्त जानकारी प्राप्त होगी ।

8.7.1 अहंवादी आत्महत्या (Egoistic Suicide)

जब समूह जीवन -व्यापन करते हुए व्यक्ति का समूह साथ का तादात्म्य या सुग्रंथन टूट जाता है, तो व्यक्ति समूह में रहते हुए भी समूह से अलगाव की अनुभूति करता है । धीरे -धीरे उसे यह परिस्थिति असह्य लगती है और इससे छुटकारा पाने का एकमात्र मार्ग आत्महत्या लगता है । अत: वह आत्महत्या करता है । दुर्खीम कहते है कि जहाँ -जहाँ व्यक्ति को समूह के साथ जुड़े रहने के कोई सबल कारण नहीं दिखाई देते वहां इस प्रकार की आत्महत्या की दर ऊँची होती है । जैसे कि विवाहित व्यक्तियों की तुलना मे कुँवारे या अविवाहित व्यक्तियों में अहंवादी आत्महत्या की दर ऊंची होती है । इसी तरह से एक बड़े परिवार की तुलना में छोटे और एकाकी परिवार में इस प्रकार की आत्महत्या की दर ऊंची होती है । इन उदाहरणों से आप पायेंगे कि जो अहंवादी आत्महत्या करता है उसके समक्ष तुलनात्मक रूप से समूह के बन्धन और जिम्मेवारियों का विशेष भार नहीं होता है । इसी तरह से जिन समूहों में तीव्र प्रतिस्पर्धा; वैयक्तिकता ऊंची सफलता आदि को विशेष भार दिया जाता है उनमें भी इस प्रकार की आत्महत्या की दर ऊंची होती है । दुर्खीम कहते हैं कि अहंवादी आत्महत्या की दर समूह के सुग्रंथन की कक्षा से विपरित दिशा में जुड़ी होती है । यानी कि जहां -जहां समूह के सुग्रंथन की मात्रा ऊँची होती है वहाँ -वहाँ अहंवादी आत्महत्या की दर नीचे (Low) होती है । दुर्खीम ने विभिन्न समूहों तथा परिस्थितियों से जुड़े आंकड़ों के आधार पर जहाँ अहंकारी आत्महत्या की ऊँची दर होना बताया, उनमें से कुछ के उदाहरण निम्न है

1. केथौलिक धर्म के अनुयायिओं की तुलना में प्रोटेस्टन्ट धर्म के अनुयायिओं मे इस प्रकार की आत्महत्या की दर ऊंची होती हैं ।
2. ग्रामीण प्रदेशों की तुलना में नगरीय प्रदेशों मे अहंवादी आत्महत्या की दर ऊँची होती है।
3. विवाहित व्यक्तियों की तुलना मे अविवाहित व्यक्तियों में अहंवादी आत्महत्या की दर ऊँची होती है ।
4. विधुर, विधवा, त्यक्ता तथा तलाक प्राप्त व्यक्तियों में विवाहित जीवन बिता रहे व्यक्तियों की तुलना में अहंवादी आत्महत्या की दर ऊँची होती है ।
5. सन्तान रहित व्यक्तियों में स -सन्तान व्यक्तियों की तुलना में इस प्रकार की आत्महत्या की दर ऊँची होती हैं ।
6. कृषि तथा उससे जुड़े व्यवसायों में लगे व्यक्तियों की तुलना में आधुनिक तथा औद्योगिक व्यवसायों में लगे व्यक्तियों में अहंकारी आत्महत्या की दर ऊँची होती है ।

इन सभी उदाहरणों में आप पायेंगे कि आत्महत्या करने वाले व्यक्ति के समक्ष अपने आप को समूह के साथ जकड़े रखने के कारण तुलनात्मक रूप से कम दिखाई देते हैं । दुर्खीम कहते हैं कि समकालीन समाज (Contemporary society) में ज्यादातर अहंवादी आत्महत्या ही पाई जाती है ।

8.7.2 परार्थवादी आत्महत्या

दुर्खीम के मतानुसार परार्थवादी आत्महत्या उन समूहों या सामाजिक परिस्थितियों में होती है, जब व्यक्ति का अपने समूह के साथ अतिशय तादात्म्य सुग्रंथन हो जाता है । इन समूहों में नैतिकता के आधार प्रबल होते है । समूह की अस्मिता तथा समूह के हितों के समक्ष व्यक्ति अपने जीवन या अपनी हस्ती को नगण्य मानने लगता है । इन परिस्थितियों में जब उसे लगता है कि उसके कारण समूह के हितों तथा गौरव को क्षति हुई है तो वह स्वेच्छा से अपने जीवन का अन्त कर अपने आप को समूह से दूर कर लेता है । क्योंकि उसे समूह के हित में यही एक श्रेष्ठ मार्ग लगता है । दुर्खीम कहते हैं कि परमार्थवादी आत्महत्या व्यक्ति के अपूर्ण समाजीकरण का (Insufficient Socialization) एक परिणाम होती है ।

अहंवादी आत्महत्या में व्यक्ति को अपना जीवन निरर्थक लगता है । जबकि परामर्शवादी आत्महत्या में व्यक्ति को अपनी मृत्यु अर्थपूर्ण लगती है । समूह के सम्मान ओर गौरव के लिये उसे अपने प्राणों की आहूति देने में आनन्द आना है । कुछ समूहों और परिस्थिति में आत्महत्या को एक कर्तव्य के रूप में परिभाषित किया गया है । जैसे कि एक सैनिक के लिये युद्ध में दुश्मन को पीठ बताने के बजाय ' 'युद्ध में काम आना आ जाना' - सम्मान और शहीदी के रूप में देखा जाना है । परम्परागत भारत में पति की मृत्यु के बाद पत्नी का 'सती' - होना और कुछ अन्य समाजों में वृद्धावस्था की असहाय अवस्था में समुदाय पर भार स्वरूप होकर जीवन -यापन करने के बजाय स्वेच्छा से मृत्यु को गले लगाना एक सामाजिक जिम्मेदारी के रूप में देखा जाना परामर्शवादी आत्महत्या के पीछे रहे सामाजिक कारणों के उदाहरण हैं । परंपरागत जापान में ' "हाराकारी" की प्रथा भी इसका एक उदाहरण है इस प्रकार की आत्महत्या आधुनिक समय में काफी अल्प संख्या में पाई जाती है । नीचे दर्शाये गये समूहों तथा सामाजिक परिस्थितियों में परार्थवादी आत्महत्या की दर ऊँची होनी है ।

(i) प्राथमिक और आदिम समाजों में विकसित समाजों की तुलना में
(ii) फौज के सिपाहियों में सामान्य नागरिकों की तुलना में
(iii) वृद्ध व्यक्तियों की तुलना में नौजवानों तथा वयस्क व्यक्तियों में
(iv) नगरवासियों की तुलना में ग्राम वासियों में
(v) स्वस्थ व्यक्तियों की तुलना में बीमारी से पीड़ित रोगग्रस्त तथा अशक्त व्यक्तियों में परार्थवादी आत्महत्या करने वाला व्यक्ति अन्य के हित में अपने प्राणों की आहूति दे देता है । तदुपरांत जिन समूहों में इस प्रकार थी आत्महत्या की दर ऊँची होती है उनके रिती -रिवाज और सामाजिक - सांस्कृतिक मूल्य भी ऐसे होते है, जो निश्चित परिस्थितियों में व्यक्ति को स्वेच्छा से अपने प्राणों की आहुति देने का आहवाहन करते है ।

8.7.3 ऐनोमिक आत्महत्या

दुर्खीम ने समाज में श्रम -विभाजन के अध्ययन में समाज की एक ऐसी परिस्थिति की भी चर्चा है जा समाज के नैतिक आधार के मापदण्ड छिन्न -भिन्न हो जाते हैं । ऐसी

परिस्थिति को उन्होंने ' "ऐनोमी" की उपमा दी है । राबर्ट मर्टन ने समाज की ऐसी परिस्थिति को ''नार्मलेसनेस' के रूप में परिभाषित किया है । जब समाज में तीव्र गति से आर्थिक उतार -चढ़ाव आते हैं या अनायास भारी मात्रा में सामाजिक परिस्थितियों में बदलाव आ जाता है । तब समाज का नैतिक -व्यवस्था तंत्र नष्ट हो जाता है । अक्सर आधुनिक औद्योगिक समाजों मे चक्रात्मक (Cyclical) रूप में इस प्रकार की परिस्थिति का निर्माण होता रहता है । दुर्खीम ने समाज की ऐसी असामान्य परिस्थिति और आत्महत्या की दर के बीच सह -सम्बन्ध का परीक्षण किया । उन्होंने पाया कि आर्थिक मंदी के दौर में आत्महत्या की दर बढ़ जाती है । परन्तु उन्होंने इसके साथ यह भी देखा की इस तरह आत्महत्या की दर केवल गरीबी के कारण ही नहीं बढ़ जाती । वास्तव में उन्होंने तो यह भी पाया कि समृद्ध लोगों की तुलना में गरीब लोगों में आत्महत्या की दर नीचे (Low) होती है । इसके अतिरिक्त दुर्खीम ने एक तथ्य यह भी पाया कि न केवल आर्थिक मंदी के दौर में ही आत्महत्या की दर बढ़ जाती है । अपितु आर्थिक तेजी की परिस्थिति में भी आत्महत्या की दर ऊँची हो जाती है । अत: दुर्खीम ने कहा कि आत्महत्या की दर में वृद्धि होना भौतिक परिस्थितियों पर निर्भर नहीं होकर उनके फलस्वरूप सामाजिक जीवन में जो अस्थिरता या अंधाधुन्धी आ जाती है । उस पर निर्भर करती है । सामाजिक जीवन की ऐसी अस्थिर परिस्थितियों में नैतिक मूल्यों की व्यक्ति पर पकड़ क्षीण हो जाती है, समाज का नैतिकता का ढांचा लड़खड़ा जाता है और व्यक्ति पर उसका नियंत्रण भी नष्ट हो जाता है। व्यक्ति के समक्ष खड़ी होती ऐसी अस्पष्ट और अस्थिर परिस्थितियों के कारण व्यक्ति का सामाजिक जीवन और उसकी सामाजिक क्रियाऐं तनाव में आ जाती है। दुर्खीम समाज की इन परिस्थितियों के फलस्वरूप होने वाली आत्महत्या को 'ऐनोमिक आत्महत्या' कहते हैं। संक्षेप में इस तरह की आत्महत्याओं की दर निम्न समूहों या परिस्थितियों में ऊँची पाई जाती है ।

(i) सामान्य आर्थिक परिस्थितियों की तुलना में आर्थिक मंदी या आर्थिक तेजी के दौर में ।

(ii) कृषि और संलग्न व्यवसायों से जुड़े लोगों की तुलना में वैचारिक तथा औद्योगिक व्यवसायों ' लोगों में ।

(iii) समाज में आकस्मिक रूप से तीव्र गति से आते सामाजिक परिवर्तन की परिस्थितियों में ।

(iv) सामाजिक अस्थिरता के दौर में प्रवर्तमान परिस्थिति के साथ सक्रिय तादात्म्य प्रस्थापित करने म असफल होने की परिस्थिति में ।

इस प्रकार दुर्खीम ने व्यक्ति के समूह या समाज के साथ सुग्रंथन के स्वरूप को केन्द्र में रखते हुए आत्महत्या की घटना के तीन अलग -अलग प्रकार के समूह बताये हैं । संक्षेप में अहंकारी आत्महत्या समूह के साथ सक्रिय सुग्रंथन के अभाव में तो परामर्शवादी आत्महत्या अतिशय सुग्रंथन के फलस्वरूप होती है, जबकि ''ऐनोमिक आत्महत्या सामाजिक परिस्थितियों की अस्थिरता के कारण होती हैं ।

8.8 समीक्षा

दुर्खीम ने आत्महत्या को एक सामाजिक तथ्य के रूप में परिभाषित करके एक तरफ आत्महत्या से जुड़ी कई गैर -सामाजिक बलों पर आधारित मान्यताओं का खण्डन किया तथा

दूसरी और आत्महत्या की घटना को एक वैयक्तिक घटना के रूप में नहीं, परन्तु सामाजिक परिस्थिति के एक प्रारूप के संदर्भ में समझने की अनिवार्यता पर जोर देकर समाजशास्त्र में आत्महत्या को वैज्ञानिक रूप में समझने के लिये एक नई दिशा दी । दुर्खीम का आत्महत्या का सिद्धान्त आज भी समाजशास्त्र में उनका एक मूल्यवान योगदान माना जाता है । फिर भी कई विद्वानों ने इस सिद्धान्त की प्रशंसा के साथ -साथ उसकी आलोचनात्मक टिप्पणी भी की है । इनका संक्षिप्त सार यहाँ दिया गया है ।

1. व्यक्ति और समाज के बीच सम्बन्धों के क्षेत्र में दुर्खीम ने एक मात्र समाज को ही केन्द्रीय महत्व दिया है । यही बात अनेक आत्महत्या के सिद्धान्त में भी रही है । इससे आत्महत्या के पीछे वैयक्तिक मानसिकता की अवहेलना दिखाई देती है ।
2. दुर्खीम ने आत्महत्या से सम्बन्धित उपलब्ध आकड़ों को श्रेणीबद्ध करके तुलनात्मक परीक्षण के आधार पर जो प्रारूप ढूँढे है, उन्हें व्यक्ति पर लादा है । इससे आत्महत्या का एक वैयक्तिक पहलू नजर अन्दाज हो जाता है ।
3. दुर्खीम ने आत्महत्या के इस सिद्धान्त में आर्थिक बलों पर विशेष ध्यान केन्द्रित हो ऐसा लगता है। शैक्षणिक और वैचारिक क्षेत्र में पाई जाने वाली भिन्नताओं का भी आत्महत्या की दर पर प्रभाव पड़ सकता है ।
4. किसी भी समूह या समाज की परिस्थिति सदैव "समय" और "स्थल" के परिणामों पर परिवर्तित होती रहती है । दूसरे शब्दों में कोई भी सामाजिक परिस्थिति नितान्त जड़ नहीं होती । दुर्खीम के इस सिद्धान्त में समूह तथा आत्महत्या की दर में सह -सम्बन्ध प्रकाश में लाने के प्रयास में समूह की परिवर्तनशीलता के लक्षण की अवहेलना दिखाई देती है ।

8.9 सारांश

समाज में आत्महत्या की दर में पाई जाने वाली भिन्नता से प्रभावित होकर अपने अध्ययन में जो मूल प्रश्न किया वो था, समाज में भिन्न आत्महत्या की दर में वृद्धि क्यों होती है । इस प्रश्न के उत्तर की शोध में उन्होंने 26,000 आत्महत्याओं की घटनाओं का समूह की परिस्थिति के आधार पर उपलब्ध आकड़ों की मदद से परीक्षण किया । इस प्रयास में उन्होंने आत्महत्या की एक सामाजिक तथ्य के रूप में व्याख्या की और आत्महत्या के तीन अलग - 'अलग प्रकार बताये । दुर्खीम का यह योगदान आज भी मौलिक और सीमा चिन्ह रूप माना जाता है । दुर्खीम के इस योगदान को समाजशास्त्रीय साहित्य में आज भी इसलिये मूल्यवान माना जाता है । क्योंकि समाजशास्त्र को एक विज्ञान के स्तर पर लाने के लिये उन्होंने जो अध्ययन पद्धतियाँ दर्शाई थी, उन पद्धतियों का प्रभावशाली ढंग से इस अध्ययन में उपयोग किया है ।

8.10 शब्दावली

1. आत्महत्या - स्वयं निर्णय से इरादा पूर्वक प्राप्त मृत्यु । इस कृत्य से मृत्यु प्राप्त करने वाले व्यक्ति को पता होता है कि, फिर उसे इस कृत्य के बाद अपनी भूल सुधारने का कोई अवसर प्राप्त नहीं होगा ।
2. अहंकारी आत्महत्या - वह आत्महत्या जो व्यक्ति के समाज या समूह के साथ सुग्रंथन टुट जाने के कारण होती है । इस प्रकार की आत्महत्या करने वाले व्यक्ति का अहं प्रबल होता है ।
3. परार्थवादी आत्महत्या - जब समाज में सामूहिक चेतना के समक्ष वैयक्तिक चेतना नगण्य लगने लगती है । या समाज के समक्ष व्यक्ति की अपनी हस्ती की कोई कीमत नहीं लगती तब परमार्थवादी आत्महत्या होती है ।
4. ऐनोमिक आत्महत्या - सामाजिक अस्थिरता तथा आकस्मिक रूप से अकल्पित परिस्थिति के निर्माण के कारण जब व्यक्ति को अपनी क्रिया - प्रतिक्रिया का मार्ग नहीं मिलता हो, ऐसी अन्धाधुन्धी युक्त परिस्थिति से छुटकारा पाने हेतु की जाने वाली आत्महत्या
5. गैर -सरकारी बल - जैवकिय मनोवैज्ञानिक पहलूओं तथा भोगोलिक पर्यावरण से जुड़े बल ।
6. सामाजिक बल : व्यक्ति की क्रिया -प्रतिक्रिया को; भावनाओं तथा वैचारिक को प्रभावित और संचालित करने के बल (Force)जो समाज मे से जन्म लेते हैं ।

8.11 बोध प्रश्न

1. आत्महत्या के अध्ययन में दुर्खीम का मूल प्रश्न क्या था?
2. दुर्खीम आत्महत्या को एक सामाजिक तथ्य की परिभाषा क्यों देते हैं ।
3. अहंकारी आत्महत्या तथा परमार्थवादी आत्महत्या की तुलनात्मक समीक्षा कीजिये ।
4. दुर्खीम के मतानुसार गैर -सामाजिक बल और सामाजिक बल का अर्थ समझाइये ।
5. गरीबी और आत्महत्या के बीच सम्बन्ध के बारे में दुर्खीम क्या कहते हैं ।
6. दुर्खीम ने आत्महत्या के अध्ययन में किन -किन पद्धतियों का उपयोग किया ।
7. दुर्खीम के योगदान के आधार पर आत्महत्या के प्रकार दर्शाइये ।
8. दुर्खीम के आत्महत्या के अध्ययन की संक्षिप्त में समीक्षा कीजिए ।

8.12 सन्दर्भ ग्रंथ

1. ब्रजराज चौहान 1944 - समाज विज्ञान के प्रेरक स्त्रोत; ए.सी. ब्रदर्स; 2 दर्शनपुरा उदयपुर
2. इमाईल दुर्खीम 1952 - 'स्युसाईड'', अंग्रेंजी अनुवाद: जोहन ए, स्पाउल्डीग तथा जार्ज सिम्पसन: राउटलेज और केगन पॉल जी. लन्दन
3. रार्बर्ट ए. निस्वेत, 19 इमाईल दुर्खीम; प्रेन्टिस हॉल; न्युजर्सी; यु.एयूस.ए.

4. एन्थोनी गिडन्स 1978; दुर्खीम; विलियम्स विलियन्स सन्स एण्ड कं. लि. ग्लासको ।
5. ल्यूकस अेस :1973; इमाईल दुर्खीमः हिज लाईफ एण्ड वर्क्स; एलन लेन एण्ड द पेनग्युन प्रेस, लन्दन

इकाई -9

मैक्स वेबर :सामाजिक क्रिया

इकाई की रूपरेखा:

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 सामाजिक क्रिया क्या है?

9.3 सामाजिक क्रिया की परिभाषा

9.4 सामाजिक क्रिया की विशेषताएं

9.5 सामाजिक क्रिया के प्रकार

9.6 वेबर के सामाजिक क्रिया के विचारों का मूल्यांकन

9.7 सारांश

9.8 शब्दावली

9.9 बोध प्रश्न

9.10 संदर्भ ग्रन्थ

9.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि समाजशास्त्र में सामाजिक क्रिया को कैसे परिभाषित तथा इसका क्या महत्व है । सामाजिक क्रिया, समाजशास्त्र की रीढ़ की हड्डी है। सामाजिक क्रियाओं के अध्ययन के द्वारा ही समाज की वास्तविकता को जाना जा सकता है। सामाजिक क्रियाओं की विशेषताओं के साथ -साथ, विभिन्न प्रकार की सामाजिक क्रियाओं का भी इस इकाई में उल्लेख किया गया है । वेबर ने विस्तृत रूप से इस संबंध में लिखा है । वेबर के सामाजिक क्रिया के विचारों का भी मूल्यांकन किया गया है ।

9.1 प्रस्तावना

सामाजिक क्रियाएं मानवीय अस्तित्व की पूर्वापेक्षाएँ, पूर्वावश्यकताएं हैं । इनके बिना मानव जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती । सामाजिक क्रियाएं ऐसी शर्तें है जिन्हें समाज की प्रत्येक इकाई (समूह संस्थाएं) को पूरा करना पड़ता है, यदि जीवन को बनाये रखना और पीढ़ियों तक समाज को चलाये रखना है । जिस रूप में इन पूर्वावश्यकताओं को तुष्ट किया जाता है, वे वैशिष्ट्य: सामाजिक क्रिया को ही प्रकट करती है । ये सामाजिक क्रियाएं ही मानव को अन्य प्राणियों से भिन्न करती हैं, ये मानव जीवन की अन्यतम विशेषता है ।

समाजशास्त्रीय विश्लेषण की सबसे बड़ी इकाई, समाज का अध्ययन करने के लिए हमें समाज की सबसे छोटी इकाई अर्थात् सामाजिक किया के अध्ययन कीं शुरुआत करना चाहिए । यह इकाई (सामाजिक क्रिया) सभी इकाइयों की रचना का आधार है । वह समाज रूपी ब्रह्माण्ड की सामाजिक शरीर का कोषाणु है । इसी के द्वारा सामाजिक संबंधों का निर्माण होता है ।

सामाजिक क्रिया - - - - - - - - -प्रतिक्रिया - - - - - - - - -सामाजिक अन्तक्रिया - - - - -सामाजिक संबंध

कुछ समाजशास्त्रियों (मैकाइवर एवं पेज) ने सामाजिक संबंधों के अध्ययन को ही समाजशास्त्र कहा है । ऐसे समाजशास्त्री सामाजिक -संबंधों को समाजशास्त्र की मुख्य विषय - वस्तु मानते हैं । इनके विपरीत, मैक्स बेबर जिनकी गणना समाजशास्त्र के अग्रणीय समाजशास्त्रियों में की जाती है, ने सामाजिक क्रिया के अध्ययन को सर्वाधिक महत्ता दी हे, जिसके आधार पर सामाजिक संबंधों और अन्ततः समाज को रचना होती. हे । अतः इस इकाई में सामाजिक क्रिया के अर्थ, परिभाषा, विशेषताएं, प्रकार आदि पर संक्षेप में प्रकाश डालेंगे ।

समाजशास्त्र के संस्थापकों में (कॉम्ट, स्पेन्सर, दुर्खीम और मार्क्स) मैक्स बेवर (1864 -1920) अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं । जहां कॉम्ट समाजशास्त्र शब्द के रचियता और संस्थापक और स्पेन्सर समाजशास्त्र के प्रवाह के पीछे छूट गये हैं, वहां वेबर, मार्क्स और दुर्खीम के विचार आज के आधुनिक समाज के अध्ययन में भी महत्व रखते हैं । इन विचारकों को आज भी पढ़ा जाता है । विश्व के लगभग सभी विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में इनका अध्ययन प्रस्तावित है ।

वेबर का जन्म जर्मनी में हुआ था जहां उन्होंने अपना अधिकांश शैक्षणिक जीवन व्यतीत किया । वे एक ऐसे विद्वान थे जिनका अध्ययन व लेखन का क्षेत्र अत्यंत व्यापक था । उन्होंने अर्थशास्त्र, कानून, दर्शनशास्त्र, राजनीतिशास्त्र और तुलनात्मक इतिहास के साथ -साथ समाजशास्त्र पर लिखा है, अतः उन्हें समाजशास्त्र की सीमाओं में बांधना और उन्हें केवल एक समाजशास्त्री कहना. उनके व्यापक ज्ञान के साथ न्याय नहीं होगा । उन्हें समाज वैज्ञानिक (Social Scientist) कहना अधिक उपर्युक्त होगा! सामाजिक क्रिया का अध्ययन वेबर के समाजशास्त्र का केन्द्रित विषय है । अतः वेबर के आधुनिक पूंजीवाद, प्रोटेस्टेण्ट, नौकरशाही सत्ता और शक्ति संबंधी विचारों को जानने और समझने के लिए सर्वप्रथम सामाजिक क्रिया संबंधी विचारों की तह में जाना जरूरी है । वेबर के सभी विचारों और अवधारणाऐं सामाजिक क्रिया के इर्द -गिर्द घूमती हैं ।

9.2 सामाजिक क्रिया क्या है।

हमारी सभी क्रियाएं, जिन्हें हम सुबह उठने से लेकर देर रात तक सोने तक करते रहते हैं, सामाजिक नहीं है । इनमें से अनेक क्रियाएं हमारी शारीरिक (सांस लेना, आंखों की पलकों का झपकना, अकारण हाथ, पैर हिलाना, उठना - बैठना आदि) हैं और कुछ अन्य क्रियाएं जैसे व्यायाम करना घूमने जाना, अपने पालतू जानवरों -कुत्ते, बिल्ली, गाय आदि को सहलाना, थपथपाना, उनकी सफाई करना आदि हमारी व्यक्तिगत क्रियाएं है, सामाजिक नहीं । ऐसी किसी भी क्रिया को सामाजिक नहीं कहा जा सकता जो दूसरे व्यक्तियों को प्रभावित नहीं करती और न ही व दूसरों से प्रभावित होती हैं । समाजशास्त्रीय दृष्टि से वे क्रियाएं या व्यवहार ही' सार्थक (सामाजिक) कहे जाने योग्य हैं जो दूसरे व्यक्ति/ व्यक्तियों के संदर्भ में किये जाते हैं । यदि हमारा हाथ हिलाना या आँख झपकना (आँखों द्वारा इशारा करना) किसी दूसरे के लिए कोई

अर्थ रखता है, वह उससे प्रभावित होता है, और उसके अनुसार अपने व्यवहार को नई दिशा देता है तब वह क्रिया मात्र शारीरिक नहीं है, अपितु वह एक सामाजिक क्रिया बन गई । सड़क पर जाते हुए किसी वाहन की रोशनी को देख कर जब हमारी आँखें झपकती है तब यह मात्र एक प्रतिवर्ती शारीरिक क्रिया है, न कि सामाजिक क्रिया । चौराह पर खड़ा पुलिस का आदमी बिना कुछ बोले अपने हाथों के इशारों से हमें रूकने या जाने का संकेत देता है ।

जब हमारी क्रियाएं उसे निर्देशित हो जाती है, यह शुद्धत: एक सामाजिक क्रिया है । इसी प्रकार, हम कई बार अपने आँखों के इशारे से बालक या किसी अन्य व्यक्ति को अपना संदेश दे देते हैं और बालक / अन्य व्यक्ति की क्रियाओं में हमारे इशारों से हेर -फेर हो जाता है, यह एक सामाजिक क्रिया है । ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जो सामाजिक क्रिया को समझने में सहायक हो सकते हैं । उपरोक्त विवेचन से एक बात स्पष्ट है कि हमारी सभी क्रियाएं 'सामाजिक' की श्रेणी में नहीं आती ।

9.3 सामाजिक क्रिया की परिभाषा

बेवर ने सामाजिक क्रिया को परिभाषित करते हुए लिखा है, "किसी क्रिया को सामाजिक तभी कहा जा सकता है जब उस क्रिया के करने वाले व्यक्ति अथवा व्यक्तियों द्वारा उसका व्यक्तिनिष्ठ (Subjective) अर्थ लगाया जाये, क्रिया करने वाला व्यक्ति क्रिया करते समय दूसरे व्यक्ति / व्यक्तियों को ध्यान में रखें और परिणामत: इस दौरान उसकी क्रिया में अभिमुखन (Orientation) हो । अर्थात् उसमें बदलाव हो ।" एक अन्य स्थान पर वेबर लिखते हैं, हम सामाजिक क्रिया किसी भी मानव अभिव्यक्ति या गतिविधि को कहेंगे जिसके साथ कर्त्ता अपना व्यक्तिनिष्ठ कार्य जोड़ता हो ।

रेमंड एरांन्ड ने वेबर के विचारों को स्पष्ट करते हुए जर्मन भाषा के उन तीन शब्दों का उल्लेख किया है जिन्हें वेबर ने समाजशास्त्र और सामाजिक क्रिया की परिभाषा में प्रयोग किया है समझना, बोध प्राप्त करना और मानवीय व्यवहार के अचल नियमों के कारणात्मक रूप को स्पष्ट करना अथवा उजागर करना । (स्मरण रहे, वेबर जर्मनी दे; रहने वाले थे । उनकी सभी मूल कृतियाँ जर्मन भाषा में हैं जिनका अंग्रेजी में बाद में अनुवाद हुआ ।)

क्रिया अथवा व्यवहार व्यक्ति परक रूप में अर्थपूर्ण होना आवश्यक है, अन्यथा उसे सामाजिक क्रिया नहीं कहा जा सकता हे । दूसरे व्यक्तियों के व्यवहारों को समझने के लिये हमें केवल यही नहीं देखना चाहिये कि वे क्या करते हे, या वे क्या नहीं कर रहे हैं, अपितु हमें यह भी समझना चाहिये कि वे अपनी क्रियाओं के साथ क्या अर्थ जोड़ते हैं, या वे अपनी क्रियाओं का क्या अर्थ लगाते हैं । दूसरे शब्दों में, हमें कर्ता द्वारा क्रिया के लगाये गये अर्थ और उसके अभिप्रेरक को भी जानने की कोशिश करनी चाहिए, अनन्यता हम क्रिया को वास्तविक अर्थ को जानने में असमर्थ रहेंगे । ध्यान रहे, जब हम अपने ही समाज के व्यक्तियों का अध्ययन कर रहे, जब हम पहले से ही उनकी क्रियाओं की प्रकृति को उनके संदर्भों में देख कर उनके अर्थ का अनुमान लगा लेते हैं, कि इनका क्या अर्थ हो सकता है । हिन्दुओं में जब एक व्यक्ति अपने पिता या माता को अभिवादन करने के लिए झुकता है, और यदि शोधकर्ता भी हिन्दू है, तब वह

सहज ही अनुमान लगा लेता है कि कर्ता कोई कसरत नहीं, अपितु अपने माता -पिता को आदर -भाव प्रकट करने के लिये झुका है । किन्तु, इसी क्रिया के इस अर्थ का किसी विदेशी शोधकर्ता को ज्ञात होना कठिन है और संभव है वह कर्ता के झुकने का अर्थ किसी प्रकार की कसरत में लगा ले । दूसरे समाज के लोगों का अध्ययन करते समय सामाजिक क्रिया के उस अर्थ को जानना आवश्यक हे जो समाज के लोग उस क्रिया के साथ जोड़ते है।

कसरत की क्रियाओं और संस्कार जनित धार्मिक / सामाजिक क्रियाओं में अन्तर हम तभी कर सकते हैं जब हमें उनके बारे में पहले से ज्ञान हो । दूसरे समाजों के लोगों के प्रेक्षणीय अंग विक्षेपों (देखे जाने वाले बंगों की चाल) के अपने अर्थ होते हैं जिन्हें समझने के लिए कर्ता से उनकी क्रियाओं के अर्थ की जानकारी हासिल करना जरूरी हो जाता है । मानव के व्यवहार की व्यक्तिपरकता की प्रकृति को तोड़ते हुए ही बेवर ने स्पष्ट लिखा है, क्रिया की निश्चित प्रक्रिया की सटीक कारणात्मक व्याख्या तभी संभव है जब बाह्य क्रिया और अनंतर्हित उद्देश्यों दोनों को सही ढंग से समझा गया है और उसके साथ ही उसके संबंध अर्थपूर्ण ढंग से समझ लिये गये हों -

सार रूप में, एक क्रिया तभी सामाजिक क्रिया है जब

1. कर्त्ता की क्रिया का कोई व्यक्तिनिष्ठ अर्थ हो जिसके उद्देश्यों के बारे में कर्त्ता को जानकारी हो,
2. कर्ता की क्रिया दूसरे लोगों की क्रिया / क्रियाओं से प्रभावित हो और उनकी क्रियाओं को प्रभावित भी करती हो ।
3. इस क्रिया - अनुक्रिया के दौरान कर्त्ता की क्रिया में या अनुरूप उसकी दिशायें परिवर्तन, संशोधन, बदलाव होता हो ।

9.4 सामाजिक क्रिया की विशेषताएं

वेबर ने सामाजिक क्रिया का विस्तृत रूप में विवेचन किया । वे इस बारे में भी सचेत थे कि किस क्रिया के साथ 'सामाजिक' के विश्लेषण को जोड़ा जाये । इसके लिए उन्होंने सामाजिक क्रिया की कुछ विशेषताएं बताई हैं जिनकी कसौटियों पर किसी क्रिया की सामाजिक निर्णय किया जा सकता है ।

1. प्रत्येक बाह्य क्रिया सामाजिक नहीं है - इस विषय पर हम शुरूआत में काफी लिख चुके हैं कि हमारी कई क्रियाएं शुद्धत: शारीरिक या व्यक्तिगत होती है, जिनमें सामाजिकता का लेशमात्र भी अंश नहीं होता । 'सामाजिक से यहां तात्पर्य है कि वह क्रिया दूसरे व्यक्ति के संदर्भ में की गई हो और उससे प्रभावित होने के साथ -साथ दूसरे व्यक्ति को प्रभावित भी होती है । वेबर ने ऐसे क्रिया को सामाजिक नहीं माना है जो एकांत में क्रिया करना अथवा किसी जड़ या अचेतन वस्तु (किसी मूर्ति या पेड़ की पूजा करना) के संदर्भ में की गई हो । ये ही क्रियाएं तब सामाजिक बन जाती हैं जब दूसरों के संसर्ग और निर्देशन (पंडित, पुजारी, मुल्ला, मदारी आदि) में की गई हों ।

2. सामाजिक क्रिया दूसरे व्यक्ति/ व्यक्तियों के वर्तमान भूत अथवा भविष्य के संभावित व्यवहार से प्रभावित हो सकती है - यह जरूरी नहीं है कि सामाजिक क्रिया दूसरे व्यक्ति की वर्तमान क्रिया से ही प्रभावित हो । कर्त्ता की वर्तमान क्रिया भी दूसरे व्यक्ति द्वारा भूतकाल में की गई क्रिया (मारपीट, गाली, गलौच, ऋण लौटाना आदि) अथवा भविष्य में होने वाली किसी संभावित क्रिया (जैसे आक्रमण होने की संभावना में अस्त्र -शस्त्र जुटाना, अस्त्र -शस्त्र चलाने का प्रशिक्षण लेना आदि) से प्रभावित हो सकती है । प्रतियोगी परीक्षाओं या किसी राष्ट्रीय खेल की तैयारी भी अप्रत्यक्ष तौर पर एक सामाजिक क्रिया है, यद्यपि इसमें सभी प्रतियोगियों के बारे में कोई जानकारी नहीं होती है । सामाजिक क्रिया में किसी क्रिया कर पाना न कर पाना अथवा इसकी मौन स्वीकृति दे देना, ये सभी बातें सम्मिलित हैं ।
3. अनेक व्यक्तियों की समान क्रियाएं या एक सी क्रियाएं सामाजिक क्रिया नहीं है, यदि वे दूसरे व्यक्तियों से प्रेरित और प्रभावित नहीं हो -

   वेबर ने कहा है कि 'सामाजिक क्रिया न तो अनेकों व्यक्तियों द्वारा की जाने वाली एक जैसी क्रिया को कहा जाता है और न ही उस क्रिया को कहा जाता है जो केवल दूसरे व्यक्तियों द्वारा प्रभावित हो । उदाहरणार्थ वर्षा होने पर सड़क पर जाने वाले व्यक्तियों का वर्षा से बचाव के लिए किसी पेड़ के नीचे खड़े हो जाना या छाता खोल कर सिर लगा लेने की क्रिया सामाजिक क्रिया नहीं है । यह अनुकरण (Imitation) मात्र है । वेबर आगे लिखते हैं कि 'दूसरे व्यक्तियों की क्रियाओं का अनुकरण करना सामाजिक क्रिया नहीं है, जब तक कि अन्य व्यक्ति जिनका अनुकरण किया जा रह है, कि क्रिया / क्रियाओं से अर्थपूर्ण सम्बन्ध न हो, या उसकी (कर्त्ता) क्रिया अर्थपूर्ण रूप से प्रभावित न हुई हो । ' इसी प्रकार एक बच्चे द्वारा अपने पिता या भाई को सिगरेट पीते हुए देखकर उसके द्वारा फेंके गये सिगरेट के टुकड़े को उठाकर ऐसी ही क्रिया करना अनुकरण मात्र है, यह सामाजिक क्रिया नहीं है । किन्तु जब अनुकरण सोच समझकर किया गया है तब यही अनुकरण की क्रिया सामाजिक क्रिया बन जाती है । आजकल फैशन का जो अनुकरण किया जा रहा है, उसके पीछे आधुनिक बनने का भाव निहित है, अत: यह एक सामाजिक क्रिया है ।
4. प्रत्येक प्रकार का सम्पर्क सामाजिक क्रिया का घोतक नहीं है -

   वेबर ने कहा कि मनुष्यों के कुछ सम्पर्क उसी सीमा तक सामाजिक क्रिया की श्रेणी में आते है, जहां तक वे दूसरों के व्यवहार को अर्थपूर्ण ढंग से प्रभावित करते हैं । उदाहरणार्थ यदि दो साईकल सवार सड़क पर अचानक टकरा जाते हैं, या सिनेमा में बैठे हुए पास के व्यक्ति से हमारा पैर हाथ या आकस्मिक रूप से छू जाता है, तब ऐसा सम्पर्क सामाजिक क्रिया नहीं होगा, किन्तु ऐसे व्यक्ति आपस में संघर्ष पर उतारू हो जाये, अथवा खेद व्यक्त करें, तब यह सामाजिक किया होगी क्योंकि ऐसा न करने में दोनों व्यक्तियों के व्यवहार में आपस में प्रभावित होंगे ।

9.5 सामाजिक क्रिया के प्रकार

मैक्स वेबर ने सामाजिक क्रिया का विशुद्ध विवेचन करते हुए इसके कुछ रूपों का भी विश्लेषण किया है और उन्होंने तार्किकता और अतार्किकता के माप पर सामाजिक क्रिया को मोटे रूप में चार श्रेणियों (Categories) में विभाजित किया है । माप के एक सिरे पर उन्होंने पारस्परिक क्रिया में सर्वाधिक कम तार्किकता और तार्किक क्रिया का उद्देश्यपूर्ण क्रिया के रूप में निरूपित करते हुए सर्वाधिक तार्किकता या पूर्ण तार्किक बताया है । इसे हम नीचे एक आरेख द्वारा प्रदर्शित कर रहे हैं

9.6 बेवर के सामाजिक क्रिया के विचारों का मूल्यांकन

सामाजिक क्रिया की श्रेणियां

पारम्परिक क्रिया	भावात्मक क्रिया	मूल्यांकन क्रिया	तार्किक क्रिया
(लेशमात्र तार्किक या अन्तक्रिया)	(न्यूनतम तार्किक)	(लघुमात्रा में तार्किक)	(पूर्ण तार्किक)

अब हम संक्षेप में इनका विवेचन करेंगे । वेबर मानते है कि प्रत्येक प्रकार के मानवीय व्यवहार को उपरोक्त चार श्रेणियों में रखा जा सकता है -

1. तार्किक (Rational) - उद्देश्यपूर्ण क्रिया

वेबर के अनुसार ऐसे सामाजिक व्यवहार तार्किक उद्देश्यपूर्ण श्रेणी में आता है जो उपयोगिता से चलित होता है और एकाधिक उद्देश्यों की अधिकाधिक प्राप्ति हेतु तार्किक रूप में निर्देशित होता है । सरल अर्थों में यह एक ऐसा व्यवहार है जिसमें क्रिया के करने के पूर्व साध्य (लक्ष्य) और साधनों दोनों के चयन पर तार्किक ढंग से सोच विचार किया जाता है । इस प्रकार की क्रिया पूर्णत: योजनाबद्ध तरीके से की जाती है । इसमें साधन ही नहीं लक्ष्यों पर भी पूरा सोच -विचार कर, अर्थात् क्या लक्ष्य उपलब्ध साधनों के संदर्भ में प्राप्त किये जा सकते है और क्या, वास्तव मे लक्ष्य प्राप्त करने योग्य हैं, उनका निर्धारण किया जाता है । साधनों के चुनाव में एक निपुण कर्त्ता साधनों की कुशलता के साथ -साथ विद्यमान मूल्यों के साथ उनके तालमेल पर भी ध्यान देता है ।

एक इंजीनियर, डाक्टर, उद्यमी और सट्टेबाज की क्रियाएं इसी श्रेणी में आती है । एक इंजीनियर किसी बांध, पुल या अट्टालिका का निर्माण कार्य शुरू करने से पूर्व कई बातों यथा धन, उपकरण, तकनीक, श्रमिक आदि पर विचार करता है । इसी प्रकार, ऑपरेशन करने से पूर्व डाक्टर चिकित्सा के औजार और उनका निसंक्रमण, ऑक्सीजन अतिरिक्त रक्त, सहायक अन्य चिकित्सा कर्मी । (कम्पाउन्डर, नर्स आदि) आदि जैसी कई तकनीकी बातों पर विचार करता है । वेबर ने सभी आर्थिक क्रियाओं को शुद्धत: तार्किक -उद्देश्यपूर्ण माना है । उन्होंने इस संदर्भ में सटोरिये की क्रियाओं का विस्तृत विवेचन भी किया है ।

वेबर ने सामाजिक क्रिया के अपने आदर्श प्रारूप में तार्किक क्रिया को सर्वाधिक महत्व दिया है । वे मानते हैं कि व्यक्ति अधिकांश व्यवहार जो पारम्परिक नहीं है, उन्हें तार्किकता के निकट माना जा सकता है और मनोभावों (Sentiments) और उद्वेग (Emotions) जैसे कारकों का प्रयोग तार्किक आदर्श से विचलन (Deviation) की स्थिति की व्याख्या में ही किया

जाना चाहिये । वेबर ने तार्किकता को एक अनुभवपरक (empirical) आदर्श माना । समाजों के पारम्परिक ढांचों के टूटने के साथ आज हमारे कदम अधिकाधिक बढ़ते हुए तार्किकीकरण (Rationalization) की और अग्रसर हो रहे हैं, जिसे हम व्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए छटपटाहट, विशेषतः बाजार के संबंधों में अभिव्यक्त होता हुआ देख सकते हैं । किन्तु आदिवासी और पारम्परिक समाजों में आज भी बुद्धिसंगत क्रियाओं की मात्रा बहुत कम है ।

2. मूल्यांकनात्मक क्रिया (Evaluative Action)

ऐसी क्रियाएं जो मूल्यों की तार्किता द्वारा चलित होती है, मूल्योन्मुखी या मूल्यांकनात्मक क्रियाएं कहलाता हैं । अपने मूल -रूप में, ये तार्किक क्रियाओं का ही एक विशिष्ट रूप है, जिसमें मूल्य ही लक्ष्य बन जाते हैं ओर क्रियाओं का संचालन करते हैं । मूल्य कई प्रकार के होते हैं - धार्मिक, नैतिक, राजनीतिक, आर्थिक और सौन्दर्यात्मक आदि । इनमें भी एक सौपानिक व्यवस्था होती है, अर्थात् कुछ मूल्य अन्य मूल्यों की अपेक्षा अधिक महत्व रखते हैं, उन्हें अन्य मूल्यों की अपेक्षा वरीयता दी जाती है । ऐसी क्रियाएं शुद्धत: मूल्यों के वशीभूत किया जाने के कारण इनमें तार्किकता का अंश कम होता है । मूल्यों की दोनों ही इन क्रियाओं में लक्ष्य होता है । इस प्रकार की क्रियाएं करने में किसी प्रकार के तर्क की जरूरत नहीं पड़ती । इन्हें बिना किसी मनुष्य हिचकिचाहट के इसलिये स्वीकार कर लिया जाता है कि इनके करने से सामाजिक प्रतिष्ठा में बढ़ोतरी होती है, और इसके साथ ही आत्मिक संतोष का अनुभव होता है।

मूल्यांकनात्मक क्रिया में मूल्य साधनों के चयन के साथ -साथ लक्ष्यों के कोटिक्रम (Ranking) को भी प्रभावित कर सकते है, किन्तु इसमें लक्ष्य की प्राप्ति अपने आप में कोई महत्व नहीं रखती । इस प्रकार की क्रिया में किसी विशिष्ट एवं स्पष्ट मूल्य को प्रभावकारी एवं लाभकारी उपलब्ध साधन द्वारा -दूसरे मूल्यों की कीमत प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है।

तार्किक और मूल्यांकनात्मक क्रिया में सबसे बड़ा अन्तर है, लक्ष्य और -साधनों के चयन का । मूल्यांकनात्मक क्रिया में तार्किक क्रिया की अपेक्षा साधनों का चयन पर अधिक जोर दिया जाता है क्योंकि कई बार इन क्रियाओं के लक्ष्य ही मूल्य होते हैं और कई बार लक्ष्य वास्तविक हो भी सकते हैं और नहीं भी । इनका एक अच्छा उदाहरण धार्मिक व्यवहार है जिसमें कुछ लक्ष्यों (प्रकट या अप्रकट) की प्राप्ति के लिये कई धार्मिक क्रियाएं सम्पन्न की जाती हैं । इन क्रियाओं के द्वारा लक्ष्य की प्राप्ति अथवा नहीं या कितनी मात्रा में लक्ष्य की प्राप्ति हुई इस बारे में और सटिक रूप में कहना अत्यंत कठिन है ।

शिक्षक दिवस पर गुरुजनों का सम्मान करना, माता -पिता के प्रति नतमस्तक होना, एक विवाह के नियम का पालन करना आदि से जुड़ी क्रियाएं इसी श्रेणी में आती हैं । अधिकांश हमारी नैतिक क्रियाएं मूल्यांकनात्मक क्रियाओं के उदाहरण हैं ।

3. उद्वेगात्मक (भावनात्मक) क्रिया (Affective Action)

प्रेम, घृणा, क्रोध सहानुभूति, दया, करूणा हिंसा आदि के वशीभूत की गई क्रियाएं उद्वेगात्मक क्रिया कहलाती हैं । ये सभी कारक संवेग या उद्वेग कहलाती हैं' । संवेगों के प्रभाववश किया गया व्यवहार नितांत प्रतिवर्ती होता है, जैसे किसी धमकी की प्रतिक्रिया में डर

या भय की भावना की अभिव्यक्ति करना । इस प्रकार के व्यवहार का किसी संवेग (उद्वेग) की अभिव्यक्ति के अलावा कोई लक्ष्य नहीं होता । किन्तु जब किसी संवेगात्मक स्थिति की पूर्ति के लिये किसी साधन का लगभग, जानबूझकर कर चयन किया जाता है जब यह भावनात्मक क्रिया काफी तार्किकता के निकट पहुँच जाती है । (मैक्स वेबर, 1947)

माँ द्वारा अपनी बच्चे को दुलारना, प्रेमी द्वारा प्रेमिका को बाँहों में बांध लेना या चुम्बन लेना, पिता द्वारा बच्चे को थप्पड़ लगा देना, किसी खेल के दौरान किसी लड़के द्वारा लड़की के साथ छेड़छाड़ करने की प्रतिक्रिया स्वरूप मारपीट करना, पत्थर आदि फेंकना संवेगात्मक व्यवहार के ही कुछ उदाहरण हैं । संवेगात्मक अवस्था में व्यक्ति कभी -कभी ऐसे कार्य कर बैठता है, जिन्हें सामान्य स्थिति में वह कभी करने की सोच नहीं सकता । ऐसी स्थिति में वह भावना बलवती होती है कि कुछ सामाजिक परिस्थितियों में कर्त्ता की क्रिया सदैव ही परिस्थिति, लक्ष्यों तथा इनके प्रति मनोभावनाओं से प्रभावित लक्ष्यों तथा इनके प्रति मनोभावनाओं से प्रभावित होती है । इस प्रकार की क्रिया में लक्ष्यों और साधनों दोनों का निर्धारण भावनाओं (संवेगों) के द्वारा होता है । इसमें भावप्रणवता भावोत्तेजक, रागात्मकता और मानस की कुछ अन्य स्थितियां क्रिया के संचालन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है ।

कुछ लोगों ने भावनात्मक व्यवहार में तार्किकता के अंशों को ढूंढने का प्रयास किया है। इस प्रकार के विचारों पर टिप्पणी करते हुए वीन माइसेज (1966) कहते हैं कि 'कठिनाई तब उत्पन्न होती है जब एक व्यक्ति ऐसी क्रियाओं को जो भावनात्मक और तार्किकता के रूप में व्याख्या की जाती है । उदाहरणार्थ जब एक व्यक्ति गुस्से में भरा होता है, तब उसके किसी गलत व्यवहार के लिए उसके वरिष्ठ साथियों द्वारा गलती से उसने दोषी मान लिया जाता है, बिना उसकी आलोचना को स्वीकार किये और या उसके दोषारोपण की निर्दोषता को सिद्ध करने के प्रयासों के अभियुक्त पर वार किया जाता है ।यह व्यवहार बाह्य रूप में अतार्किक या गैर - तार्किक नजर आता हो, यहां तक कि अभियुक्त के साथी भी ऐसी मानते हो । किन्तु एक मनोविश्लेषक यह कह सकता है कि आरोपित व्यक्ति में तथाकथित नियंत्रण का अभाव किसी संवेगात्मक स्थिति के कारण उत्पन्न हुआ और उसका एक अर्थ है ।

मनोविश्लेषक की उस व्यवहार की यह व्याख्या होगी कि जिस व्यक्ति पर दोषारोपण किया गया हे, वास्तव में, वह अचेतक रूप में यह चाहता है कि हिंसात्मक व्यवहार के प्रदर्शन के लिये दंड दिया जाना चाहिये और वह दोषारोपण को एक लक्ष्य के एक साधन के रूप में मान सकता है । यदि इस व्यवहार की मनोविश्लेषण व्याख्या को स्वीकार कर लिया जाता है, तब संभव है कि कुछ गहन स्तर पर भावनात्मक व्यवहार के कई रूपों को तार्किक माना जा सकता है ।

इस तरह से भावनात्मक व्यवहार मनोविज्ञान के दायरे में आता हे । क्योंकि इसमें प्रयोग किये गये कारक - संवेग, उद्वेग, रागात्मक मनोवैज्ञानिक चर (Variables) है किन्तु वेबर ने इस प्रकार के व्यवहार (भावात्मक) को भी समाजशास्त्रीय ग्वेषणा के लिए महत्वपूर्ण माना है । उदाहरण, वेबर ने धार्मिक उत्सव में सम्मिलित होने के लिये आग्रह करते है तब लोग बिना सोच -समझे इस प्रकार के व्यवहार को अपना लेते हैं । वेबर ने आग्रह को करिश्मा

कहा है कि कुछ व्यक्तियों में भद्रता के कुछ गण होते हैं जो दूसरों को उनके प्रति आकृष्ट करते हैं । फिर भी, वेबर ने सामाजिक क्रिया को अपनी योजना में भावनात्मक क्रिया को अधिक महत्व नहीं दिया है ।

4. परंपरागत क्रिया (Traditionalistic Action) -

विगत के आधार पर विकल्पों पर बिना सोच -विचार किये की जाने वाली क्रियाएं पारम्परिक कहलाती है । जब किसी व्यक्ति से किसी क्रिया या व्यवहार विशेष के कारणों के बारे में पूछा जाता है, कि वह ऐसा क्यों कर रहा है, उत्तर में वह किसी परम्परा का उल्लेख करते हुए कहता है कि हमारे परिवार / समुदाय / समाज में एक लम्बे अरसे से ऐसा किया जाता रहा है । ऐसी क्रियाएं कर्त्ता की प्रथानुगत या आदतन व्यवहार पर आधारित होती हैं । सभी प्रथाएं जन रीतियां रूढ़ियां परम्परा का ही भाग होती हैं । जीवन पंथ के विभिन्न संस्कारों - जन्म, मरण और तीज त्यौहारों से जुड़ी कई प्रथाएं पारम्परिक व्यवहार को ही प्रदर्शित करती हैं ।

इस प्रकार के व्यवहार के लक्ष्यों और साधनों दोनों का निर्धारण प्रथा, रूढ़ि या परम्परा से होता है । इस प्रकार के व्यवहार को तार्किक नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसमें साधन और साध्य को बिना किसी नानुकर के कर्त्ता द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है । तार्किक क्रिया की भांति, इसमें किन्हीं लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये क्रिया करने के तरीका का चयन नहीं किया जाता है । ऐसी क्रियाएं पूर्व निश्चित प्रतिमानों के अनुसार की जाती हैं ।

सामाजिक जीवन को सरल और शांतिमय बनाये रखने में पारम्परिक क्रियाओं की महत्वपूर्ण भूमिका होती है, क्योंकि इन क्रियाओं को करते समय व्यक्ति को अधिक सोच - विचार नहीं करना पड़ता है और न ही कोई मूल्यों का ध्यान रखना पडता । इन्हें परम्पराओं के संरक्षण के उद्देश्य से सम्पादित किया जाता है । वेबर ने सामाजिक संबंधों की रचना को बनाये रखने के लिए इन क्रियाओं को महत्वपूर्ण माना है । लोगों की क्रियाएं सामान्यत: परम्परा के मार्ग से विचलित नहीं होती और समाज की मर्यादा बनी रहती है ।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि समाजशास्त्र में सामाजिक क्रिया के सिद्धान्त को वेबर की अमूल्य देन है, फिर भी इनके सिद्धान्त की कई समाज वैज्ञानिकों ने उनके विचारों को लेकर कटु आलोचना भी की है । वेबर के सम्पूर्ण समाजशास्त्र का आधार व्यक्तिपरकता (Subjectivity) रहा है और सामाजिक क्रिया संबंधी उनके विचार भी इससे अछूते नहीं रहे - हैं। विज्ञान की सबसे बड़ी अड़चन भी व्यक्तिपरकता ही है । जब वेबर पद्धति के प्रयोग का सुझाव देते हैं, वहाँ व्यक्तिपरकता ही इस पद्धति की कमजोरी बन जाती है । यह बात भी सही है कि कर्त्ता की क्रिया को मात्र बाहर से देख कर कर्त्ता के क्रिया करने के इरादे को नहीं समझा जा सकता । इसके लिये सहानुभूति समझ' (Sympathetic understanding) का सहारा लेना ही होगा ।

प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक लेन बॉक ने वेबर के सामाजिक क्रिया के वर्गीकरण को ठीक नहीं बताया और कहा कि सामाजिक व्यवहार की तीन ही मूल अभिप्रेरणाएं होती हैं -

1. तर्क - तार्किक व्यवहार इसी से जुड़ा हुआ है और इसी में वेबर का प्रथम प्रकार आता है ।
2. संवेग - यह भावनात्मक व्यवहार को जन्म देता है वेबर की उद्वेगात्मक या संवेगात्मक क्रिया को इसमें रखा जा सकता है ।
3. मनोभाव - वेबर की पारम्परिक क्रिया का प्रकार मनोभावों से जुड़ा होने के कारण इसमें आता है ।

लेन बॉक ने वेबर के मूल्यांकनात्मक व्यवहार के बारे में प्रश्न उठाते हुए कहा है कि यह स्पष्ट नहीं है क्योंकि प्रत्येक व्यवहार के पीछे कोई न कोई अभिप्रेरणा काम करती है । ये अभिप्रेरणा चालक होती हैं जो किसी व्यवहार को जन्म देती हैं । लेन बॉक के अभिप्रेरणा संबंधी इन विचारों को कई विचारकों जैसे रेमंड ऐरान पार्सन्स और गिडिंग्स ने स्वीकार नहीं किया है ।

इसमें कोई संदेह नहीं हे कि वेबर की सामाजिक क्रिया के वर्गीकरण की योजना पूर्णत: सही नहीं है । यह पूर्णत: एकान्तिक नहीं हे । इनके बीच विभाजन की स्पष्ट रेखा खींचना कठिन है । सामाजिक क्रिया के एक प्रकार के कुछ तत्व दूसरे प्रकार में अप्रकट रूप में देखे जा सकते हैं । जिस क्रिया को हम पूर्णत: पारम्परिक मानते हों, उसमें मूल्यों का भी समावेश हो सकता है । एक विशिष्ट क्रिया को सामाजिक क्रिया के दो या अधिक प्रकारों में भी रखा जाना नामुमकिन नहीं है । समाजशास्त्रीय ज्ञान में सीमांत प्रकरण व सामान्य नहीं है । इन कमजोरियों के होते हुए भी वेबर का यह वर्गीकरण तुलनात्मक अध्ययन के लिए एक आधार प्रस्तुत करता है ।

9.7 सारांश

सामाजिक क्रिया का विषय मैक्स वेबर के समाजशास्त्र की धुरी रहा है । न केवल मैक्स वेबर को समझने के लिये अपितु समाजशास्त्र को ही समझने के लिए सामाजिक क्रिया का सैद्धान्तिक अध्ययन आवश्यक है । सामाजिक क्रिया समाज की सबसे छोटी इकाई हे । यदि हम कहें कि सामाजिक क्रिया समाज रूपी शरीर का एक कोशाणु हैं, जिसके द्वारा सम्पूर्ण शरीर की रचना होती है, तो अतिश्योक्ति नहीं होगी । अत: समाज को समझना है तो सर्वप्रथम इसके निर्णायक तत्वों को जानना आवश्यक है और सामाजिक किया इन निर्णायक तत्वों की प्राथमिक और अपरिहार्य इकाई है । यहाँ यह बताना सर्वथा अतिश्योक्ति नहीं होगा कि मोटे रूप में समाजशास्त्र की परिभाषा समाज के अध्ययन के रूप में की गई है, किन्तु मैक्स वेबर ने समाजशास्त्र की परिभाषा सामाजिक क्रिया के निर्वचनात्मक बोध के रूप में की हे । अत: समाजशास्त्र को ठीक प्रकार से समझने के लिये सामाजिक क्रिया, अन्तक्रिया सामाजिक संबंध जो समाज की रचना के अनिवार्य अंग है, को समझना होगा ।

उन्नीसवीं सदी के अंतिम वर्षों में अन्य साथियों की भाँति वेबर की भी आधुनिकता, सामाजिक परिवर्तन और समाज के सामान्य चरित्र के विश्लेषण में काफी रूचि रही है । आधुनिकता के विश्लेषण में भी उनका केन्द्रीय विषय सामाजिक क्रिया ही रहा है, अर्थात् सामाजिक क्रिया के वे कौन से रूप है जो आधुनिक जीवन का प्रतिनिधित्व करते हैं? वेबर के अनुसार क्रिया के अन्य सभी रूपों (पारस्परिक, मूल्यांकनात्मक और संवेगात्मक) पर तार्किकता

की विजय हावी नजर आती है । अपने इस विचार को सिद्ध करने के लिये उन्होंने आधुनिक पूंजीवाद का उदाहरण दिया । केवल आधुनिक पूंजीवादी समाज जिसे आज हम अपनी आँखों के सामने देख रहे हैं ।

यह परम्परा भावना या मूल्यों की अपेक्षा कार्य की कुशलता क्षमता के परिकलन पर निर्भर है जिसके द्वारा अपने लाभों को बढ़ाया जा सकता है, इसमें सिद्धान्त (मूल्य) भावना और परम्परा का कोई स्थान नहीं है । नौकरशाही, बाजारीकरण और तार्किकीकरण इसके प्रमुख उदाहरण हैं । वेबर ने सामाजिक क्रिया की उपरोक्त वर्णित योजना में तार्किक क्रिया को सर्वाधिक महत्व दिया है ।

9.8 शब्दावली

उद्वेग - क्रोध, भय, शोक, वात्सल्य, प्रेम आदि मानव सभी प्राणियों की अत्यधिक उत्तेजित अथवा क्षुब्धावस्था को प्रकट करते हैं जो मानव की चेतना अनुभूति व्यवहार ओर अन्तरावयवों में एक प्रकार की हलचल मचा देती हे । यह स्थिति कई बार व्यक्ति के विवेक पर परदा डाल देती है ।

मनोभाव - विचार और भावात्मक कृति के समन्वय की स्थिति को मनोभाव कहते हैं। ये जन्मजात नहीं, अर्जित होते हैं । इस स्थिति में एक वस्तु, व्यक्ति या घटना के प्रति बार - बार किसी प्रकार के विचार आते हैं, उदाहरणार्थ - राग, द्वेष आदि ।

आदर्श प्रारूप - ये एक मॉडल की भांति हैं जिनकी रचना अध्यित घटना की अतिरंजित विशेषताओं द्वारा की जाती है । इसे यथार्थ के कुछ तत्वों में घटोत्तरी या बढ़ोतरी द्वारा बनाया जाता है । इसका प्रयोग किसी विशिष्ट घटना के साथ तुलना में किया जाता है ।

9.9 बोध प्रश्न

1. सामाजिक क्रिया क्या है? स्पष्ट कीजिए ।
2. सामाजिक क्रिया की विशेषताएँ बताइए ।
3. सामाजिक क्रिया के प्रकारों का वर्णन कीजिए ।
4. वेबर के सामाजिक क्रिया सम्बन्धी के विचारों का मूल्यांकन कीजिए ।

9.10 संदर्भ ग्रंथ

- एम., फ्रांसिस अब्राहिम, कन्टम्परी सोश्योलोजीकल थ्योरी, ऑक्साफोर्ड, नई दिल्ली, 2006 ।
- दोषी, एस. एल. एवम् पी. सी जैन, सामाजिक विचारक, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, 2002
- मुखर्जी, आर. एन., सामाजिक विचारधारा, विवेक प्रकाशन, दिल्ली, 2002 ।

इकाई - 10

मैक्स वेबर : पद्वतिशास्त्र

इकाई की रूपरेखा :

10.1 उद्देश्य

10.2 प्रस्तावना

10.3 वेबर का पद्वतिशास्त्र

10.3.1 वर्स्टहेन या निर्वचनात्मक बोध

10.3.2 आदर्श प्रारूप

10.4 सारांश

10.5 शब्दावली

11.6 बोध प्रश्न

10.6 संदर्भ ग्रन्थ

10.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के पश्चात् आप :

- वेबर के समाजशास्त्र के लिए पद्वतिशास्त्र के विकास में योगदान को जान पायेंगे ।
- प्राकृतिक घटना व सामाजिक घटना में अन्तर को जान पायेंगे ।
- पद्वतिशास्त्र की विशेषताएं जान पायेंगे ।
- पद्वतिशास्त्र के रूप में वेबर की अनेक महत्वपूर्ण अवधारणायें अर्थात् आदर्श प्रारूप, वर्स्टहेन को जान पायेंगे ।

10.2 प्रस्तावना

वेबर का पद्धतिशास्त्र प्राकृतिक विज्ञान, सामाजिक विज्ञान, मूल्यों के महत्व, मूल्य निरपेक्षता, बोध की पद्धति (वर्स्टहेन) एवं आदर्श प्रारूप की अवधारणा पर आधारित है उन्होंने समाजशास्त्रीय नियम तथा प्राकृतिक नियमों की व्याख्या की है । उनके अनुसार समाजशास्त्रीय नियमों और प्राकृतिक विज्ञान के नियमों में भेद है । प्राकृतिक विज्ञान के अन्तर्गत नियमों की खोज करना स्वयं एक साध्य है लेकिन समाजशास्त्र में ऐसा नहीं है । समाजशास्त्रीय नियमों का उद्देश्य सामाजिक व्यवहार को स्पष्टत: समझना और उसी आधार पर ऐतिहासिक घटनाओं के अन्त: सम्बंधों की कारण सहित खोज करना है । वेबर सामाजिक ऐतिहासिक परिस्थितियों की चर्चा करते हुए मूर्त क्रियारत व्यक्ति (कर्त्ता) को विश्लेषण की प्रमुख इकाई मानते हैं । अत: मेक्सवेबर का समाजशास्त्र दूसरे. सामाजिक विज्ञानों से इस अर्थ में भिन्न है कि आपके समाजशास्त्र में व्यक्ति का (जो कि सामाजिक क्रिया को उत्पन्न करने वाला होता है) स्थान सर्वप्रमुख है ।

10.3 वेबर का पद्धतिशास्त्र

पद्धतिशास्त्र के रूप में वेबर का समाजशास्त्र मैं विशेष योगदान है । सर्वप्रथम आपने यह स्पष्ट किया है कि प्राकृतिक घटनाओं और सामाजिक घटनाओं में मौलिक अन्तर है । इसी भिन्नता का प्रभाव प्राकृतिक विज्ञानों और सामाजिक विज्ञानों की भिन्नता का निश्चय करता है। टालकॉट पारससं के अनुसार, "अनेक जर्मन विद्वानों से भिन्न वेबर ने पद्धतिशास्त्रीय अन्वेषण स्वान्तः सुखाय नहीं किया, बल्कि अपनी अनुभवजन्य गन्वेषणा में प्रस्तुत समस्याओं के स्पष्टीकरण के एक साधन के रूप में किया । ग्वेषणा का यह कार्यक्रम आधुनिक पाश्चात्य जगत की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था के सबसे महत्वपूर्ण पहलूओं को समझने के अत्यन्त विस्तृत प्रयास पर केन्द्रित है ।" ई.एस. बोगार्डस ने लिखा है कि " पद्धतिशास्त्र को मेक्सवेबर की देन यह थी कि उन्होंने सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में वैज्ञानिक पद्धति एवं मूल्य निर्णय पद्धति में अन्तर किया है । उन्होंने इस बात पर बल दिया है कि मानवीय सम्बन्धों का अध्ययन करते समय इन दोनों पद्धतियों को कदापि मिलने नहीं देना चाहिए । उन्होंने अपने तरीकों से समाजशास्त्र के एक विज्ञान के रूप में विकास की एक नींव डाली ।" यह वेबर की पद्वतिशास्त्रीय गहन अन्तदृष्टि के कारण ही सम्भव हुआ ।

जर्मनी में इस समय ऐसे विचारकों का एक कट्टर समुदाय बन गया था, जिनका मानना था कि समाज विज्ञानों पर प्राकृतिक विज्ञानों के अनुसार विचार नहीं किया जा सकता । इसका तात्पर्य यह हुआ कि जो यथार्थता प्राकृतिक विज्ञानों के अध्ययन तथा निष्कर्षों में होती है, उस यथार्थता की समाजशास्त्रीय अध्ययन तथा विश्लेषणों में आशा नहीं की जा सकती । उपरोक्त ऐतिहासिक सम्प्रदाय का यह विश्वास था कि केवल प्राकृतिक विज्ञानों में ही सामान्यीकृत श्रेणियों का प्रयोग हो सकता है, सामाजिक विज्ञानों में नहीं । सामाजिक विज्ञानों में तो केवल ऐतिहासिक पद्धति के द्वारा ही सामाजिक घटनाओं की व्याख्या और उनमें अन्तर्निहित प्रेरक शक्ति एवं सांस्कृतिक प्रभावों का स्पष्टीकरण किया जा सकता है ।

वेबर यांत्रिक प्रत्यक्षवाद की आलोचना करते हैं । वे इस मत से सहमत नहीं हैं कि प्राकृतिक व सामाजिक विज्ञानों के मूलरूप में संज्ञानात्मक उद्देश्य समान है । वे साथ ही जर्मन के उस ऐतिहासिक वाद का भी विरोध करते हैं जिसमें यह तर्क दिया जाता है कि मानवीय क्रियाओं का वैधानिक सामान्यीकरण संभव नहीं है । बेवर के अनुसार विज्ञान की पद्वति सदैव अमूर्तता व सामान्यीकरण को प्राप्त करने का प्रयास करती है । वे इस विचार को स्थापित करते हैं कि मानवीय क्रियाओं का अध्ययन बाह्य अभिव्यक्ति व कर्ता के उद्देश्य व साधन सम्बन्धी वैषयिक तर्कों के माध्यम से संभव हो सकता है । कर्त्ता के वैषयिक अर्थ महत्वपूर्ण हैं यदि वेबर के इस तर्क को विस्तार दिया जाये तो यह कहा जा सकता है कि अनुसंधानकर्ता की समस्या के चुनाव में मूल्यों को तर्क के रूप में प्रयुक्त करता है । परन्तु सामाजिक अनुसंधान पद्धति में अनुसंधानकर्ता को मूल्य तटस्थ होना चाहिए अर्थात् मूल्य तटस्थ पद्धति वेबर के पद्वतिशास्त्र की मुख्य विशेषता है । वेबर का मत है कि यह एक अनावश्यक विवाद है कि प्राकृतिक विज्ञान व समाज विज्ञान के मध्य अनुसंधान की पद्धति को लेकर कोई विवाद है । इन दोनों विज्ञानों के मध्य अंतर वैज्ञानिकों के उद्देश्यों व उसकी भिन्न -भिन्न रुचियों के आधार पर किया जा सकता है वे यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि प्राकृतिक व सामाजिक विज्ञान दोनों

वास्तविकताओं के विभिन्न पक्षों को अमूर्त पक्षों में रूपान्तरित करते है । यह रूपान्तरण सदैव चयन प्रक्रिया पर आधारित होता है ।

वेबर के इस तर्क से यह स्पष्ट होता है कि प्राकृतिक वैज्ञानिक, प्राकृतिक प्रघटनाओं का अध्ययन कर अमूर्त नियमों का निर्माण करता है जबकि समाज वैज्ञानिकों मानव व्यवहारों का मूल्यांकन कर वैध किन्तु अमूर्त सामान्यीकरण प्रस्तुत करता है । इस मूल्यांकन की प्रक्रिया हेतु आवश्यक है कि कर्त्ता की विभिन्न योग्यताओं के बारे में जानकारी प्राप्त करें, जिनके माध्यम से क्रिया को विशिष्ट अर्थ प्रदान किये जाते हों । क्योंकि आनुभविक वास्तविकताएं असीमित हैं अत: चयन प्रक्रिया अनुसंधानकर्ता के लिए अनिवार्य हो जाती है । इस दृष्टिकोण के आधार पर वेबर दो प्रकार की पद्धतियों का उल्लेख करते हैं : -

1. सामान्यीकृत पद्धति : -

इसके अन्तर्गत समाज वैज्ञानिक वास्तविकता के कारणों की खोज करता है, जो कि विशिष्ट है उसके पश्चात मूर्त व्यक्तिपरक क्रियाओं को उदाहरण के रूप में या साक्ष्य के रूप में सम्मिलित कर सैद्धान्तिक सामान्यीकरण निर्मित करता है ।

2. व्यक्ति परक / विशिष्ट पद्धति : -

इसके अन्तर्गत अनुसंधानकर्ता घटना के पक्षों की विशेषताओं की व्याख्या करता है । यह व्याख्या ऐतिहासिक, आनुभविक पक्षों पर आधारित होती है । इन दोनों ही पद्वतियों में अनुसंधानकर्ता के द्वारा चुनी गई समस्या मूल्यों पर आधारित है । ये विशेषताएं जिन प्रमुख अवधारणाओं को वेबर के पद्वतिशास्त्र में उत्पन्न करती है उन्हें बोध की पद्धति (वर्स्टहेन) व आदर्श प्रारूप कहा जाता है ।

वेबर के पद्वतिशास्त्र की विशेषताएं : -

समाजशास्त्रीय अध्ययनों एवं सिद्धान्त निर्माण में वेबर का पद्वतिशास्त्र उनकी एक महत्वपूर्ण देन है । वेबर ने प्राकृतिक विज्ञानों एवं समाजशास्त्र में प्राकृतिक घटना तथा सामाजिक किया के आधार पर भेद किया है । प्राकृतिक घटनाएं न तो अर्थपूर्ण होती हैं और न ही उनका कोई उद्देश्य होता है जबकि सामाजिक क्रियाएं अर्थपूर्ण एवं उद्देश्यात्मक होती हैं । प्राकृतिक विज्ञानों में सार्वभौमिक नियम पाये जाते हैं जो सभी स्थानों एवं कालों में समान होते हैं जबकि समाजशास्त्रीय नियमों में ये विशेषताएं नहीं पाई जाती । वेबर के पद्वतिशास्त्र की निम्नांकित विशेषताएं हैं : -

1. वेबर ने समाजशास्त्र में सामाजिक क्रियाओं के अर्थपूर्ण अवबोधन पर बल दिया है। अत: वेबर के समाजशास्त्र को ' निर्वचनात्मक ' या 'अवबोधन समाजशास्त्र, कहा जाता है ।
2. वेबर ने प्राकृतिक विज्ञानों की भांति ही सामाजिक घटनाओं को समझने के लिए कार्य - कारण सम्बन्धों के आधार पर व्याख्या करने पर जोर दिया ।
3. वेबर सामाजिक घटनाओं को समझने के लिए तुलनात्मक अध्ययन पद्धति को अपनाने की बात कहते हैं इस विधि के द्वारा हम दो या अधिक समाजों का अथवा एक ही समाज के विभिन्न कालों की घटनाओं की समानता और असमानता को ज्ञात कर सकते है ।

4. सामाजिक घटनाओं को समझने के लिए वेबर आदर्श प्रारूप के निर्माण पर बल देते हैं। आदर्श प्रारूप का निर्माण वास्तविक जीवन में से कुछ विशिष्ट और महत्वपूर्ण तथ्यों एवं विशेषताओं को चुनकर किया जाना चाहिए । आदर्श प्रारूप न तो वास्तविकता के समान और न ही औसत विशेषताएं है । इसका सम्बन्ध नैतिकता और मूल्यांकन से भी नहीं है । वरन् यह तो अध्ययन का एक यंत्र है जिसके आधार पर वास्तविकताओं को समझा जा सकता है । आदर्श प्रारूप के आधार पर ही वास्तविक घटनाओं की तुलना की जानी चाहिए ।
5. वेबर सामाजशास्त्र में 'सब कुछ' के अध्ययन को उचित नहीं मानते क्योंकि सब कुछ का अध्ययन' 'कुछ नहीं का अध्ययन है । अत: कुछ घटनाओं का चयन करके उनका ही अध्ययन करना चाहिए ।
6. वेबर सामाजिक घटनाओं के वस्तुनिष्ठ अध्ययन पर बल देते है और मूल्यांकनात्मक निर्णयों से दूर रहने की बात कहते हैं । मूल्यांकनात्मक अध्ययन वैज्ञानिक अध्ययन नहीं हो सकता । मूल्यांकनात्मक निर्णयों से दूर रहते हुए वैज्ञानिक विश्लेषण करने का एक सामान्य वैज्ञानिक तरीका यह है कि समाजशास्त्री केवल 'क्या है?' के अध्ययन तक ही अपने को सीमित रखे और क्या होना चाहिए' की ओर अग्रसर न हो । इसका तात्पर्य यह है कि एक घटना जिस रूप में वास्तव में है उसी रूप में उसका यथार्थ अध्ययन व विश्लेषण किया जाए । अच्छे -बुरे, उचित -अनुचित, 'ऐसा होता तो अच्छा होता' आदि का विश्लेषण करके हम मूल्यांकनात्मक निर्णयों तक पहुंच सकते हैं, न कि वैज्ञानिक सत्य या यथार्थता तक । अत: जहां तक सामाजिक अनुसंधान पद्धति का प्रश्न है अनुसंधानकर्ता को मूल्य तटस्थ होना चाहिए । दूसरे अर्थ में मूल्य तटस्थ पद्धति वेबर के पद्वतिशास्त्र की मुख्य विशेषता है ।

10.3.1 वर्स्टहेन (Versthen) या निर्वचनात्मक बोध -

वर्स्टहेन शब्द जर्मन भाषा का शब्द है जिसका हिन्दी अर्थ निर्वचनात्मक बोध या अर्थ निरूपण की विधि होता है । इस अवधारणा को बोधगम्यता भी कहा जाता है । समाजशास्त्र के पद्धतिशास्त्र के विकास में वेबर की वर्स्टहेन पद्धति एक विशिष्ट स्थान रखती है जो तार्किक ज्ञान व कार्य कारण की निरन्तरता को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त धारणा है वेबर के मतानुसार हम मानवीय क्रियाओं को कर्त्ता के विषय परक अर्थ को ज्ञात किये बिना मूल्यांकित नहीं कर सकते है । यह विषय परक अर्थ न केवल कर्ता के व्यवहार व उसके मूल्यों से जुड़ा है, अपितु अन्य कर्त्ताओं के व्यवहार / प्रतिक्रियाओं के साथ भी इसका घनिष्ट सम्बन्ध है क्रिया, अर्थ, प्रेरणाऐं एवं कर्त्ता के मूल्य की समग्रता सामाजिक अनुसंधानकर्ता को एक ऐसा आधार प्रदान करती है जिसका विवेचन अनुसंधानकर्ता के द्वारा मूल्य निरपेक्ष आधार पर किया जाता है । अत: सामाजिक क्रिया को समझने की वह पद्धति जिसमें क्रिया का विषयपरक अर्थ व अनुसंधानकर्ता के विवेचन का वस्तुपरक प्रयास सम्मिलित है वर्स्टहेन कहलाती है । वेबर ने वेस्टहेन (निर्वचनात्मक बोध) के दो भेद बतलाये हैं -

1. **वास्तविक बोध गम्यता** - वह विधि जो बाहय आचरण के ज्ञान पर आधारित होती है तथा जब नित्य प्रति के आधार पर केवल तथ्य को देखने से ही स्पष्ट समझ लिया जाता है ।
2. **व्याख्यात्मक बोध गम्यता** - वह विधि जिसमें प्रयोजनों या लक्ष्यों को नहीं समझा जा सकता । अत: उस प्रयोजन के तत्वों को समझना है जो विशेष प्रत्यक्ष पर्यवेक्षण में स्पष्ट नहीं होते अपितु एक समस्या बने रहते हैं ।

वेबर का मत है कि भिन्न - भिन्न समाजों में व्यक्ति का आचरण भिन्न होता है । जब हमें उस समाज में प्रचलित मूल्यों और परम्पराओं की जानकारी होगी और हम उन मूल्यों एवं परम्पराओं के आधार पर व्यक्ति के आचरण की व्याख्या करेंगे तभी हम व्यक्ति के आचरण को उचित रूप में समझ सकेंगे । उदाहरण स्वरूप एक मुसलमान जब मसजीद में जाता है तो जूता बाहर उतार कर टोपी लगाकर मसजीद में प्रवेश करता है । सिख गुरूद्वारे में जाने के पूर्व जूता उतार कर पैर धोकर तथा पगड़ी बांध कर गुरूद्वारे में प्रवेश करता है । एक इसाई चर्च में बिना जूता उतारे अन्दर प्रवेश करता है तथा ईसामसीह के सामने जूता पहने रहता है और अपनी टोपी या हैट उतारकर हाथ में ले लेता है । तीनों धर्मो में व्यक्ति के व्यवहार का तरीका अलग -अलग है परन्तु उद्देश्य एक ही है कि पवित्र स्थान का सम्मान करना । इस घटना को समाज में प्रचलित परम्पराओं को समझे बिना नहीं समझा जा सकता है । इसलिए वेबर ने पा३।लातशं से उत्पन्न होने वाले व्यक्तियों के आचरणों का अध्ययन करने तथा इनसे सामान्य प्रारूप निकालने के लिए इस पद्धति का प्रयोग किया । चूंकी इस प्रकार के बोध का सम्बन्ध अध्ययन पद्वति व विषय वस्तु दोनों से है अत: वेबर इसके आधार पर समाजशास्त्र को ऐसे विज्ञान के रूप में परिभाषित करते हैं जिसका मुख्य उद्देश्य सामाजिक व्यवहार या क्रिया का विवेचनात्मक बोध करना है ताकि सामाजिक क्रिया के कारण तथा प्रभाव एवं इसकी अवधि की व्याख्या की जा सके । यद्यपि वर्स्टहेन पद्धति का मुख्य ध्येय वैज्ञानिक मतों के आधार पर कार्यकारण सम्बन्धों का प्रस्तुतीकरण है । चूंकि यह प्रस्तुतीकरण अनुसंधानकर्ता के मूल्यों को सम्मिलित नहीं करता, अत: मूल्य निरपेक्ष समाजशास्त्र की स्थापना वेबर का मुख्य ध्येय बन जाती है । इस ध्येय की प्राप्ति हेतु वेबर आदर्श प्रारूप निर्मित करते हैं ।

10.3.2 आदर्श प्रारूप

वेबर के पद्धतिशास्त्र में आदर्श प्रारूप की अवधारणा का विशेष महत्व है । वेबर ने सामाजिक घटनाओं को समझने की दृष्टि से 1904 में आदर्श प्रारूप की अवधारणा का प्रयोग किया । आपने सामाजिक वास्तविकता को समझने के लिए तथा उसके सम्बन्ध में सामान्य नियमों को जानने के लिए इस अवधारणा का प्रयोग किया । वेबर आदर्श प्रारूप को अन्वेषणकर्ता के अध्ययन का यन्त्र मानते हैं जिसका प्रयोग वह घटनाओं की समानता और असमानताओं को ज्ञात करने के लिए -कर सकता है । तुलनात्मक अध्ययनों के लिए यह एक मौलिक विधि है ।

यद्यपि आदर्श प्रारूप के रूप में वेबर ने किसी नवीन अवधारणा को प्रस्तुत नहीं किया। टालकॉट पारसन्स के अनुसार, "वेबर के लिए मानवीय क्रिया के क्षेत्र में सिद्धान्त आदर्श -प्रारूपों

की प्रणाली में स्थित है । इसे विकसित करने में वेबर ने कोई नई अवधारणा प्रस्तुत करने का दावा नहीं किया, बल्कि अन्य विद्वानों की अपेक्षा इसे सूत्रबद्ध किया, जिसे कि वस्तुत: तार्किक सिद्धान्तों के अन्तर्गत समाज वैज्ञानिक कार्य -कारण सम्बन्धों को सिद्ध करते हुए करते थे ।"

वेबर से पूर्व डिल्थे और सीमेल ने आदर्श प्रारूप जैसी अवधारणों की विवेचना की थी परन्तु वेबर ने प्रथम बार एक नये ढंग से आदर्श -प्रारूप की अवधारणा को प्रस्तुत किया एवं इस बात पर बल दिया कि समाजशास्त्रियों को आदर्श प्रारूप जैसी अवधारणाओं का विकास करना चाहिए और इन्हीं आदर्श प्रारूपों के आधार पर सामाजिक घटनाओं की विवेचना करनी चाहिए । अत: यह कहा जा सकता है कि आदर्श प्रारूप की अवधारणा वेबर का अविष्कार नहीं है । एक पद्वतिशारत्र विधि से जुड़ी हुई आदर्श प्रारूप पद्वति का विचार उस विस्तृत विचार - विमर्श का परिणाम है जो वेबर के योगदान पूर्व ही प्रारम्भ हो चुका था । मेक्सवेबर के मतानुसार," तर्कसंगत रीति से सामाजिक घटनाओं के कार्यकारण सम्बन्धों को तब तक स्पष्ट नहीं किया जा सकता, जब तक कि उन घटनाओं को पहले समानताओं के आधार पर कुछ सैद्धान्तिक श्रेणियों में बांट न लिया जाये" और ऐसा करने पर हमें कुछ आदर्श टाइप घटनाएं मिल जायेंगी ।

मेक्सवेबर "आदर्श प्रारूप, प्राक्कल्पनात्मक मूर्त स्थितियां (व्यक्ति, सामाजिक दशा, परिवर्तन, क्रान्ति, वर्ग आदि) हैं । इनका निर्माण, सामाजिक यथार्थ के आधार पर किया गया है और इनका निश्चित उपयोग तुलनात्मक है ।"

रेमण्ड एरन, "आदर्श प्रारूप का निर्माण इसलिए भी किया गया है कि हम कार्य -कारण की व्याख्या सही तरह से कर सकें । आदर्श प्रारूप हमें ऐतिहासिक तत्वों को समझने में सहायक होता है ।लेकिन ये ऐतिहासिक या सामाजिक तत्व पूर्ण न होकर आशिक ही होते हैं ।"

डोन मार्टिनडेल, "आदर्श प्रारूप व्यक्तियों की काल्पनिक वास्तविकता (व्यक्तित्व सामाजिक स्थिति, परिवर्तन, क्रान्तियां संस्थाएं, वर्ग एवं अन्य) से अनुसंधानकर्ता द्वारा उचित अवयवों से मिलकर बनाया गया है, जिसका उद्देश्य स्पष्ट तुलना करना हो सकता है ।"

लुईस कोजर ने आदर्श प्रारूप की व्याख्या करते हुए कहा है कि यह वह विधि है जिसका प्रयोग तुलनात्मक अध्ययन के लिए किया जाता है । इसके निर्माण में एक या अधिक बिन्दुओं को सम्मिलित किया जाता है तथा इसके अन्तर्गत समष्टि में पाई जाने वाली घटनाओं का संश्लेषण किया जाता है । यह बहुत स्पष्ट है कि आदर्श प्रारूप नैतिक दृष्टि से आदर्श प्रारूप किसी एक व्यक्ति पर आधारित हो सकता है, वहीं इसका केन्द्र समूहीक भी हो सकता है ।

इस प्रकार आदर्श प्रारूप वास्तविक नहीं है, बल्कि वास्तविकता के कल्पनात्मक आधार से निर्मित किया जाता है । आदर्श प्रारूप का निर्माण समाजशास्त्री कुछ वास्तविक तथ्यों के आधार पर तर्क संगत रूप से करता है । इसका निर्माण अध्ययन के लिए उपकल्पना की रचना हेतु किया जाता है । ये अमूर्त भी नहीं होते । इसी प्रकार आदर्श प्रारूप बने बनाये उपलव्य नहीं होते, अपितु उन्हें अनुसंधानकर्ता को अपने अध्ययन विषय से सम्बन्धित उचित अवयवों को मिलकर निर्मित करना पड़ता है । आदर्श शब्द का अर्थ श्रेष्ठता से संदर्भ में नहीं है और न ही

मूल्यों से कोई सम्बंध है । आदर्श प्रारूप अच्छे -बुरे या नैतिक अनैतिक नहीं होते । इनका उद्देश्य तुलना करना होता है ।

आदर्श प्रारूप का अर्थ है कि वास्तविक सामाजिक, जीवन में जो तथ्य पाये जाते हैं, उनमें से विचारपूर्वक कुछ तथ्यों का चयन किया जाये और उन्हें अध्ययन के लिए एक पैमाना या मान माना जाये । अर्थात् आदर्श प्रारूप का तात्पर्य कुछ वास्तविक तथ्यों के तर्क -संगत आधार पर यथार्थ अवधारणाओं का प्रतिपादन करना है । विश्लेषणात्मक प्रयोजन के लिए कोई भी वैज्ञानिक किसी भी तथ्य या घटना के आदर्श प्रारूप का निर्माण कर सकता है । वास्तव में सामाजिक घटनाओं का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत और जटिल है । इस कारण अध्ययन कार्य तथा घटनाओं के विश्लेषण में सुविधा और यथार्थता के लिए यह आवश्यक है कि समानताओं के आधार पर विचारपूर्वक तथा तर्क संगत ढंग से कुछ वास्तविक घटनाओं या व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व कर सकें । इस प्रकार के चुनाव या सम्मेलन द्वारा जिस 'प्रारूप' का निर्माण होता है, उसे आदर्श प्रारूप कहा गया है । यह 'आदर्श' इस अर्थ में नहीं है कि इसके चुनाव या निर्माण में किसी आदर्शात्मक विचार, अनुमान या पद्धति का अनुसरण किया गया है; यह आदर्श इस अर्थ में है कि यह एक विशिष्ट श्रेणी या प्रारूप है जो कि उस प्रकार की सम्पूर्ण घटना या समस्त व्यवहार या क्रिया की वास्तविकता को व्यक्त करता है । अध्ययन पद्धति की दृष्टि से इस प्रकार के प्रारूप से एक वेज्ञानिक को यह सुविधाएँ प्राप्त हो जाती हैं कि उसके अध्ययन में यथार्थता, सुतथ्यता व क्रमबद्धता आ जाती है । यद्यपि आदर्श प्रारूप का निर्माण वास्तविकता के आधार पर किया जाता है, फिर भी यह वास्तविकता के बराबर नही होता और न ही वास्तविकता का औसत । वास्तविकता से किन -किन विशेषताओं का चयन अध्ययनकर्ता अपने आदर्श प्रारूप के लिए करेगा, यह उसी पर निर्भर करता है, प्रत्येक अध्ययनकर्ता अपना भिन्न - भिन्न आदर्श प्रारूप बना सकता है । यह तो अध्ययन का एक साधन है । ये आदर्श प्रारूप परिवर्तनशील भी होते है । सामाजिक घटनाओं में परिवर्तन के साथ -साथ आदर्श प्रारूप भी बदलते रहते हैं । मेक्स वेबर इस बात पर बल देते हैं कि सामाजिक वेज्ञानिकों को केवल उन्हीं अवधारणाओं को अध्ययन कार्य में प्रयोग करना चाहिए, जो कि तर्क संगत ढंग से नियंत्रित, संदेह रहित तथा प्रयोगसिद्ध हों । वैज्ञानिक पद्धति की दृष्टि से यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसके बिना सामाजिक क्रियाओं का वैज्ञानिक विश्लेषण तथा निरूपण सम्भव नहीं हैं ।

आदर्श प्रारूप की विशेषताएँ : वेबर ने आदर्श प्रारूप की तीन विशेषताओं का उल्लेख किया है : -

1. आदर्श प्रारूप का निर्माण कर्ता द्वारा क्रिया के एक विशिष्ट उद्देश्य या अर्थ के लिए किया जाता है, जो कि वैज्ञानिक या वस्तुनिष्ठ नहीं होता उसमें व्यक्तिगत अर्थ सम्मिलित होता है ।
2. आदर्श प्रारूप 'सब कुछ' का वर्णन या विश्लेषण नहीं करता वरन् किसी सामाजिक व्यवहार या घटना के महत्त्वपूर्ण पक्षों की व्याख्या करता है ।

3. इसका प्रयोग ऐतिहासिक समस्याओं के अध्ययन एवं विश्लेषण के लिए किया जाना चाहिए । कोई भी आदर्श प्रारूप अन्तिम नहीं है, घटनाओं के परिवर्तन के साथ -साथ आदर्श प्रारूप भी बदलते रहते हैं ।

आदर्श प्रारूप अवधारणा के विकास का उद्देश्य :

वेबर ने आदर्श प्रारूप अवधारणा के विकास का उद्देश्य बताते हुए कहा है कि इसका विकास मुख्यत: इसलिए किया गया कि कुछ नये एवं वास्तविक विषय और घटनाओं को समझा जा सके । गर्थ एवं मिल्स के अनुसार ' 'इस अवधारणा का प्रयोग करने में वेबर का उद्देश्य एक नई अवधारणा संबंधी साधन का प्रारम्भ करना नहीं था, बल्कि उसका उद्देश्य केवल उन तथ्यों की जानकारी करना था जो 'इतिहासकारों' तथा 'वैज्ञानिक ' आर्थिक मनुष्य', 'सामन्तशाही' या रक्त संबंध' आदि शब्दों का प्रयोग करके हमारे सामने रखे जाते हैं । उसने यह अनुभव किया की सामाजिक वैज्ञानिकों को तार्किक रूप से नियंत्रित और स्पष्ट अवधारणाओं के प्रयोग की स्वतंत्रता थी, जो ऐतिहासिक वास्तविकता से पृथक कर दिये जाते हैं अथवा कुछ कम नियमनिष्ठ धारणाओं के प्रयोग द्वारा अनुभवजन्य संसार के अधिक निकट कर दिये जाते हैं ।"

वेबर के आदर्श प्रारूप का दूसरा उद्देश्य दो समूहों या संस्कृतियों में तुलना करना है । यह पद्धति स्वीकार करती है कि दो समूह तुलना के योग्य हैं । यह तुलना उन सामान्य विशेषताओं के आधार पर की जाती है जो इन समूहों या संस्कृतियों में समान रूप से पाये जाते हैं । जब हम सामान्य विशेषताओं की बात करते हैं तो इसका अभिप्राय यह है कि हम सामान्य अवधारणाओं का प्रयोग कर रहे हैं । इस प्रकार आदर्श प्रारूप के विभिन्न संग्रहों के प्रयोग से मेक्स वेबर ने एक विशिष्ट अवधारणा को जन्म दिया है, और एक ऐतिहासिक घटना तैयार की है । वेबर ने सामान्य अवधारणा का उपयोग करने के साथ -साथ एक क्रम स्थापित करने हेतु सामान्य दशाओं की तुलना की है, जिससे की निरन्तर घटित घटनाक्रम को आसानी से समझा जा सके ।

आदर्श प्रारूप के प्रकार -

वेबर ने अपने अध्ययन में अनेक आदर्श प्रारूप निर्मित किये हैं व उनके मध्य संबंध को जानने का प्रयास किया है । सामाजिक क्रिया, प्रशासन तंत्र, सत्ता, प्रोटेस्टेन्ट आचार संहिता, पूंजीवाद की आत्मा इत्यादि को वेबर ने आदर्श प्रारूप के रूप में निर्मित किया है । वेबर के आदर्श प्रारूपों के निर्माण को लुइस कोज़र ने तीन प्रकारों में रखा है -

1. **ऐतिहासिक विशिष्टताओं पर बने आदर्श प्रारूप -** इसमें वेबर उन आदर्श प्रारूपों को रखते हैं जिन्हें ऐतिहासिक विशिष्टताओं और सांस्कृतिक क्षेत्रों की पहचान से जोड़ा जाता है । यूरोप के इतिहास में जो घटनाएँ घटी हैं यथा फ्रान्स की राज्य क्रान्ति हुई, सामन्ती युग आया, प्रथम विश्व युद्ध हुआ और इसी प्रकार यूरोप में कई परिवर्तन हुये । वेबर ने यूरोप के सांस्कृतिक क्षेत्र में घटने वाली कुछ विशिष्टताओं के बारे में आदर्श प्रारूप बनाये हैं । इतिहास से जुड़े इन आदर्श प्रारूपों में प्रोटेस्टेन्ट आधार या आधुनिक पूंजीवाद है ।

2. **सामाजिक यथार्थ से जुड़े आदर्श प्रारूप** - वेबर के समय में यूरोप और अमेरिका में सामाजिक यथार्थ के कई रूप उपलब्ध थे । औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप औद्योगिक संगठनों को सुचारू रूप से चलाने हेतु किसी न किसी प्रकार के अधिकारी तंत्र की आवश्यकता थी । इसी प्रकार यूरोप में पूंजीवाद से जुड़ी हुई सामन्ती व्यवस्था थी । वेबर के अनुसार इनका स्त्रोत भी ऐतिहासिक है परन्तु ये वे तत्त्व हैं जो अधिकांश रूप से देखे जा सकते है तथा इन्हें वास्तविकता से देखा जा सकता है, जैसे अधिकारी तंत्र (नौकरशाही), सामन्तवाद । वेबर के अनुसार ऐसे आदर्श प्रारूपों में सम्पूर्ण व्यवस्था की वास्तविकता का समावेश न होकर कुछ विशिष्ट प्रकार की ऐतिहासिक वास्तविकता का समावेश होता है ।
3. **विवेक पूर्ण व्यवहार से जुडे आदर्श प्रारूप** - एक विशिष्ट प्रकार के व्यवहार की तार्किकता के आधार पर जब कोई आदर्श -प्रारूप बनाया जाता है तो उसे इस श्रेणी में रखा जाता है वेबर के कुछ आदर्श प्रारूपों का संबंध विवेक या युक्तायुक्त अवधारणाओं से हैं । वेबर के अनुसार आर्थिक गतिविधियों के क्षेत्र से जुड़े हुए सभी आदर्श प्रारूप इस श्रेणी में रखे जाते हैं ।

आदर्श प्रारूप की संरचना

समाज विज्ञान में अध्ययनकर्ता को अध्ययन करने हेतु आदर्श प्रारूप स्वयं बनाने पड़ते हैं । सामान्यतया अनुसंधान समाप्त होने के बाद आदर्श प्रारूप समाप्त हो जाते हैं । मार्टिनडेल ने किसी भी आदर्श प्रारूप के निर्माण के दो आधार बताये हैं

1. **वस्तुनिष्ठा की सम्भावना** - किसी भी प्रारूप को आदर्श प्रारूप की श्रेणी में रखने से पूर्व यह अवश्य देखना चाहिए कि इसके सम्बन्ध में अनुसंधानकर्ता को पूर्ण वैज्ञानिक जानकारी है अर्थात् आदर्श प्रारूप का अध्ययन वस्तुनिष्ठ पद्धति से किये जाने की सम्भावना है ।
2. **पर्याप्त कार्य - कारण संबंध** - वस्तुनिष्ठ अध्ययन की सम्भावना को ध्यान में रखकर अनुसंधानकर्ता को यह देखना चाहिए कि अध्ययन की घटना में जो भी विभिन्न प्रारूप सम्मिलित हैं वे तार्किक रूप से बिखरे हुए न हों । उनमें कार्क्यकारण संबंध होना चाहिए क्योंकि कार्य -कारण संबंध के आधार पर ही घटना के परिणामों की खोज की जाती है ।

जब एक बार आदर्श प्रारूप का निर्माण हो जाता है, तब घटनाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है । इसमें आदर्श प्रारूप को पैमाना मानकर अन्य आनुभविक घटनाओं का तुलनात्मक अध्ययन सम्भव है । इसके माध्यम से जब सामाजिक घटना के संबंध में जानकारी विकसित होती है उसी क्षण उसकी उपयोगिता समाप्त हो जाती है । समाज की यथार्थता को समझने के लिए वेबर ने इस विधि को विकसित किया है ।

वेबर के आदर्श प्रारूप की अवधारण यद्यपि कोई नई बात नहीं है वरन् यह वास्तविकताओं को समझने का एक प्रयास है । उन्होनें इसे अन्य विज्ञानों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया है जिससे कि मानव व्यवहार की तार्किक तथा कार्य -

कारण के सन्दर्भ में व्याख्या की जा सके । आदर्श प्रारूप ऐतिहासिक घटना को उसके सांस्कृतिक महत्व को ध्यान में रखते हुए समझने हेतु एक उपयोगी साधन है ।

डिर्क केसलर के अनुसार आदर्श प्रारूप को निम्न बिन्दुओं के अन्तर्गत समझा जा सकता है : -

1. वेबर का आदर्श प्रारूप एक उत्पत्ति मूलक अवधारणा है अर्थात् यह उन विशेषताओं के एकत्रीकरण का सार रूप है जिनको कुछ सांस्कृतिक अर्थो की दृष्टि से अनिवार्य माना जाता है ।
2. आदर्श प्रारूप अपने आप में कोई उपकल्पना नहीं है, लेकिन यह उपकल्पनाओं के निर्माण हेतु दिशा निर्देश प्रदान कर सकता है ।
3. आदर्श प्रारूप आनुभाविक अध्ययन का मार्गदर्शन करने हेतु एक स्वत: शोध साधन के रूप में कार्य करता है । आदर्श प्रारूप की सफलता का आकलन इस बात से किया जाता है कि वह किसी प्रघटना को सही रूप में समझने में कहां तक मदद कर सकता है ।
4. आदर्श प्रारूप का उपयोग आनुभाविक ऐतिहासिक वास्तविकता को व्यवस्थित करने में किया जाता है । आदर्श प्रारूप एक रचना है लेकिन इस रचना का आधार वास्तविकता है और वास्तविकता को ध्यान रखकर ही इसकी निरन्तर जांच की जाती है जिसमें अनुसंधानकर्ता की कल्पना -शक्ति तथा उसके विधि -विधान संबंधी ज्ञान का प्रयोग किया जाता है । अत: आदर्श प्रारूपों की निरन्तर पुन: रचना की जाती है ।
5. आदर्श प्रारूपों की सहायता से ऐतिहासिक प्रघटनाओं की व्याख्या एवं निर्वचन की दृष्टि से परिणाम निकलते हैं वे पुन: निर्वचन की प्रक्रिया को सहारा देते हैं । इस प्रकार से प्रघटनाओं को सही परिप्रेक्ष्य में समझने में विशेष योग देते हैं ।

वेबर के आदर्श प्रारूप की अवधारणा की निम्नलिखित आलोचनाएँ की जाती है -

1. यदि प्रत्येक वैज्ञानिक आदर्श प्रारूप में अपनी -अपनी दृष्टि से महत्वपूर्ण तत्वों को सम्मिलित करेगा तो समाजशास्त्र में सार्बभौमिक नियमों का निर्माण नहीं हो पायेगा ।
2. इसका प्रयोग केवल तुलनात्मक अध्ययनों के लिए ही हो सकता है क्योंकि आदर्श प्रारूप के आधार पर हम किसी वास्तविक घटना और आदर्श प्रारूप के बीच पायी जाने वाली समानता और विभिन्नता ही ज्ञात कर सकते है ।
3. यदि सभी घटनाओं का अध्ययन आदर्श प्रारूप के आधार पर किया जायेगा तो फिर अनुभवों पर आधारित अध्ययनों का क्या महत्व रह जायेगा ।
4. वेबर की चिन्तन पर चूंकि पश्चिम का प्रभाव है । अत: उनका आदर्श प्रारूप विकासशील देशों की अवधारणाओं / प्रघटनाओं पर लागू नहीं होता जिन पर वेबर ने उन्हें प्रयुक्त करने का प्रयास किया ।
5. कुछ समाज वैज्ञानिक यह भी मानते हैं कि वेबर का आदर्श प्रारूप आदर्श नकारात्मक प्रारूप है क्योंकि यह उन देशों के यथार्थ की अवहेलना करता है जिनका मूल्याकंन उस समाज की सामाजिक स्थितियों द्वारा ही संभव है ।

उपरोक्त विसंगतियों के बाद भी यह कहा जा सकता है कि मेक्स वेबर का पद्धतिशास्त्र समाजशास्त्र को वैज्ञानिक आधार प्रदान करने में सक्षम है जो निःसन्देह समाजशास्त्रीय घटनाओं को वैज्ञानिक व यथार्थ के आधार पर समझने का अत्यन्त महत्वपूर्ण उपाय है ।

10.4 सारांश -

समाजशास्त्रीय अध्ययनों एवं सिद्धान्त निर्माण में वेबर का पद्धतिशास्त्र उनकी महत्त्वपूर्ण देन है । वेबर ने प्राकृतिक विज्ञानों एवं समाजशास्त्र में प्राकृतिक घटना एवं सामाजिक क्रिया के आधार पर भेद किया है । वेबर गम्भीरतापूर्वक सामाजिक घटनाओं के सम्बन्ध में सोचने को प्रेरित करते हैं । उन्होनें अपने अध्ययन में दार्शनिक या काल्पनिक विचारों को स्थान नहीं दिया है उनका निरन्तर यही प्रयत्न रहा कि सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में, वैज्ञानिक मान बनाए रखें ।

10.5 शब्दावली

संज्ञानात्मक उद्देश्य – एक सिद्धान्त जो इस बात पर बल देता है कि व्यक्ति किस प्रकार सोचता -समझता तथा चयन करता है ।

सामान्यीकरण – सामान्य प्रवृत्ति को प्रकट करने वाला कथन ।

वैषयिकता – एक दृष्टिकोण जिसमें एक व्यक्ति घटना से संबंधित तथ्यों को पूर्वाग्रहों की अपेक्षा साक्ष्य एवं तर्क के आधार पर निष्पक्ष, तटस्थ तथा किसी भी प्रकार की अभिनति तथा पूर्वधारणाओं से मुक्त होकर देखता परखता है ।

व्यक्तिपरक क्रिया – व्यक्ति या प्रयोज्य का आत्म -चेतन दृष्टिकोण ।

तथ्य – किसी घटना से संबंधित व्यवस्थित जानकारी, जिसके आधार पर कोई निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं ।

सांस्कृतिक क्षेत्र – वह क्षेत्र जिसमें समान संस्कृति पाई जाती है ।

10.6 बोध प्रश्न :

1. मेक्स वेबर के पद्धतिशास्त्र की विवेचना कीजिए ।
2. मेक्स वेबर की वर्स्टहेन पद्धति को समझाइये ।
3. मेक्स वेबर के आदर्श प्रारूप की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए ।

10.7 संदर्भ ग्रंथ

ऐरोन, रेमण्ड., 1957, **कॉमन सोशियोलोजी**, लंदन ।

कोजर, लेविस, ए, 1957, **सोशियोलॉजिकल थियरी ए बुक ऑफ रीडिंग्स**, लंदन ।

बोगार्डस, ई, एस., 1960, **द डेवलपमेण्ट ऑफ सोशल थॉट,** लॉगमास ग्रीन एंड क, न्यूयॉर्क ।

बोटोमोर टीबी., 1978, **सोशियोलोजी,** बम्बई ।

वेबर, मेक्स, 1947, **थियरी ऑफ सोशल एंड इॅकानॉमिक ऑर्गनाइजेशन,** दी फ्री प्रेस ग्लिनोइस

वेबर, मेक्स, 1930, **द प्रोटेस्टेन्ट इथिक एण्ड द स्पिरिट ऑफ केपिटेलिज़्म**, अनुवाद पारसं जॉर्ज एलन एण्ड अनविन लंदन ।

वेबर, मेक्स., 1946, **फ्रॉम मेक्स वेबर : एसेज़ इन सोशियोलोजी** अनुवाद एच.एच. गर्थ एंड सी. डब्ल्यू. मिल्स, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी, न्यूयॉर्क ।

इकाई - 11

मैक्स वेबर : आदर्श प्रारूप

इकाई की रूपरेखा :

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 आदर्श प्रारूप का अर्थ

11.3 आदर्श प्रारूप की परिभाषा

11.4 आदर्श प्रारूप की विशेषताएँ

11.5 आदर्श प्रारूप क्या नहीं है

11.6 आदर्श प्रारूप के प्रकार्य और उपयोगिता

11.7 आदर्श प्रारूप की रचना

11.8 आदर्श प्रारूप के उदाहरण

11.9 आदर्श प्रारूप की विधि का मूल्यांकन

11.10 सारांश

11.11 शब्दावली

11.12 बोध प्रश्न

11.13 संदर्भ ग्रंथ

11.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम यह जानने का प्रयास करेगें कि समाजशास्त्र में आदर्श प्रारूप का क्या अर्थ है तथा किस तरह से वेबर के अनुसार आदर्श प्रारूप एक विधि के रूप में काम लिया जाता है । आदर्श प्रारूप की विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए यह भी प्रयास किया गया है कि आदर्श प्रारूप के क्या प्रकार्य हैं तथा समाजशास्त्रीय अध्ययनों में इसकी क्या उपयोगिता है । विभिन्न तरह के उदाहरणों के द्वारा आदर्श प्रारूप की धारणा को स्पष्ट किया गया है । अन्त में आदर्श प्रारूप की विधि का मूल्यांकन किया गया है ।

11.1 प्रस्तावना

मैक्स वेबर समाजशास्त्र को एक विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहते थे । उनके पूर्व तक इसे भौतिक विज्ञानों - रसायनशास्त्र, भौतिक शास्त्र, जीवविज्ञान आदि की भांति एक विज्ञान के रूप में दर्जा हासिल नहीं था । यद्यपि, कोम्त, स्पेन्सर और दुर्खाइम ने भी समाजशास्त्र को भौतिक विज्ञान से बहुत अलग समझा जाता था । इसका प्रमुख कारण समाजशास्त्र या अन्य सामाजिक विज्ञानों में सामान्य नियम व्यवहारों का अध्ययन समझा जाता था कि समाजशास्त्र मानवीय व्यवहारों का अध्ययन करता है और मानव प्राणियों में स्वतंत्र इच्छा, विचार और चिंतन के तत्व होते हैं, अत: मानवीय व्यवहार के बारे में सामान्य नियमों का प्रतिपादन करना असंभव है । मेक्स वेबर इस विचार से सहमत नहीं थे । वे सामाजिक

विज्ञान की नई शाखा समाजशास्त्र को एक विज्ञान के रूप में विकसित करना चाहते थे । इसी विचार को ध्यान में रखते हुए वेबर ने "आदर्श प्रारूप" (आइडियल टाइप) की एक पद्वतिशास्त्र संकल्पना (अवधारणा) को प्रस्तुत किया ।

वेबर के समाजशास्त्र की धुरी 'सामाजिक क्रिया का वैज्ञानिक अध्ययन है, और सामाजिक क्रिया के अध्ययन के लिये वेबर ने शोध केन्दों उपकरणों - वष्टहन" और "आइडियल टाइप" के प्रयोग का सुझाव दिया । अत: यदि हम वेबर के समाजशास्त्र को भली भांती समझना चाहते हैं, तो हमें वेबर की इन दो पद्धतिशास्त्रीय अवधारणाओं को समझना होगा । वेबर ने नौकरशाही, पूंजीवाद, सत्ता शक्ति, प्रोटेस्टेन्ट, आचार -संहिता संबंधी विचारों को स्पष्ट करने के लिये 'आइडियल टाइप' की अवधारणा का प्रयोग किया है ।

वेबर की 'आदर्श प्रारूप' की अवधारणा समाजशास्त्र को एक महत्वपूर्ण देन हे । उसकी पद्धतिशास्त्र रूपरेखा में इसका महत्वपूर्ण स्थान है । पद्धतिशास्त्र के क्षेत्र में इसके प्ररूपिका (प्रकारात्मक) विश्लेषण (Typological Analysis) के नाम से जाना जाता हे । आदर्श प्ररूप की विधि की प्रक्रिया का आधार है । इसी के आधार पर किसी एक घटना या तथ्य को दूसरी धटना और तथ्य से अलग उसके गुण विशेषताओं को उजागर किया जाता है और सामान्य नियमों की रचना (सामान्यीकरण) की जाती है । आदर्श प्रारूपों के माध्यम से एक समाज वैज्ञानिक वास्तविक प्रारूपों के साथ उनके सामान्य आदर्शो की तुलना करता है । अत: यह तुलनात्मक अध्ययन का एक महत्वपूर्ण उपकरण है । सामाजिक विज्ञानों में तुलनाओं का बड़ा महत्व है । भौतिक विज्ञानों में जो कार्य प्रयोगात्मक अध्ययन के द्वारा किया जाता है, सामाजिक विज्ञानों में उसी कार्य के लिये तुलनात्मक विधि का प्रयोग किया जाता है । भौतिक विज्ञान की भांति सामाजिक विज्ञानों में नियंत्रित प्रयोग संभव नहीं है ।

सिम्पसन ने आदर्श प्रारूप की एक पद्धतिशास्त्र व्याख्या प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि 'जहां तक व्यक्तिगत सामाजिक क्रिया का प्रश्न है, एक समाजशास्त्री व्यक्ति विशेष की व्यक्तिगत प्रेरणाओं (उद्देश्यों) को समझने का प्रयास करता है और समूह के अध्ययन के मामले में वह उन प्रेरणाओं को ढूंढने का प्रयत्न करता है जो समूह के लिये विशिष्ट है । इन दोनों ही मामलों में एक समाजशास्त्री उन आदर्श प्रारूपों तक पहुँचने का प्रयत्न करता है जो व्यक्तियों या समूहों की क्रिया के लिये उत्तरदायी हैं । इन्हीं के माध्यम से वह यह जानने की कोशिश करता है कि यदि कोई क्रिया पूर्णत: तार्किक है और भूलों और संवेगात्मक कारकों से प्रभावित नहीं है और पूर्णत: असंदिग्ध रूप में किसी एक लक्ष्य द्वारा निर्देशित हैं, तब व्यक्तियों या समूहों द्वारा किस प्रकार व्यवहार किये जाने की संभावनाएं है । व्यक्तियों और समूहों के वास्तविक व्यवहार का अध्ययन तब ऐसे आदर्श प्रारूपीय व्यवहार के एक विचलन के रूप में किया जायेगा ।

11.2 आदर्श प्रारूप का अर्थ

"आदर्श प्रारूप" क्या है? इसे समझने के लिये हम इस पद (टर्म) की सर्वप्रथम शाब्दिक व्याख्या करेंगे । इस 'आदर्श' का शब्दकोषीय अर्थ है - उत्कृष्ट या अभीष्ट उदाहरणीय,

अनुकरणीय और परिपूर्ण । जब कभी हम किसी उक्त व्यक्ति को सर्वगुण सम्पन्न मानते है अर्थात् किसी संदर्भ विशेष में वह व्यक्ति हमारी दृष्टि से हमारे मापदण्ड के अनुसार सभी गुणों से परिपूर्ण (परफेक्ट) है जिसका अनुकरण किया जा सकता है अंग्रेजी की कोलिंस डिक्सनरी के अनुसार । ' किसी संदर्भ में हमारा आदर्श वह व्यक्ति या वस्तु होगी जो हमें उस संदर्भ में सर्वोत्तम उदाहरण प्रतीत हो ।' 'टाइप' का हिन्दी पर्याय हैं - प्रकार, कोटी, नमूना, किस्म । हम यहां टाइप के हिन्दी अनुवाद के रूप में प्रारूप शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ को इंगित करने के लिये कर रहे हैं । जब किसी वर्ग समूह या प्रकार कुछ विशिष्ट विशेषताएं लिये हो, जिसके आधार पर उसे अन्य वर्गो, समूहों या प्रकारों से अलग -थलग किया जा सके ।

वेबर ने 'आइडियल' (आदर्श) शब्द का प्रयोग उपरोक्त शब्दकोषीय अर्थ में नहीं किया है। उन्होंने इस शब्द का प्रयोग एक 'मॉडल के अर्थ में किया है । ' मॉडल किसी घटना की वास्तविकता को भौतिक शब्दिक अथवा गणीतीय रूप में प्रतीकात्मक अभिव्यक्त अभिव्यक्ति देने की विधि है । इसके द्वारा किसी जटिल घटना को समझने, बोधगम्य बनाने, व्याख्या करन में अमूर्तीकरण करने में सहायता मिलती है । मॉडल अर्थ में आदर्श प्रारूप दिमागी तौर पर बनाई गई एक ऐसी रचना है जिसके आधार पर यर्थाथ तुलना की जाती है, वास्तविक स्थिति या घटना को परखा जाता है । स्मरण रहे, यह दिमागी रूप से की गई रचना प्रेक्षणीय या ऐतिहासिक उदाहरणों पर आधारित होती है । यह पूर्णत: कल्पित नहीं होती, इसमें वास्तविकता का पुट होता है ।

11.3 आदर्श प्रारूप की परिभाषा

किसी घटना वस्तु अथवा वर्ग -विशेष की समस्त आवश्यक विशेषताओं का सम्पूर्ण अथवा लगभग सम्पूर्ण रूप से चित्रण करने वाली विधि को आदर्श प्रारूप की संज्ञा दी गई है । ये सभी विशेषताएं किसी एक उदाहरण, प्रकरण, घटक या इकाई में विद्यमान ही हों , आवश्यक नहीं है, किन्तु इन सभी विशेषताओं का सभी घटकों / इकाइयों में समुचित मात्रा में उपस्थित होना आवश्यक है, साथ ही इनमें से कोई विशेषता ऐसी नहीं हो जो दूसरी इंगित विशेषताओं से असंगति रखती हो या मेल नहीं खाती हो । एच.ई. बार्न्स के अनुसार, "वास्तविकता के विशिष्ट तत्वों के सुविचारित चयन और संयोजन के आधार पर निर्मित आदर्शो मानकों को आदर्श प्रारूप कहते हैं ।"

वेबर ने आइडियल टाइप की कहीं कोई संक्षिप्त परिभाषा नहीं दी है, केवल इसके अर्थ, उद्देश्य और रचना की प्रक्रिया को स्पष्ट किया है । उनके अनुसार, यह एक ऐसी संकल्पना है जिसमें घटना को एक तरफा बढ़ा -चढ़ा कर प्रदर्शित किया जाता है - - - - - इसकी रचना अनेक छितरे हुए और विशिष्ट मूर्त व्यक्तिगत घटनाओं, जो न्यूनाधिक रूप में उपस्थित और कभी -कभी अनुपस्थित होते हैं, के संयोजन से होती है जिन्हें (विश्लेषण द्वारा) एक एकीकृत विशेषणात्मक रचना में व्यवस्थित किया जाता है । अपनी वैचारिक शुद्धता में यह मानसिक रचना कहीं देखने को नहीं मिलती है । ' (वेबर, 1949, पृष्ठ 90) विश्लेषक इस प्रकार की

आदर्श प्रारूपीय रचनाओं को विभिन्न प्रकार की वास्तविक ऐतिहासिक स्थितियों को उजागर करने और व्याख्या करने में प्रयोग करते हैं ।

संक्षेप में, आदर्श प्रारूप एक मॉडल या एक मानसिक रचना है जिसकी रचना अतिरंजित विशेषताओं के समूह से होती है और यथार्थ विश्व में दृष्टिगोचर कुछ प्रकार के व्यवहारों या संस्थाओं के सार को परिभाषित करती है ।" "आदर्श" शब्द यहां वांछनीय की अपेक्षा 'शुद्ध' (प्यारे) या 'अमृत' (एबस्ट्रेक्ट) के अर्थ में प्रयोग किया गया है । इसका नैतिक आदर्श यहां कोई संबंध नहीं है । यहां आदर्श में जिस प्रकार की पूर्णता की अपेक्षा की गई है, वह तार्किक मात्र है और जो अपने शुद्ध रूप में किसी भी सामाजिक सांस्कृतिक स्थिति में देखने को मिलती । इस अर्थ में किसी वैश्यालय और प्रार्थनागृह दोनों को आदर्श प्रारूप बनाया जा सकता है ।

11.4 आदर्श प्रारूप की विशेषताएं

आदर्श प्रारूप की अवधारणा थोड़ी पैचीदा है । इसके बारे में कई भ्रांतियों फैली हुई है । इन भ्रांतियों से निजात पाने के लिये यह जानना आवश्यक हैं कि आदर्श प्रारूप क्या हैं और क्या नहीं हैं ।

आदर्श प्रारूप क्या है?

आदर्श प्रारूप एक मॉडल की तरह मानसिक आधार पर बनाई गई एक रचना, एक मापदंड है जिसके आधार पर वास्तविक स्थिति अथवा घटना की तुलना या मूल्यांकन किया जा सकता है उसका क्रमबद्ध तरीके से चित्रण और सुव्यवस्थित किया जा सकता है । वह एक ऐसी मानसिक रचना है जिसका प्रयोग किसी सामाजिक घटना, सामाजिक व्यवहार या सामाजिक संस्था को समझाने और उसे विश्लेषण करने में किया जा सकता है । ये वर्णन -विश्लेषण उसे विश्लेषित करने में किया जा सकता है । ये वर्णन विश्लेषण करने की युक्तियां हैं जिनका प्रयोग तुलना करने, माप करने के उपकरण और किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों में प्राक्कल्पनाओं को निर्मित करने और परीक्षण करने की एक कार्यविधि के रूप में किया जाता है । स्मरण रहे, आदर्श प्रारूप व्यक्तिगत होते है । ये शोधकर्ता के घटना के बारे में लगाये गये अर्थ के आधार पर निर्मित होते हैं ।

11.5 आदर्श प्रारूप क्या नहीं है

1. आदर्श प्रारूप वास्तविक नहीं होते, अपितु वास्तविक दृष्टिगोचर घटनाओं के आधार पर निर्मित मानसिक या तार्किक रचना होते हैं । निर्मित मानसिक या तार्किक रचना होते हैं । निर्मित आदर्श प्ररूप में जो लक्षण होते हैं, यह जरूरी नहीं है कि ये सभी लक्षण वास्तविक घटना में भी यथावत मिलें । वेबर ने स्पष्ट लिखा है कि जीवन में शायद ही कोई घटना ऐसी मिले जिसमें आदर्श प्रारूप के सभी लक्षण मौजूद हो और वह घटना निर्मित आदर्श से पूर्णत: मेलखाती हो । वेबर ने नौकरशाही और आधुनिक (औद्योगिक) पूंजीवाद के आदर्श प्रारूपों की रचना की है। इन प्रारूपों में उन्होंने जिन लक्षणों की चर्चा की हे, वे किसी भी स्थान की है । इन प्रारूपों में उन्होंने जिन लक्षणों की चर्चा की है, वे किसी भी स्थान की नौकरशाही या

पूंजीवादी में देखने को नहीं मिलते । अपनी वैचारिक शुद्धता में, ये मानसिक रचनाएं यर्थाथ में कहीं नहीं पाई जाती है ।

2. आदर्श प्रारूप सामान्य अथवा रूढ़िगत औसत प्रारूप नहीं है । अधिकांशतः: आदर्श प्रारूपों को साँख्यिकीय औसत समझने की भूल की जाती है, अर्थात किन्हीं घटनाओं में इनकी सामान्य या औसत लक्षणों की उपस्थिति को ही आदर्श प्रारूप मान लिया जाता है । सभी घटनाओं में व्यक्ति समूह या वस्तु में इनकी सभी सामान्य विशेषताएं उपस्थित हों, जरूरी नहीं है । ये घटना के कुछ महत्वपूर्ण लक्षणों या गुणों पर आधारित होते हैं जिनके आधार पर आदर्श प्रारूप की रचना की गई होती हैं । संक्षेप में, ये किसी घटना के सब कुछ का वर्णन नहीं करते। ये पूर्ण यर्थाथ के आंशिक रूप को ही व्यक्त करते हैं ।

3. आदर्श प्रारूप न तो मूल्य हैं और न ही नैतिक आदर्श होते हैं । जब किसी धर्म को एक सांस्कृतिक संस्था का मानकर उसका अध्ययन किया जाता है । किसी धर्म के अनुसार क्या अच्छा है और क्या बुरा, होना चाहिए और क्या नहीं, इन सभी बातों का आदर्श प्रारूप की अवधारणा से कोई सरोकार नहीं है । इस प्रकार हम किन्हीं नैतिक आदर्शो के आधार पर किसी बात को अनुकरणीय मान लेते हैं, आदर्श प्रारूप का इस प्रकार के नैतिक आदर्शो से भी कोई दूर का संबंध नहीं है । वेबर ने स्पष्ट इंगित किया है कि आदर्श प्रारूप का सकारात्मक या सही होना आवश्यक नहीं है, यह सहज रूप में नकारात्मक और नैतिक रूप से असंगत या विरोधी हो सकता है। अत: आदर्श प्रारूप सकारात्मक और नकारात्मक दोनों प्रकार के हो सकते हैं ।

4. आदर्श प्रारूप न तो वर्णन है, न ही ये कोई अमूर्त अवधारणा, कानून या नैतिक निर्णय हैं । ये सिद्धान्त भी नहीं हे क्योंकि ये आनुभाविक नियमों के तार्किक रूप से अन्तर्सबंधित समूह नहीं है । ये सैद्धान्तिक रूप में कल्पनीय और आनुभविक रूप में संभव एक मानसिक रचना मात्र होते हैं । ये प्राक्कल्पनाएं नहीं है, किन्तु इनका प्रयोग प्राक्कलपनाओं के निर्माण और परीक्षण में किया जा सकता है ।

5. सामाजिक जीवन अस्थिर है, अत: इसके क्षेत्र में नियमों या सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना भी कठिन हैं । सामाजिक घटनाएं, परिस्थितियां और दशाएं निरन्तर बदलती रहती हैं । इनमें बदलाव के कारण आदर्श प्रारूपों में भी समयानुसार परिवर्तन करना पड़ सकता है । वेबर ने अपने अध्ययन, प्रोटेस्टैन्ट ईथिक एण्ड द स्प्रिट ऑफ केपिट्लिज्म (1930) में पूंजीवाद और प्रोटेस्टैस्ट धर्म की नैतिकता के आदर्श प्रारूपों की रचना की थी, उनमें काफी बदलाव आ चुका है और निरंतर बदल रहे हैं ।

वेबर ने पूंजीवाद के संदर्भ में हिन्दू धर्म और अन्य धर्मो का भी अध्ययन किया था । उन्होंने हिन्दू धर्म में निहित नैतिक आदर्शो को पूंजीवाद के अनुकूल नहीं माना था, किन्तु आज हम देख रहें हैं कि हिन्दू धर्म के रूढिवादी मतावलम्बी भी पूंजीवाद के लम्बरदार और पेरोकार बने हुए हैं ।

6. आदर्श प्रारूप सारतत्व नहीं है । आदर्श प्रारूप एक ऐसी संकल्पना है जो सारतत्व के विचार की विरोधी है । यह उनके सकारात्मक प्ररिस्थापन का प्रतिनिधित्व करता हे वेबर ने लिखा है कि 'मूल्य निर्णय के संदर्भ में सारतत्व जैसी कोई चीज नहीं होती । “प्रमाणित

ईसाइयत" या "सच्चा समाजवाद" जैसी संकल्पनाएं इतिहासकार या धर्मशास्त्रियों की उपज है । इस प्रकार की संकल्पनाओं का प्रत्यक्षात्मक विज्ञानों में कोई स्थान नहीं है ।

11.6 आदर्श प्रारूप के प्रकार्य और उपयोगिता

सामाजिक घटनाओं के बारे में हमारी जानकारी स्पष्ट नहीं होती । सामान्यत: हमारी जानकारी घटना के कुछ पहलुओं तक ही सीमित होती है । यही, नहीं घटना के उत्पन्न करने वाले कारकों के बारे में भी हमारा ज्ञान धुंधला सा होता है । आदर्श प्रारूप का मुख्य कार्य घटना के बारे में हमारी बोधगम्यता को विस्तृत करना है । फ्रांस की क्रांती क्यों हुई? पश्चिमी पूंजीवाद का उद्भव क्यों हुआ? ऐसे प्रश्नों के संबंध में आदर्श प्रारूप के विधि न केवल घटना के रूपों या श्रेणियों की खोज करती है, अपितु घटना से संबंधित तथ्यों के बीच विद्यमान कारणात्मक संबंधों के एक वैचारिक प्रतिरूप को भी प्रस्तुत करती है । वेबर की सूची इतिहास के निर्वचन करने मात्र में ही नहीं थी, अपितु वह उन कारणों की खोज भी करना चहता था ।

एक आदर्श प्रारूप एक विश्लेषणात्मक रचना है जो शोधकर्त्ता को वास्तविक प्रकरणों से समानताओं के साथ -साथ विचलन को मालूम करने में मदद करता है । यह सामाजिक यर्थाथ को समझने और परखने का एक मापक उपकरण है जिसके द्वारा वास्तविक प्रकरणों का वर्गीकरण और तुलना की जाती है कि वे आदर्श प्रारूप तुलनात्मक अध्ययन के सहायक यंत्र हैं। जैसा प्रारंभ में लिखा गया है कि सामाजिक विज्ञान में प्रयोगात्मक विधि के स्थानापन्न के रूप में तुलनात्मक विधि का प्रयोग किया जाता है । वेबर ने लिखा है, 'आदर्श प्रारूप की विषय - वस्तु कुछ भी हो, इसका एकमात्र प्रकार्य आनुभविक अन्वेषण है ।

इसका प्रमुख कार्य आनुभविक वास्तविकता के साथ तुलना करना है, ताकि इसके साथ समानताओं और असमानताओं को प्रकट किया जा सके ।

आदर्श प्रारूपों का मूलभूत उद्देश्य 'अद्वितीय संरूपणों अथवा मौलिक अवधारणाओं के संदर्भ में व्यक्तिगत घटकों का ऐतिहासिक दृष्टि से विश्लेषण करना है । इनका प्रयोग वास्तविकता को मापने और उसके साथ तुलना करने हेतु संकल्पनात्मक उपकरणों के रूप में प्रयोग किया जाता है । इस कार्य के लिये ये अपरिहार्य है ।

आदर्श प्रारूप हमें प्रकृतिवादी पूर्वग्रहों के साथ -साथ अलौकिक भ्रमजालों से मुक्ति देता है । विज्ञानवादी उन विशेषताओं के प्रति आकषित होता है जो सार्वभौमिक और सर्वव्यापक हैं । वह धर्म की परिभाषा किसी एक धर्म के संदर्भ में नहीं, अपितु धर्म की उन विशेषताओं के संदर्भ में करता है जो सभी धर्मो में विद्यमान है । अपनी इस गवेषणा की रचना करता हे । अपनी गवेषणा के प्रांरभिक स्तर वह उन विशेषताओं का चयन करता है जो स्पष्ट और जिनकी आवृति सर्वाधिक है और अन्त में इस आधार पर एक पूर्ण परिभाषा तक पहुँचने का यत्न करता है । इस विवेचन से स्पष्ट है कि धर्म के आदर्श प्ररूप का धर्म के सार -तत्व से कोई सरोकार नहीं है ।

अन्त में, वेबर ने लिखा है कि 'इतिहास विशिष्ट घटनाओं का अनन्त प्रवाह है जो करोड़ों व्यक्तियों के अनन्त समय और स्थान पर बिखरा पड़ा है । हम इतिहास को कभी भी उसकी सम्पूर्णता में नहीं जान सकते । किन्तु इन विशिष्टताओं को हम 'आदर्श प्रारूप' की विधि

द्वारा कुछ निश्चित संदर्भ बिन्दुओं के बीच अवश्य बांध सकते हैं । यही नहीं हम इसके आधार पर इतिहास की विधा के संचालन के बारे में एक सुनिश्चित सिद्धान्त का निर्माण भी अवश्य कर सकते हैं । वेबर ने आदर्श प्रारूप की अवधारणा को सामाजिक व्यवहार की व्याख्या करने के साथ -साथ सामाजिक यथार्थ के अमूर्त तत्वों के विश्लेषण में भी उपयोगी बताया है । इसी के आधार पर उन्होंने क्रिया के प्रकारों, सत्ता के रूपों और नौकरशाही आदर्श प्रारूपों की रचना की है ।

11.7 आदर्श प्रारूप की रचना

आदर्श प्रारूप बने -बनाये उपलब्ध नहीं होते, इन्हें बनाना पड़ता है । शोधकर्त्ता द्वारा तार्किकीकरण की प्रक्रिया द्वारा इन्हें निर्मित किया जाता है । निर्माण प्रक्रिया में घटना के कुछ लक्षणों को सम्मिलित किया जाता है और कुछेक असंगत लक्षणों व्यवहार अथवा संस्था के केन्द्रिय या आधारभूत तत्वों को अधिक महत्व देकर उन्हें सम्मिलित किया जाता है और गौण तत्वों की उपेक्षा की जाती है । इसका तात्पर्य यह है कि आधुनिक पूंजीवाद अथवा बुजुर्आ क्रांति प्रतिनिधित्व नहीं करता, इसमें कुछ तत्वों लक्षणों को छोड़ दिया गया होता है और कुछ को बढ़ाचढ़ा कर इसमें स्थान दिया गया जाता है । वास्तव में आदर्श प्रारूप एक व्यंग चित्रकार के कार्टून की भांति होता है जिसमें किसी व्यक्ति के किसी अंग, विशेषत: चेहरे की किसी प्रमुख विशेषता को चढ़ा को बढ़ा करा दिखाया जाता है । इसमें व्यक्ति के व्यंगचित्र का आरेखन करते समय चहरे के कुछ प्रमुख लक्षणों या उसके बालों की शैली आदि को अधिक महत्व देकर उन्हें जानबूझकर कर उभारा जाता हे, जैसे श्रीमती इंदिरा गांधी का व्यंग्य चित्र बनाते समय कार्टूनिष्ट उनकी लम्बी नाक और सिर के सामने बालों को सफेद प्रदर्शित किया करते थे । इसी प्रकार, पूर्व राष्ट्रपति डा. कलाम के व्यंगचित्र में उनके बालों की शैली के प्रर्दशन को विशेष महत्व दिया जाता था । व्यंगचित्र की यह उपमा आदर्श प्रारूप के विचार को समझने में सहायता करती है । कार्टून व्यक्ति विशेष के होते हुए भी उसके वास्तविक चेहरे से पूर्णत मेल नहीं खाता है । वेबर ने पूंजीवाद के अपने आदर्श प्रारूप में भी इसी प्रकार सम्पूर्ण ऐतिहासिक तत्वों में से कुछ विशेषताओं को ही महत्व दिया था ।

बेवर ने आदर्श प्रारूप की रचना - प्रक्रिया के बारे में लिखा है कि एक मानसिक रूप में परिभाषित आदर्श प्ररूप की रचना पर नहीं, अपितु स्वनदर्शी तार्किकीकरण के आधार पर की जाती है । इस प्रक्रिया में हम उन विशेषताओं को जुटाते हैं जो न्यूनाधिक मात्रा में विभिन्न दृष्टान्तों में स्पष्ट होते हैं. हम इनमें से कुछ को महत्व देते हैं, कुछ को निकाल बाहर करते हैं, कुछ को बढ़ा -चढ़ा कर प्रस्तुत करते हैं, और अनन्त: यथार्थ की उलझन और असंगति के स्थान पर संगतिपूर्ण और तार्किक लक्षणों का प्रतिस्थापन करते हैं । वेबर के इन विचारों से स्पष्ट है कि आदर्श प्रारूप की रचना व्यक्तिपरक है शोधकर्त्ता के निर्णय पर निर्भर करती है, किन लक्षणों को आदर्श प्रारूप में सम्मिलित किया जायेगा और किन्हें नहीं और यही आदर्श प्रारूप की प्रमुख कमजोरी है । बुर्जुआ -क्रांति का बनाया गया आदर्श प्रारूप किसी वास्तविक बुर्जुआ क्रांति की घटना से शायद ही मेल खाता हो, किन्तु इस प्रारूप में उस क्रांति के प्रमुख तत्वों को महत्व दिया गया होता है । यही कारण है कि आदर्श प्रारूप किसी भी सामाजिक

वास्तविकता का मात्र एक अनुमान होते है, वे शीशे की भांति वास्तविकता को यथावत प्रतिबिम्बित नहीं करते हैं ।

किसी घटना का निर्मित आदर्श प्रारूप सही है या गलत, ऐसी कोई बात नहीं होती । एक ही घटना का अलग -अलग समय पर अन्वेषण हेतु भिन्न प्रारूप हो सकते हैं । एक घटना का एक बार अन्वेषण करते समय आदर्श प्रारूप के लिये जिन लक्षणों का चयन किया था, वे ही लक्षण उसी घटना के दूसरे अन्वेषण करते समय निरर्थक साबित हो सकते हैं ।

11.8 आदर्श प्रारूप के प्रकार

वेबर ने कई आदर्श प्रारूपों की चर्चा की हे । लेविस कोज़र ने इन्हें तीन प्रमुख रूपों में वर्गीकृत किया है । ये प्रारूप अमूर्तीकरण के स्तरों पर आधारित हैं -

1. **ऐतिहासिक आदर्श प्रारूप** - इस श्रेणी में वे आदर्श प्रारूप आते हैं जो किसी एक ऐतिहासिक युग की घटनाओं से संबंधित होते हैं । ऐसे प्रारूपों की जड़े ऐतिहासिक विशिष्टताओं में गड़ी होती हैं । जैसे प्रोटेस्टेंट नैतिकता, आधुनिक पूंजीवाद, पश्चिमी नगर । ये तीनों ही घटनाएं यूरोप के इतिहास से जुड़ी हुई है । इन प्रारूपों की रचना में वेबर ने उस काल के सम्पूर्ण ऐतिहासिक लक्षणों में से कुछ लक्षणों का चयन कर इन्हें निर्मित किया है । रेमंड एरां ने इस टिप्पणी करते हुए लिखा है कि ऐतिहासिक विशिष्ट प्रारूप, सम्पूर्ण में से कुछ तत्वों को लेकर किया जाता है ।

2. **सामान्य समाजशास्त्रीय आदर्श प्रारूप** - ये ऐसे आदर्श प्रारूप हैं जो अनेक ऐतिहासिक दुगों और समाजों की घटनाओं से जुड़े होते हैं ।इस प्रकार के प्रारूप सामाजिक यथार्थ के अमूर्त तत्वों के आधार पर निर्मित होते हैं जैसे नौकरशाही और सामंतवाद के प्रारूप । सामाजिक यथार्थ के ये तत्व विभिन्न ऐतिहासिक और सांस्कृतिक संदर्भो में पाये जाते हैं । वेबर द्वारा सत्ता के रूप (तार्किक, कानूनी,पारम्परिक और चमत्कारी) और सामाजिक क्रिया के प्रकार (पारम्परिक, मूल्यांकनात्मक, भावानात्मक और तार्किक) भी इसी श्रेणी में आते हैं । इस प्रकार के प्रारूपों का स्त्रोत भी ऐतिहासिक होता है किन्तु ये ऐसे तत्व हैं, जिन्हें अधिकांश रूप में देखा जा सकता है, इनमें वास्तविकता होती हैं ।

3. **संरचनात्मक आदर्श प्रारूप** - किसी घटना के कारणों और परिणामों की खोज से जुड़े प्रारूप इस श्रेणी में आते हैं । रेमंड ऐरो ने इस प्रकार के प्रारूपों को विशिष्ट प्रकार के व्यवहार की तार्किकीकृत पुर्नसंरचना कहा है । इस प्रकार के प्रारूपों की रचना विवेकसम्मत आधार पर होती हे । वेबर के अनुसार आर्थिक सिद्धान्त के वाक्य इसी श्रेणी में आती हैं । यदि लोग शुद्ध रूप मे आर्थिक मानव है तक अनेक इसी प्रकार के व्यवहार करने की संभावना रहती हैं ।

उदाहरण - वेबर ने स्पष्ट रूप में दो प्रकार के आदर्श प्ररूपों का अपनी रचनाओं में विशेषतौर से उल्लेख किया हे - ऐतिहासिक रूप में बेजौड़ संरूपण, जैसे तार्किक बुर्जुआई पूंजीवाद और ऐतिहासिक उद्विकास से संबंधित कथन, जैसे पूंजीवाद जो आधुनिक पूंजीवद का प्रतिनिधित्व करता है, के प्रारूप के आधार पर इसे वित्त पूंजीवाद और उपनिवेशी पूंजीवाद से

अलग प्रदर्शित किया है । वेबर ने जिस औधोगिक पूंजीवाद की आदर्श प्रारूपीय विशेषताएं इंगित की हैं, उन्हें गर्थ एवं मिल्स ने संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है ।

उत्पादन संस्थान स्वतंत्र श्रम और स्थाई कारखाने के औपचारिक संगठन पर आधारित होता है । कारखाने का मालिक अपनी जोखिम पर इसे चलाता है और गुमनाम तथा प्रतिस्पर्धा बाजार के लिये वस्तुओं का उत्पादन करता है । उसका कार्य संचालन प्राय: उत्पादन कीमत और मुनाफे के सतत संतुलन के द्वारा तार्किक आधार पर नियंत्रित होता है अपनी स्वयं की अघमी सेवाओं सहित सभी तत्वों का उसके खाते के तुलना पत्र में मदों के रूप में पुस्तक में लिखे जाते हैं ।

यह ऊपर बताये गये ऐतिहासिक तत्वों पर निर्मित प्ररूप का एक उदाहरण है । समाजशास्त्रीय आदर्श प्ररूप के उदाहरणों में वेबर द्वारा निर्मित नौकरशाही, सत्ता और सामाजिक क्रिया के प्रकारों का दिया जा सकता है । वेबर ने नौकरशाही के प्रारूप में अनेक लक्षणों को सम्मिलित किया है जैसे, श्रम विभाजन और उच्च श्रेणी का विशिष्टकरण सत्ता का पदानुक्रमिक ढांचा, दायित्व के क्षेत्र का स्पष्ट निर्धारण, कार्यो की स्पष्ट नियमावली, नियमित पारिश्रमिक भुगतान, पदोन्नति के अवसर, प्रतियोगी परीक्षा द्वारा नियुक्ति, आर्थिक सुरक्षा, फाईल व्यवस्था आदि आदि ।

इसी प्रकार सत्ता के प्रारूप में तीन प्रकार की सत्ताओं का गहन विश्लेषण किया है । ये प्रकार हैं - पारंपरिक, तार्किक, करिश्माई अथवा चमत्कारिक । सामाजिक क्रिया के चार प्रकारों का विश्लेषण किया है - तार्किक, मूल्यांकनात्मक पारंपरिक और भावनात्मक ।

11.9 आदर्श प्रारूप की विधि का मूल्यांकन

सामाजिक जीवन में कैसे अध्ययन किया जाये, इस प्रश्न का उत्तर में समय -समय पर अलग -अलग समाजशास्त्रीयों ने अलग -अलग विधियां सुझाई हैं । सभी समाजशास्त्रियों का लक्ष्य समाजशास्त्र को अधिकाधिक वैज्ञानिक बनाना रहा है । वेबर ने सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में नियंत्रित अवलोकनों की सीमित उपयोगिता का अनुभव करते हुए आदर्श प्रारूप की विधि के प्रयोग का सुझाव दिया । आदर्श प्रारूप एक तरह से एक तुलनात्मक पद्धति है जिसमें घटना के निर्मित प्ररूप से घटना के वास्तविक प्रकरणों की समानता और भिन्नता का पता लगा कर तुलना की जाती हैं वेबर ने लिखा है कि सामाजिक घटनाओं के कार्य -कारण संबंधों को तब तक ठीक प्रकार से नहीं समझा जा सकता, जब तक कि उन घटनाओं को पहले समानताओं के आधार पर सैद्धान्तिक श्रेणियों में विभाजित नहीं कर लिया जाता है । विभाजन या वर्गीकरण की इस प्रक्रिया के दौरान ही आदर्श प्रारूप घटनाओं के दर्शन हो जाते हैं ।

आदर्श प्रारूप की विधि की अपनी उपयोगिता, जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है, और कमजोरियों सीमाएं हैं । इन कमजोरियों के आधार पर इसकी आलोचना हुई है । आलोचना के मुख्य बिन्दु हैं -

1. प्रत्येक घटना के विशिष्ट लक्षणों का अन्वेषण करना और फिर उसके आधार पर आदर्श प्रारूप की रचना करना एक कठिन कार्य है ।

2. आदर्श प्रारूप की विधि का एक सीमित महत्व है । इसका प्रयोग तुलनात्मक अध्ययनों में ही किया जा सकता है ।
3. आदर्श प्रारूप की रचना -प्रक्रिया व्यक्तिपरक है जो वैज्ञानिक विधि की वस्तुनिष्ठता की विशेषता की सर्वथा विरोधी है । घटना के लक्षणों का चयन प्रत्येक शोधकर्त्ता अपने विचार से करता है, अत: जितने शोधकर्त्ता उतने ही एक ही घटना के आदर्श प्रारूप की रचना होने की संभावना बन जाती है । इसके अतिरिक्त आदर्श प्रारूप शुद्धत: मानव की रचनाएं हैं, अत: इन पर समय और स्थान का प्रभाव पड़ सकता है । ये तत्कालिक विचारों और सामाजिक परिवेश से प्रभावित होते हैं । ये स्थाई और मूर्त होते हैं ।

विज्ञान का लक्ष्य सार्वभौमिक नियमों (सिद्धान्तों) की रचना करना है, किन्तु यदि प्रत्येक शोधकर्त्ता अपनी दृष्टि से आदर्श प्ररूप की रचना करता है, तब सामाजिक विज्ञानों में सार्वभौमिक नियमों की रचना असंभव हो जायेगी । वेबर ने आदर्श प्रारूप की अपनी विधि की उपरोक्त कमजोरियों को ताड़ते हुए चेतावनी दी है कि "आदर्श प्रारूपीय वर्गीकरण को एक ऐसी सर्वगुण सम्पन्न पद्धति मानने की भूल नहीं की जानी चाहिये जो समस्त सामाजिक विश्लेषेण की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करती हो । यह पूर्णत: एक पद्धतिशास्त्र युक्ति है और जो यह संकेत नहीं देती है कि सामाजिक घटनाएं अनिवार्यत: तार्किक जटिलताएं है, यद्यपि आदर्श प्रारूप अवलोकन और विश्लेषण हेतु एक तार्किक छलनी है ।

11.10 सारांश

सामाजिक विज्ञानों और प्राकृतिक विज्ञानों में मूलभूत अन्तर उनकी अध्ययन की विषय वस्तु की प्रकृति का है । इस अन्तर के कारण सामाजिक विज्ञानों में प्रयोगात्मक पद्धति विशेषताओं - अनुभवपरकता, वस्तुपरकता और सटिकता मैक्स वेबर ने इस कमी की पूर्ति के लिये सामाजिक विज्ञानों में आदर्श प्रारूप की एक पद्धतिशास्त्रीय संकल्पना को प्रस्तुत रचना अध्यित घटना की अतिरंजित विशेषताओं द्वारा की जाती है । इस यर्थाथ के कुछ तत्वों की घटत्तरी -बढ़ोत्तरी करके बनाया जाता है ।यह सांख्यकीय औसत नहीं है और न ही यह नैतिक अर्थो में आदर्श । इस वास्तविकता के कुछ विशिष्ट तत्वों के विचारपूर्वक और सम्मिलित करके एक आदर्शात्मक मान के रूप में निर्मित किया जाता है । एक तरह से यह सामाजिक घटनाओं का मापने का एक मापदंड है ।

मोटे रूप में इसका प्रयोग घटनाओं को मापने में किया जाता है । यह तुलनात्मक पद्धति का ही एक रूप हे । प्राकृतिक विज्ञानों में जो स्थान प्रयोगात्मक पद्धति को प्राप्त है, वही स्थान सामाजिक विज्ञानों में तुलनात्मक पद्धति को प्राप्त है । इसीलिये तुलनात्मक पद्धति आदर्श प्रारूप का प्रयोग सामाजिक विज्ञानों में प्रयोगात्मक विधि के एक विकल्प के रूप में किया जाता है ताकि सामाजिक विज्ञानों (समाजशास्त्र) को एक सटीक विज्ञान बनाया जा सके ।

मैक्स बेवर ने अपनी पद्धतिशास्त्र इस युक्ति का प्रयोग नौकरशाही, पूंजीवाद, सामाजिक क्रिया और प्रभुत्व तथा कई अन्य प्रघटनाओं के विश्लेषण में किया है ।

11.11 शब्दावली

1. आदर्श प्रारूप: किसी घटना, वस्तु अथवा वर्ग विशेष की समस्त आवश्यक विशेषताओं का सम्पूर्ण अथवा लगभग सम्पूर्ण रूप में चित्रण करने की विधि आदर्श - प्रारूप के नाम से जानी जाती है ।
2. प्रारूपिका विश्लेषण : एक घटना पर तथ्य को दूसरी घटना और तथ्य से अलग उसके गुण विशेषताओं को उजागर किया जाता है और सामान्य नियमों की रचना की जाती ह।
3. तुलनात्मक पद्धति : विभिन्न समाजों की तुलना करने अथवा एक ही समाज के विभिन्न भागों (समूहों) की तुलना करने के लिए किया जाता है ।

11.12 बोध प्रश्न

1. आदर्श प्रारूप क्या है? समझाइए ।
2. आदर्श प्रारूप की विशेषताओं की विवेचना कीजिए ।
3. आदर्श प्रारूप के प्रकार्य तथा इसकी उपयोगिता स्पष्ट कीजिए ।
4. आदर्श प्रारूप की किस प्रकार रचना की जाती है, बताइए ।
5. आदर्श प्रारूप की विधि का मूल्यांकन कीजिए ।

11.13 संदर्भ ग्रंथ

1. Weber max : The Theory Of Social And Economic Organization (1947)
2. Gerth and mills : Fromm Max Weber : Essays In Sociology (1946)
3. Bendix Reinhard : Max Weber - An Intellectual Portrait (1960)
4. Aron Remond : Main Currents In Sociological Throught (1967)

इकाई - 12

मैक्स वेबर : नौकरशाही

इकाई की रूपरेखा :

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 नौकरशाही का अर्थ एवं परिभाषा

12.3 नौकरशाही के तत्व

12.4 नौकरशाही की विशेषताऐं

12.5 नौकरशाही के सामाजिक परिणाम

12.6 नौकरशाही पर नियन्त्रण के उपाय

12.7 नौकरशाही के उत्पत्ति के कारण

12.8 नौकरशाही का आलोचनात्मक मूल्यांकन

12.9 सारांश

12.10 शब्दावली

12.11 बोध प्रश्न

12.12 संदर्भ ग्रन्थ

12.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन द्वारा निम्न उद्देश्यों की स्पष्टता होगी ।

- इसके द्वारा वेबर द्वारा प्रतिपादित नौकरशाही अवधारणा का स्पष्टीकरण किया जायेगा तथा इसको परिभाषित किया जायेगा ।
- प्रस्तुत इकाई में नौकरशाही की विशेषताओं का विवेचन किया जाएगा ।
- प्रस्तुत इकाई में वेबर द्वारा प्रतिपादित नौकरशाही सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या की जायेगी ।
- नौकरशाही के सकारात्मक एवं नकारात्मक परिणामों की विवेचना करना ।
- नौकरशाही पर नियंत्रण करने के उपायों की समीक्षा करना ।
- नौकरशाही की अवधारणा वर्तमान सन्दर्भ में कितनी उपयोगी है यह इस इकाई के सारांश के रूप में प्रस्तुत किया जाना ।

12.1 प्रस्तावना

अमेरिकी समाजशास्त्री अमीताई ऐजिआनी (Amitai Etzioni) के शब्दों में "हमारा समाज संगठनात्मक समाज है ।" यह आधुनिक सामाजिक संगठन की ही देन है कि अब लोग अस्पताल में पैदा होते हैं, स्कूल में शिक्षित होते हैं, व्यापारिक प्रतिष्ठानों एवं सरकारी संस्थाओं में कार्यरत होते हैं, हम श्रम संघों एवं व्यावसायिक संघों से जुड़ते हैं और बीमारी एवं अवकाश के लिए चर्चो में जाते हैं । आधुनिक औद्योगिक समाज निरन्तर संगठनात्मक स्वरूप में

परिवर्तित हो रहा है । मेक्स वेबर का विश्वास था कि नौकरशाही संगठन औद्योगिक समाज की प्रमुख संस्थाऐं रही हैं । वर्तमान समाज की प्रकृति को समझते हुए वेबर ने नौकरशाही की प्रक्रिया को समझने पर बल दिया है । मार्क्स के मत में पूंजीवादी एवं समाजवादी औद्योगिक समाजों में मूलभूत अन्तर है किन्तु वेबर की दृष्टि में नौकरशाही संगठनों की समानता को देखते हुए यह अन्तर मामूली है । इसीलिए यहां यह बताना आवश्यक है कि वेबर की नौकरशाही की अवधारणा को उनके द्वारा प्रतिपादित सामाजिक क्रिया के सामान्य सिद्धांत के सन्दर्भ में समझना आवश्यक है । इसलिए वेबर ने नौकरशाही संगठन की उनके द्वारा बताये क्रियाओं के प्रकारों में से ही एक तार्किक क्रिया के सामान्य सिद्धांत के संदर्भ में समझना अवाश्यक है । इसलिए वेबर ने नौकरशाही संगठन की उनके द्वारा बताये क्रियाओं के प्रकारों में से एक ताक्रिक क्रिया (Relation Action) के संदर्भ में एक आदर्श प्रारूप (Ideal Type) के रूप में व्याख्या प्रस्तुत की है ।

12.2 नौकरशाही का अर्थ एवं परिभाषा

वेबर ने नौकरशाही की अवधारणा को नियंत्रण की एक व्यवस्था के रूप में समझा है । उनके अनुसार यह एक संस्तरणात्मक संगठन है जिसमें अधीनस्तों द्वारा किये जाने वाले क्रियाकलापों का सख्ती से नियंत्रण करना एवं अनुशासित करना है । यह एक विशेष प्रकार की संरचना का बोध कराती है जिसके अन्तर्गत तर्कसंगत रूप में समन्वित असमानों का एक विशिष्ट प्रकार का संगठन होता है । वेबर का मानना है कि वर्तमान आधुनिक समाजों में नौकरशाही तंत्र का होना अपरिहार्य बन चुका है ।

मैक्स वेबर के अनुसार "नौकरशाही तार्किक एवं विवेकशील नियमों पर आधारित होती है। इसके अन्तर्गत अधिकार, सत्ता तथा उत्तरदायित्वों का सस्तराणात्मक विभाजन पाया जाता है । जिसका उद्देश्य किसी औद्योगिक, व्यापारिक, राजनैतिक, धार्मिक, शैक्षिक अथवा किसी भी अन्य प्रकार के संगठन के उद्देश्यों को प्रभावशाली ढंग से प्राप्त करने के लिए किया जाता है । इसमें लिखित नियम होते हैं तथा इसमें विभिन्न व्यक्तियों से कार्यों का समन्वय स्थापित किया जाता है ।" नौकरशाही को वेबर ने तार्किक क्रिया का विशुद्ध रूप से एक सही उदाहरण माना है । जहाँ प्रशासनिक निर्णय तार्किक आधार पर लिये जाते हैं । वेबर का विश्वास है कि आधुनिक औद्योगिक समाजों में तार्किक क्रिया कार्यप्रणाली का एक अहम् तरीका बन गई है ।

पीटर ब्लाऊ (Peter Blau) ने नौकरशाही को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "कोई भी ऐसा संगठन जो विस्तृत आधार पर प्रशासकीय कार्यों को क्रमबद्ध रूप में चलाने के लिए बहुत से व्यक्तियों के कार्यों के द्वारा समन्वित होता है, नौकरशाही (Bureaucracy) कहलाता है ।" एक अन्य विचारक बर्नार्ड शाह (Bernard Shah) के अनुसार सत्ता के उपासक उच्च पदाधिकारियों की सामन्त शाही का दूसरा नाम नौकरशाही है ।"

12.3 नौकरशाही के तत्व

मैक्स वेबर ने अपने सिद्धान्त द्वारा नौकरशाही में अग्रलिखित तत्व बताये हैं : -

(1) संगठन के उद्देश्य के लिए आवश्यक नियमित क्रियाओं को पदानुसार कर्त्तव्यों के रूप में वितरित किया जाता है ।

(2) पदों के संगठन में संस्तरण का सिद्धान्त अपनाया जाता है अर्थात् हर निचला पद अपने से ऊँचे पद के नियंत्रण एवं निरीक्षण में रहता है ।

(3) नौकरशाही के कार्यकलापों का संचालन पूर्व परिभाषित व स्पष्ट नियमों के अनुसार होता है और जो भी मूर्त मामला सामने आता है उनका निपटारा नियमों के आधार पर किया जाता है ।

(4) एक आदर्श पदाधिकारी अपने कर्त्तव्यों का पालन औपचारात्मक अवैयक्तिकता से करता है ।

(5) पदाधिकारियों की नियुक्ति उनकी तकनीकी योग्यता एवं एक विशेषज्ञ के रूप में उनके ज्ञान के आधार पर की जाती है । वे पूरे समय के लिए कर्मचारी हो, जिनका निश्चित वेतन क्रम आदि होता है । यह नौकरी ही उनके जीवन -व्यवसाय (career) होता है । इसलिए उनकी उन्नति और समृद्धि अपने पद के कुशल संचालन में निहित है ।

(6) नौकरशाही व्यक्तिगत जीवन और दफ्तरी जीवन को बिल्कुल पृथक कर देती है । अधिकारी निजी लाभ के लिए अपने पद का प्रयोग नहीं कर सकता । संगठन के किसी भी भाग पर उसका निजी स्वामित्व नहीं होता है । इसीलिए वेबर ने कहा है कि "नौकरशाही अधिकारिक गतिविधि को व्यक्तिगत जीवन के क्षेत्र से अलग कर देती है ।"

राइनहार्ड बैण्डिक्स नौकरशाही के तत्वों को एक वाक्य में समेटते हुए लिखते हैं कि, "(1) सरकारी कार्य की निरन्तरता, (2) निश्चित नियमों के द्वारा सत्ता की सीमितता, (3) इसके कार्यान्वयन का निरीक्षण, एवं (4) पद और पदाधिकारी का भेद, तथा (5) सरकारी कार्य के प्रलेखीय आधार के बिना इस प्रकार की वैधानिक सत्ता की प्रणाली नहीं बन सकती जिसमें सत्ता का कार्यान्वयन अधिनियमित मानकों के आधार पर आधारित हो ।"

वास्तव में आज के युग में नौकरशाही सार्वजनिक व निजी दोनों ही क्षेत्रों में पाई जाती है । सार्वजनिक क्षेत्र में इसे 'नौकरशाही प्रशासन' कहते हैं, जबकि निजी क्षेत्र में इसे 'नौकरशाही प्रबन्ध' कहा जाता है । कॉलेज, विश्वविद्यालय, चिकित्सालय सैनिक संगठन, यहाँ तक कि धार्मिक संगठनों में भी यही पदक्रम वाली दफ्तरी व्यवस्था पाई जाती है । इसलिए वेबर ने इसे आधुनिक समाज में घटित परिवर्तन की प्रक्रिया भी कहा है ।

12.4 नौकरशाही की विशेषताएँ

मैक्स वेबर का मत है कि ऐसा कोई भी संगठन जिसमें नौकरशाही भी शामिल है जो तार्किक नियमों की व्यवस्था को स्वीकार करते है । उनके पीछे वैधानिक मान्यता भी होनी चाहिए और इसी क्रम में वेबर ने वैधानिक के तीन प्रकार बताये हैं जो तीन प्रकार की क्रियाओं से पनपती है : भावनात्मक, परम्परागत तथा तार्किक इनमें से प्रत्येक आज्ञा पालन (obedience) की युक्ति प्रदान करती है । वह युक्ति जो भावना प्रथा एवं तार्किकता पर आधारित है । ये वैधानिक नियंत्रण के प्रकार ही वेबर के मत में सत्ता के प्रकार होते हैं जो क्रमश: चमत्कारिक सत्ता, परम्परागत सत्ता तथा तार्किक या वैधानिक सत्ता है । इनमें से प्रत्येक संगठनात्मक संरचना के एक विशेष स्वरूप को ग्रहण करती है । मैक्स वेबर ने प्रत्येक

प्रकार की सत्ता के प्रतिनिधित्व के लिए प्रारूपों का निर्माण किया है जो 'आदर्श प्रारूप' (Ideal Type) कहलाते हैं ।

मैक्स वेबर द्वारा प्रतिपादित नौकरशाही की अवधारणा की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं।

1. संगठन के लिए नियमित कार्यो का बंटवारा 'शासकीय कर्त्तव्यों' के रूप में -

प्रत्येक प्रशासकीय अधिकारी का कार्यक्षेत्र एक परिभाषित जिम्मेदारी में आता है । जटिल कार्यों को विशेषीकृत अधिकारियों के बीच प्रबन्धनीय रूप में बांटा जाता है । उदाहरण के रूप में राज्य प्रशासन को शिक्षा, रक्षा, एवं पर्यावरण जैसे अनेक विभागों में विभक्त किया जाता है । प्रत्येक विभाग के लिए एक प्रशासकीय अधिकारी को उत्तरदायित्व प्रदान किया जाता है । जो अपने क्षमता के अनुरूप स्पष्ट रूप से परिभाषित शासकीय कार्यों का निष्पादन करता है।

2. कार्यालय संगठन द्वारा संस्तरण के सिद्धान्त की पालना की जाती है

प्रत्येक कनिष्ठ कार्यालय अथवा अधिकारी अपने से श्रेष्ठ कार्यालय अथवा अधिकारी के नियंत्रण अथवा निर्देशन में कार्य करता है । इस प्रकार कनिष्ठ एवं श्रेष्ठ (उच्च) अधिकारी के बीच आदेशों एवं उत्तरदायित्वों की एक श्रंखला (Chain) स्थापित हो जाती है । जिसके अन्तर्गत प्रत्येक अधिकारी अपने स्वयं के प्रशासकीय दायित्वों एवं अपने अधीन कार्य करने वालों के लिए अपने निकटस्थ उच्च अधिकारी के प्रति जबाबदेही है ।

3. अमूर्त नियमों एवं उनकी कार्यान्विति अथवा प्रशासकीय नियम

एक प्रशासकीय संरचना में अधिकारियों एवं कर्मचारियों के कार्यक्षेत्र निश्चित तरीके से विभाजित कर दिये जाते हैं और सामान्यत: यह विभाजन प्रशासकीय नियमों के अनुरूप पूर्ण किये जाते हैं । प्रशासकीय तन्त्र के लिए अनिवार्य नियमित -कार्यकलापों को एक निश्चित ढंग से राजकीय -कर्तव्यों के रूप में परिभाषित किया जाता है अर्थात् कुछ विशिष्ट प्रकार के कार्य करने के प्रत्येक अधिकारी के कार्यकलाप राजकीय कर्तव्यों के रूप में विभक्त होते हैं । उपरोक्त निर्धारित कार्यों के निष्पादन के लिए अधिकारी को आवश्यक सत्ता अथवा अधिकार (वैधानिक अधिकार) प्रदान किये जाते हैं अर्थात एक अधिकारी की सत्ता नियमों द्वारा परिलीक्षित होती है कि वह किस सीमा तक बल प्रयोग आदि उपायों द्वारा आवश्यक निर्देशों की परिपालना करा सकता है । उपरोक्त कर्त्तव्यों के निरन्तर एवं नियमित रूप से पालना के लिए एक उचित व्यवस्था होती है और जो व्यक्ति कार्य करने की आवश्यकतानुसार योग्यता रखते हैं, उन्हीं को नौकरी में रखा जाता है । इसी व्यवस्था द्वारा नौकरशाही सत्ता का निर्माण होता है । ऐसी व्यवस्था केवल आधुनिक विकसित समाजों में ही देखी जा सकती है ।

4. कार्य निष्पादन के साधन (Means Execution)

एक संगठन में कार्यरत सभी अधिकारी अपने कार्यो के निष्पादन के लिए प्रयोग में लाये जाने वाले साधनों के मालिक स्वयं नहीं होते हैं । सरकारी तन्त्र द्वारा उन्हें साधन उपलब्ध कराये जाते हैं । जिनका नियमानुसार प्रयोग किया जा सकता है ।

5. व्यक्तिगत आय एवं सरकारी आय अलग -अलग

नौकरशाही तंत्र द्वारा व्यक्तिगत एवं सरकारी आय के बीच स्पष्ट विभाजन होता है। सरकारी अधिकारी एवं कर्मचारी नौकरशाही तंत्र का कोई भी भाग जिसके लिए वह कार्य कर

सकता है । अपने स्वामित्व में नहीं रख सकता न ही वह अपनी सरकारी प्रस्थिति को व्यक्तिगत लाभ के लिए प्रयोग कर सकता है । वेबर के शब्दों में "नौकरशाही तंत्र सरकारी कार्य को व्यक्तिगत जीवन से अलग करके मानती हैं ।"

6. लिखित दस्तावेज (Written Records)

नौकरशाही तंत्र में कार्यालयों का कार्य संचालन फाइलों तथा लिखित दस्तावेजों के माध्यम से किया जाता है जिन्हें पूर्णतया संभालकर रखा जाता हैं । इन कार्यो को करने के लिए तथा आवश्यक फाइलों एवं दस्तावेजों को सुरक्षित रखने के लिए क्लर्क, फाइल -कीपर आदि की नियुक्ति की जाती है तथा विभिन्न विषयों से सम्बन्धित अलग -अलग फाइलें बनाई जाती है । इनको कार्य विशेष की महत्ता के अनुसार 'आज ही (Out Today), अतिआवश्यक (Most urgent), आवश्यक (Urgent) अतिगोपनीय (Most Confidential) वर्गीकृत करके इनके उपर उपरोक्त श्रेणीयों के टैग लगा कर उच्च अधिकारियों के पास निष्पादन के लिए भिजवा दिये जाते हैं ।

7. अधिकारियों एवं कर्मचारियों का प्रशिक्षण (Tranning Of Bureaucrates)

आधुनिक नौकरशाही तंत्र में कार्यालयों में कार्य विशेषीकृत रूप में होता है । अर्थात किसी विशेषकार्य के लिए विशेष प्रकार का प्रशिक्षण प्राप्त अधिकारी अथवा कर्मचारी को नियुक्त किया जाता है । सेवा अवधि के समय में भी समय समय पर इनको प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है । ताकि प्रशासन चुस्त -दुरस्त रहे ।

8. अधिकारियों की विशेष प्रस्थिति (Special status of officers)

बड़े -बड़े संगठनों में कार्य को पूरा करने के लिए कर्मचारियों को अधिकाधिक कार्य करना पड़ता है, चाहे उनके कार्य करने की अवधि निश्चित ही क्यों ना हो । यही कारण है कि उच्च अधिकारी अपने कार्यालय समय के समाप्त होने के उपरान्त भी दिये गये कार्य को पूरा करने के लिए कार्यालय में बैठे रहते हैं । कई बार कर्मचारी को पदोन्नति प्राप्त करने के लिए अपने से उच्च अधिकारी को खुश करने के लिए भी अतिरिक्त समय तक कार्य करना पड़ता है।

वेबर का मानना है कि कार्यालयों में एवं बड़े -बड़े संगठनों में कार्य करने वाले अधिकारियों के लिए कार्य एक पेशे की तरह होता है, जिसके लिए वे विशेषरूप से प्रशिक्षण प्राप्त होते हैं । वे समय -समय पर होने वाली प्रतियोगी परीक्षाओं को पास कर पदोन्नति प्राप्त करते हैं । वेबर के मत में नौकरशाही तंत्र में कार्य करने का अर्थ सुरक्षित जीवन के बदले में ईमानदारी के साथ प्रबन्ध के उतरदायित्व को ग्रहण करना है अर्थात इसमें व्यक्ति अपने कार्य के प्रति ईमानदार होता है ।

इसी प्रकार से नौकरशाही में कार्य करने वाले कर्मचारियों की साधारण लोगो की तुलना में सामाजिक प्रतिष्ठा ऊँची होती है । ये कर्मचारी स्थायी अथवा अस्थायी दोनों प्रकार के हो सकते हैं । इनका एक स्थान से दूसरे स्थान को या एक विभाग से दूसरे विभाग में स्थानान्तरण किया जा सकता है । इनको राज्य द्वारा पूर्ण सुरक्षा प्रदान की जाती है । नौकरशाही में कार्य करने वाले प्रत्येक कर्मचारी को एक निश्चित अवधि प्राय: एक माह की सेवा समाप्ति पर (प्रत्येक माह) एक निश्चित धनराशि सेवा के बदले प्रदान की जाती है ।

सेवानिवृत्ति के उपरान्त एक निश्चित राशि पेन्शन के रूप में दी जाती है । प्रत्येक कर्मचारी को वेतन उसके पद के अनुरूप प्रदान किया जाता है । प्रत्येक कर्मचारी अपने सेवा काल में अपनी योग्यता एवं अनुभव के द्वारा निम्न पद से उच्च पद व वेतन प्राप्त कर सकता है । प्रत्येक कर्मचारी अपने सेवा काल में अपनी योग्यता एवं अनुभव के द्वारा निम्न पद से उच्च पद व वेतन प्राप्त कर सकता है । प्रत्येक कर्मचारी को सेवा अवधि में अच्छे कार्य के लिए पुरस्कृत तथा असंतोषजनक कार्य के लिए आर्थिक रूप से दण्डित किया जाता है ।

9. प्रशासनिक साधनों का केन्द्रीयकरण (Centralization of Administrative Means)

वेबर का मानना है कि नौकरशाही में केन्द्रीयकरण की प्रक्रिया को केन्द्रीय स्तर के संगठनों जैसे विश्वविद्यालय, सरकार, सेना एवं अन्य राजनैतिक संगठनों में क्रियाशील बताया है । जैसे ही उक्त संगठनों का आकार बढ़ता जाता है इनको अच्छी तरह से संचालित करने के लिए स्वतंत्र व्यक्तियों के हाथों से छीनकर सत्ताधारी वर्ग के हाथों में सौंप दिया जाता है। ऐसा वित्तीय कारणों से भी हुआ है ।

10. नौकरशाही में अवैयक्तिकता को प्राथमिकता (Impersonal Relation is preferred in Bureaucracy)

आधुनिक समाजों में अधिकारियों द्वारा किसी विषय विशेष पर निणर्य लेते समय अपने व्यक्तिगत हितों को भुलाकर अवैयक्तिक सामान्य लक्षणों को प्राथमिकता दी जाती है । अधिकारी अपनी शक्ति को बनाये रखने के साथ -साथ उसे बढ़ाने के प्रति भी सदैव सचेत रहते हैं ।

11. नौकरशाही में तकनीकी श्रेष्ठता (Technically Superiority In Bureaucracy)

नौकरशाही की यह विशेषता होती है कि यह संगठन तकनीकी रूप से श्रेष्ठ होता है जिसके अन्तर्गत लिखित प्रलेखों का ज्ञान, निरन्तरता, तार्किकता, कार्य संचालन की सार्वभौमिकता आदि अन्य प्रशासनिक तरीकों से श्रेष्ठ होते है इसीलिए इसे एक सफल संगठन कहा जाता है ।

12. एक स्थायी नौकरशाही संगठन (A Stable Bureaucracy Organization)

नौकरशाही संगठन को वेबर ने व्यावहारिक दृष्टि से एक स्थायी अथवा टिकाऊ संगठन माना है जिसके अर्न्तगत अधिकारी अपने साथियों के साथ इस तरह से सम्बन्ध रहते है कि नौकरशाही संगठन की निरन्तरता बनी रहती है । संगठन में अधिकारी एवं कर्मचारी सेवानिवृत्त होते रहते हैं, नई नियुक्तियाँ होती रहती है किन्तु संगठन की निरन्तरता अविनाशी रहती है ।

अन्त में यह कहां जा सकता है कि नौकरशाही तन्त्र में प्रशासनिक नियम होते हैं । कार्यो का एवं सत्ता का विभाजन होता है, उन्हें वैधानिक सत्ता प्राप्त होती है जो तार्किक आधार पर अवैयक्तिक रूप से सामान्य लक्षणों को ध्यान में रख कर प्रशासनिक निर्णय लेते हैं हर कार्य लिखित फाइलों द्वारा होता है, अधिकारी एवं कर्मचारियों को समय -समय पर प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है कानून के अनुसार कार्यो का निष्पादन किया जाता है, निम्न अधिकारी अपने से उच्च अधिकारियों के प्रति वफादार एवं जवाबदेह होते हैं, अच्छे कर्मठ कर्मचारियों को पुरस्कृत किया जाता है तथा निकम्मों एवं आलसियों को दण्डित किया जाता है । कर्मचारी एवं अधिकारी अपनी योग्यता एवं अनुभव द्वारा पदोन्नत होते रहते हैं ।

12.5 नौकरशाही के सामाजिक परिणाम

वेबर ने कर्मचारीतन्त्र का विश्लेषण इसके सामाजिक परिणामों की दृष्टि से भी किया। उनकी गहन एवं पैनी दृष्टि ने इसके सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों पक्षों पर विचार किया। इन्हीं दोनों पक्षों पर वेबर के विचारों को निम्नांकित प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है : -

(अ) नौकरशाही के सकारात्मक परिणाम

वेबर के अनुसार नौकरशाही ने निम्नलिखित रूप से समाज की प्रगति में योगदान दिया है -

(1) **प्रशासन को प्राविधिक श्रेष्ठता प्रदान करना :** नौकरशाही संगठन के किसी भी अन्य स्वरूप की तुलना प्राविधिक दृष्टि से श्रेष्ठ है । अवैयक्ति नियमों द्वारा निर्दिष्ट होने के कारण नौकरशाही कार्यवाही की सामान्य विश्वसनीयता एवं गण्यता को बढ़ा देती है । इसी प्रणाली के अन्तर्गत कार्य अधिक सूक्ष्मता से, तेजी से, मितव्ययिता से तथा बिना अनावश्यक विवाद के सम्पन्न होता है । नौकरशाही के युग का आदर्श विशेषज्ञ है, न कि एक परिरक्षितलित व्यक्ति ।

(2) **प्रजातन्त्र के लिए अनिवार्य :** मैक्स वेबर का उचित ही कहना है कि ज्यों -ज्यों प्रजातन्त्र का विस्तार होता है, नौकरशाही पर आधारित प्रशासन व्यवस्था की अपरिहार्यता भी बढ़ती जाती है । प्रजातन्त्र स्थानीय प्रभावशाली व्यक्तियों के प्रशासन के स्थान पर कानून द्वारा स्थापित सरकारी सेवाओं में लगे अधिकारियों द्वारा स्थापित होता जाता है । मैक्स वेबर की इन्हीं भावनाओं को जूलियन फ्रायड ने बडे सुन्दर ढंग से कहा है "यह सामान्यत: स्वीकार कर लिया गया है कि प्रजातन्त्रीकरण और नौकरशाही साथ -साथ चलते हैं ।"

(3) **प्रशासन एवं राजनीतिक नियन्त्रण की पृथकता संभव :** नौकरशाही एक ऐसी प्रशासनिक संगठन की मशीन है जो स्वचालित है । इसके द्वारा यह सम्मव हो जाता है कि राजनीतिक नेतृत्व व्यवस्थापिका एवं नीति निर्माण के कार्यों पर ही अपना ध्यान केन्द्रित कर सके । साथ ही कर्मचारीतन्त्र पर भी राजनीतिक नेतृत्व अपना नियन्त्रण रख सकता है ताकि वह मनमानी पर न उतर आये । ऐसा होना इसलिए भी सम्भव है क्योंकि नौकरशाही प्रशासन को स्थायित्व एवं निरन्तरता प्रदान कर देती है । यह व्यक्ति विशेष पर आधारित नहीं है । राजनीतिक नेतृत्व को बदल भी सकता है, परन्तु यह संगठन अपना कार्य निरन्तर करता रहता है ।

(4) **शिक्षा के महत्व एवं विभेदीकरण को प्रोत्साहन :** नौकरशाही की आवश्यकताओं ने शिक्षा के स्वरूप को भी प्रभावित किया है । स्कूलों, कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में विभिन्न क्षेत्रों में कर्मचारियों की मांगों को देखते हुए शिक्षण के पाठ्यक्रम व प्रशिक्षण के तरीके बदलने पड़े । डिप्लोमा, डिग्री तथा सर्टिफिकेट्स आदि का महत्व बढ़ गया है । कर्मचारी के चयन के लिए ये बड़े सहायक सिद्ध होने लगे हैं तथा नये -नये विषय विश्वविद्यालयों में पढ़ाये जाने लगे हैं ।

(5) **एक नई तार्किक. वज्ञानिक व अवैयक्तिक संस्कृति का उदय :** प्रतियोगी परीक्षाओं पर आधारित नियमों की औपचारिकता द्वारा निर्दिष्ट, मानवीय भावनाओं से तटस्थ, दफ्तरी कार्यप्रणाली एक नई संस्कृति को विकसित कर रही है । यह सेवा को एक जीवन भर का व्यवसाय बनाती है । इस भाँति व्यवसायियों का एक नया वर्ग समाज में बन जाता है । समय सारणी में आबाद, औपचारिक एवं लिखित नियमों की प्रतिष्ठा से विभूषित, योजनाबद्ध जीवन शैली का विकास होता है । प्रत्येक कदम लागत और लाभ के विश्लेषण के आधार पर उठाया जाने लगता है ।

(6) **प्रशासन के साधनों का एकीकरण :** ज्यों -ज्यों नौकरशाही संगठनों का विस्तार होता जाता है । त्यों -त्यों इनको चलाने के साधनों की स्वतंत्रता व्यक्तियों और समूहों से ले ली जाती है और इसे शासन करने वाले अल्पसंख्यक समूह के अधिकार में दे दिया जाता है । सच तो यह है कि शासन के आधुनिक साधन व्यक्तियों की आर्थिक क्षमता से बाहर हैं । राइनहार्ड बैण्डिक्स के शब्दों में "एक समय का जब उत्पादन, प्रशासन एवं विद्वता के साधन घर के अभिन्न अंग थे, पर ज्यों ही एकत्रीकरण की प्रक्रिया बढ़ी, ये घर से अलग हो गये । फलत: आधुनिक नौकरशाही प्रशासन की विशेषता परिवार से व्यापार, पदाधिकारी से पद और विद्वान से गवेषणा की सुविधाओं को अलग करने पर निर्भर है ।" इस तरह नौकरशाही प्रशासन के साधनों के एकत्रीकरण को प्रोत्साहित करती है ।

(7) **आर्थिक सामाजिक अन्तरों को पाटना :** नौकरशाही एक ऐसी प्रणाली है जो आर्थिक और सामाजिक भेदों को दूर कर सामाजिक समतलीकरण करती है । वस्तुनिष्ठ शैक्षिक प्रमाणपत्रों व औपचारिक परीक्षा के आधार पर विभिन्न पदों पर नियुक्तियाँ की जाती हैं । परिवार, वंश या आर्थिक सम्पन्नता ऐसी नियुक्तियों को प्रभावित नहीं करती । जो भी व्यक्ति योग्यता के आधार पर किसी पद पर आसीन होता है उसके अधीन सभी कर्मचारी उसके निर्णय मानेंगे। इस प्रकार, नौकरशाही सामाजिक अंतरों को पाटती है ।

इस भाँति मैक्स वेबर ने नौकरशाही के प्रकाशमान पक्ष का वर्णन किया और यह बताया कि ज्यों -ज्यों समाज में औद्योगिकरण का विकास हो रहा है और राज्य की सार्वजनिक क्रियाओं का क्षेत्र बढ़ता जा रहा है त्यों -त्यों नौकरशाही संगठन की आवश्यकता बढ़ती जा रही है । मैक्स वेबर के शब्दों में "यह बात चर्च, राज्य सेना, राजनीतिक दल, आर्थिक संस्थान यहाँ तक कि ऐच्छिक समितियों एवं क्लबों के लिए भी उतनी ही सत्य है । चाहे लोग नौकरशाही के अभिशापों के सम्बन्ध में कितनी भी शिकायत क्यों न करें । क्षणभर के लिए यह सोचना केवल भ्रम मात्र होगा कि दफ्तरों में कार्यरत अधिकारियों को माध्यम बनाए बिना किसी भी क्षेत्र में निरन्तर प्रशासनात्मक कार्य किया जा सकता है ।

लेकिन मैक्स वेबर नौकरशाही के खतरों के प्रति भी बेखबर नहीं थे । वे प्रशासन की इस व्यवस्था में अन्तर्निहित अवगुणों के प्रति भी जागरूक थे । उन्होंने उसके उन परिणामों का भी वर्णन किया है जो सामाजिक व्यवस्था में अकार्य के रूप में घटित हो रहे हैं । इन नकारात्मक परिणामों के विश्लेषण में वेबर ने अपनी प्रखर मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है।

(ब) नौकरशाही के नकारात्मक परिणाम : वेबर ने नौकरशाही के अग्रलिखित अवगुणों का भी वर्णन किया है जिनके कारण इसके सामाजिक व्यवस्था के लिए नकारात्मक परिणाम हो सकते हैं : -

(1) **रचनात्मक निजी पहल में बाधक :** औपचारिक नियमों का कठोरता से पालन और अपने पद के दायित्वों तक ही स्वयं को सीमित रखने का अभ्यास व्यक्तिगत स्वतंत्रता का गला घोंट सकता है । इसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति की स्वत: स्फूर्ति, सूझ -बूझ, रचनात्मकता और पहल करने के साहस जैसी शक्तियों का विकास अवरूद्ध हो जाता है । व्यक्ति की कर्मचारी के रूप में केवल अपनी नौकरी को सुरक्षित रखने की इच्छा बलवती हो जाती है । निर्णय के साथ दायित्व आता है अत: वह विचाराधीन मामले को टालता जाता है । कर्मचारी एक नीरस और उबाऊ दिनचर्या में फंसा रहता है।

(2) **आत्मविहीन विशेषज्ञों का उदय :** नियमों एवं विधियों की अवैयक्तिकता ऐसे विशेषज्ञों को उत्पन्न कर सकती है जो अपने सीमित कार्यक्षेत्र में सिमटते समय संगठन के लक्ष्यों को भूल जाएं । यह भी संभावना हो सकती हैं कि नियमावली व प्रक्रिया ही साध्य बन जाए । वेबर ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि दफ्तरी आचरण की अवैयक्तिकता की प्रवृत्ति आत्मविहीन विशेषज्ञों' को जन्म देने की होती है ।

(3) **भीरू अधिकारी आपातकालीन संकट के समय असमर्थ :** नौकरशाही में अधिकारीगण जनता से दूर विशाल भवन में कायदे से काम करने के आदि हो जाते हैं । सरकारी गोपनीयता का नियम भी उनकी सुरक्षा की भावना को बढ़ा देता है । सभी व्यक्ति (कर्मचारी) शान्ति, व्यवस्था और सुरक्षा की आवश्यकता के आदी हो जाते हैं । वेबर के शब्दों में "हम जानबूझकर ऐसे व्यक्ति बनते हैं जिन्हें व्यवस्था या शान्ति की आवश्यकता है और केवल व्यवस्था की आवश्यकता है और यदि एक क्षण के लिए भी यह व्यवस्था नष्ट हो जाती है तो हम घबरा जाते हैं और कायर हो जाते हैं और यदि इस व्यवस्था के अंग नहीं बन पाते तो निस्सहाय हो जाते हैं ।"

(4) **परम्परात्मक मूल्यों का हास :** वेबर कहते हैं कि वास्तव में, मुक्तिकरण जिसकी एक प्रमुख अभिव्यक्ति नौकरशाही है, वस्तुत: अतार्किक है । तार्किकता हमें उन परम्परागत मूल्यों से अलग कर देती है जो मानव जीवन को अर्थ और लक्ष्य प्रदान करते हैं ।

इस प्रकार, हम वेबर की नौकरशाही के प्रति आशंका से भी परिचित होते हैं । उनकी आशंकाएँ सर्वदा निर्मूल साबित नहीं हुई । वास्तव में, वह नौकरशाही के अन्धे पुजारी नहीं थे, जैसा कि कुछ लोग उन्हें समझने की भूल करते हैं । वे महान चिन्तक नौकरशाही, जो आज के युग की एक सर्वग्राही प्रक्रिया है, के प्रति पूर्णत: आश्वस्त नहीं के। उन्होंने यह भी प्रयास किया कि वह तरीका खोजा जाये जिसके द्वारा नौकरशाही से होने वाले दुष्परिणामों की रोकथाम की जा सके अथवा उन्हें न्यूनतम किया जा सके । जब नौकरशाही अपरिहार्य बन गई है, तब उसके नियन्त्रण के उपाय खोज लेने में ही बुद्धिमानी है ।

12.6 नौकरशाही पर नियन्त्रण के उपाय

वेबर के अनुसार नौकरशाही सदैव शक्ति का एक यन्त्र रहा है और आज भी है । इसलिए जो इस वृहद् यन्त्र पर शासन स्थापित कर सकता है वह शक्ति पर भी काबू पा सकता है । शक्ति पर इस प्रकार आधिपत्य में निम्नलिखित दो खतरे निहित हैं -

(1) आपातकाल अथवा आपत्तिकाल में नौकरशाही नेतृत्व शीघ्र काम नहीं कर पाती । दफ्तरी प्रक्रिया शीघ्र निर्णय के मार्ग में बाधा है और विपत्ति के समय तुरन्त निर्णय लेने ही पड़ते हैं ।

(2) पूँजीवादी व्यवस्थाओं में यह भी खतरा है कि पूँजीपति नौकरशाही की इस वृहद् मशीन पर आधिपत्य करके उसका प्रयोग अपने हितों के लिए कर सकते हैं ।

इसलिए वेबर ने नौकरशाही पर नियन्त्रण को अत्यन्त आवश्यक बताया है । वेबर का इस समस्या के हल के लिए यह सुझाव था कि सरकारी नौकरशाही पर संसद का नियंत्रण होना चाहिए । राजनेता जनता के प्रति जवाबदेह होते हैं । यही नहीं, उनके कार्यकलाप जनता के प्रति जवाबदेह होते हैं । यही नहीं, उनके कार्यकलाप जन -नेत्रों से किसी भी क्षण ओझल नहीं होते । राजनेता जन आलोचना के विषय भी बनाये जा सकते हैं । इन सभी तर्कों के आधार पर यही जान पड़ता है कि नौकरशाही राजनीतिक नेताओं के निर्देशन में कार्य करें । इस भाँति, वेबर ने सरकारी क्षेत्र में दोहरी प्रशासन पद्धति की सिफारिश की । फिर भी, वेबर के मन में यह आशंका बनी रही कि राजनीतिक नेता जन सम्पर्क के तो कुशल और अनुभवी व्यक्ति होते हैं परन्तु उन्हें विशिष्ट क्षेत्रों का इतना अधिक और तकनीकी ज्ञान नहीं होता जितना नौकरशाही को होता है । वेबर के ही शब्दों में "राजनीतिक नेता और प्रशिक्षित अधिकारी जिस समय आमने -सामने होते हैं, उस समय प्राय: राजनेता अधिकारी के सम्मुख एक नौसखिया ही प्रतीत होता है ।" ऐसी स्थिति में यह सम्भावना हो सकती है कि राजनीतिक नेता ही नौकरशाही के द्वारा निर्देशित होने लगे ।

12.7 नौकरशाही के उत्पत्ति के कारण

वेबर का मानना है कि नौकरशाही की उत्पत्ति किन्हीं परिस्थितियों के परिणाम स्वरूप हुई है जिसके मुख्य कारण निम्न बताये गये है

1. वस्तु विनिमय आधारित अर्थव्यवस्था के स्थान पर मुद्रा आधारित अर्थव्यवस्था का विकास नौकरशाही के विकास के लिए उत्तरदायी है जिसमें अधिकारी एवं, कर्मचरियों को सेवा के बदले वस्तुओं के रूप में भुगतान के स्थान पर अब मुद्रा के रूप में वेतन दिया जाने लगा ।
2. प्रजातान्त्रिक व्यवस्था के विकास एवं बड़े -बड़े औद्योगिक संगठनों की स्थापना (अर्थात् औद्योगिकीकरण) के कारण भी नौकरशाहातत्र को विकास हुआ ।
3. प्रशासनिक कार्यों की जटिलता के कारण प्रशिक्षित अधिकारियों एवं कर्मचारियों की आवश्यकता ने नौकरशाही को जन्म दिया ।
4. आधुनिक पूँजीवादी व्यवस्था का भी नौकरशाही के जन्म में बड़ा हाथ रहा है ।

12.8 नौकरशाही की आलोचनाएँ

1. यद्यपि वेबर ने नौकरशाही के तकनीकी आभा को सराहा है (प्रशंसा की है) किन्तु वे इसके दोषों के प्रति भी सचेत थे । वे नौकरशाही में अधिकारियों द्वारा विशेष कार्यो पर सख्त नियंत्रण को मानवीय स्वतंत्रता के विरूद्ध मानते हैं ।
2. फ्रांसिस अब्राहम ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि मिल्स का मानना है कि नौकरशाही संगठन में अन्ततः सत्ता से हेराफेरी (Manipulation) की अवधि में शक्ति का मूर्त से अमूर्तता की अर्थात् जानकार से अनजान (Unknown) की और प्रवाह होने लगता है और भौतिक स्तर की वृद्धि के साथ ही शौषण मनोवैज्ञानिक की तुलना में कम भौतिक रह जाता है ।
3. हेरा लेम्बोज के अनुसार वेबर का मानना है कि तार्किकीकरण की प्रक्रिया जिसका कि नौकरशाही एक प्रमुख हिस्सा है ही अतार्किक है । यह अन्ततःउद्देश्यविहीन है क्योंकि इसके द्वारा उन जीवन मूल्यों का ह्रयास होता है जो मानव जीवन को अर्थ एवं ध्येय प्रदान करते हैं । किन्तु इस सीमाओं के बावजूद वृहद उद्योगिक समाजों में संगठन के संचालन के लिए नौकरशाही अति आवश्यक है ।
4. मार्क्स के अनुसार नौकरशाही संगठन को केवल उत्पादन की शक्तियों के संदर्भ में ही समझा जा सकता है । उनका मानना है कि पूँजीवादी समाज में जहाँ उत्पादन की शक्तियाँ कुछ ही लोगों के हाथों में होती है जिसे शासक वर्ग कहा जाता है राज्य नौकरशाही द्वारा इसी वर्ग (शासक वर्ग) के हितों का संरक्षण करने की प्रवृत्ति पायी जाती है । वेबर भी मानते है कि इसको केवल एक प्रजातांत्रिक नियंत्रण वाली नौकरशाही ही नियंत्रण कर सकती है ।

   इसी संदर्भ में लेनिन ने कहा कि ''पश्चिमी संसदें (parliaments) केवल बातूनी दुकानें'' (Talking shops) है जबकि सरकार का वास्तविक कार्य तो राज्य नौकरशाही द्वारा बन्द दरवाजों (Closed doors) में किये जाते हैं ।'' माक्स का मानना है कि शासक वर्ग के नौकरशाही पर नियंत्रण को उत्पादन शक्तियों पर सामूहिक स्वामित्व के द्वारा ही हटाया जा सकता है ।
5. इटली के समाजशास्त्री रार्बट माइकल्स (Robert Michels) ने कहा है कि हालांकि प्रजातंत्र बिना संगठन के जीवित नहीं रह सकता । वृहद् एवं जटिल समाजों में प्रभावपूर्ण तरीके से अपनी आवाज को उठाकर अपने हितों की रक्षा कर सकते हैं । यहाँ खासतौर पर शक्तिहीन मजदूरवर्ग के लिए सत्य है ।
6. रार्बट मर्टन (Robert Merton) का मानना है कि नौकरशाही प्रक्रिया के कुछ तत्त्व संगठन के लिए अप्रकार्य या अपकार्य (Dysfunctional) हो सकते हैं । विशेषतौर से ये ऐसे व्यवहार को प्रेरित कर सकते हैं जो संगठन के उद्देश्यों को प्राप्त करने में बाधक हैं । मर्टन के अनुसार नौकरशाही तंत्र द्वारा लचीलेपन का अभाव, उद्देश्यविहीनता लालफीताशाही (Red -tapism), तथा अधिकारियों एवं कर्मचारियों के बीच मनमुटाव पैदा कर सकती है ।

7. इसी प्रकार से नौकरशाही संगठन की आलोचना इस बात को लेकर भी की जाती है कि अधिकारी वर्ग नियमों से इस सीमा तक बंध जाते हैं कि जो नियम किसी कार्य के निष्पादन के लिए साधन के रूप में प्रयुक्त होते हैं वे ही कुछ समय बाद स्वयं लक्ष्य या साध्य बन जाते हैं अर्थात् साधन ही साध्य बन जाते हैं ।
8. वेबर द्वारा प्रस्तुत नौकरशाही की अवधारणा का कोई सुस्पष्ट आधार नहीं ज्ञान होता । यह उनकी कोरी प्राक्कल्पना मात्र प्रतीत होती है । वेबर द्वारा प्रस्तुत आदर्श प्रारूप के रूप में नौकरशाही आधुनिक युग में सम्भव ही नहीं है ।

12.9 सारांश

संक्षेप में कहा जा सकता है कि वेबर द्वारा प्रस्तुत नौकरशाही की अवधारणा उनके द्वारा प्रस्तुत आदर्श प्रारूपों का ही एक स्वरूप है जिसका आधार विवेक है और उनके विशेषीकरण के सम्प्रत्यय का महत्त्वपूर्ण प्रयोग भी नौकरशाही व्यवस्था में देखने को मिलता है । नौकरशाही वेबर की तार्किक क्रिया (Rational Action) का सर्वोत्तम उदाहरण है जिसके अन्तर्गत साधन, साध्य, नियम एवं तथ्य होते है इसी से तीन प्रकार की सत्ता का निमार्ण होता है क्रमश: तार्किक या वैधानिक, परम्परागत तथा चमत्कारिक सत्ता । अत: हम कह सकते है कि नौकरशाही में प्रशासनिक नियम होते हैं, सत्ता का विभाजन होता है, लिखित फाइलें होती हैं, अधिकारियों कर्मचारियों के लिए प्रशिक्षण की व्यवस्था होती है कानून के अनुसार कार्य होता है और अधिकारी कर्मचारी अपने योग्यता एवं अनुभव के आधार पर निम्न पद से उच्च पद को प्राप्त करने के अवसर पा सकते हैं, जिनका एक स्थान से दूसरे स्थान, एक विभाग से दूसरे विभाग में स्थानान्तरण होता रहता हैं एवं वे अपनी पूरी क्षमता से कार्य करते है । किन्तु वेबर की नौकरशाही संगठन की विभिन्न समाजशास्त्रीयों द्वारा इस आधार पर आलोचना की गई है कि यह पूँजीवादी एवं औद्योगिक समाज की देन है जिसमें प्रशिक्षित अयोग्यता, लालफीताशाही, अत्यधिक औपचरिकता तथा कर्मचारीतंत्र द्वारा यंत्रवत कार्य करने की प्रवृत्ति का निमार्ण होता है ।

12.10 शब्दावली

1. नौकरशाही (Bureaucracy) कोई भी ऐसा संगठन जो विस्तृत आधार पर प्रशासकीय कार्यो को क्रमवद्ध रूप में चलाने के लिए बहुत से व्यक्तियों के कार्यो के द्वारा समन्वित होता है, नौकरशाही कहलाता है ।
2. तार्किकता (Rationality) : किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए व्यवस्थित तरीके से विभिन्न साधनों का आकलन कर उचित साधनों का चुनाव करना ।
3. आदर्श प्रारूप (Ideal Type) : अपेक्षित व्यवहार अथवा क्रिया जिसके द्वारा सामाजिक यर्थाथ् अथवा वास्तविकता को समझा जा सकता है ।
4. सत्ता (Authority) : वह जिसके पीछे कानून, पद अथवा कोई वैधानिक आधार हो, सत्ता कहलाती है इन वैधानिक अधिकारों या शक्ति के द्वारा वह अन्य व्यक्तियों अथवा संगठन को नियंत्रित करता है ।

12.11 बोध प्रश्न

1. वेबर द्वारा प्रस्तुत "नौकरशाही" अवधारणा की व्याख्या कीजिए ।
2. नौकरशाही की अवधारणा को परिभाषित कीजिए एवं इसकी विशेषताएं बताइए ।
3. नौकरशाही अवधारणा को परिभाषित करते हुए इसकी आलोचनात्मक विवेचना कीजिए ।
4. सत्ता किसे कहते हैं? वेबर द्वारा प्रस्तुत सत्ता के प्रकार बताइए ।

12.12 संदर्भ ग्रन्थ

1. वेबर मैक्स : दी थ्योरी ऑफ सोसियल एण्ड इकोनॉमिक ऑरगनाइजेशन (1947)
2. ब्लाउ पीटर : एक्सचेन्ज एण्ड पावर इन सोसियल लाइफ, 1964 न्यूर्याक
3. हेरालेम्बोज एवं आर. एम. हेल्ड : सोसियोलॉजी: थीम्स एण्ड परस्पेक्टिव, 1980, ऑक्सफोर्ड, देहली ।
4. अब्राहम फ्रान्सिस : मार्डन सोसियोलॉजिकल थ्योरी : एन इन्ट्रोडक्सन 1982, ऑक्सफोर्ड, देहली
5. मील्स सी. राइट दी पावर एलिट
6. माइकल्स रार्बट : पॉलिटिकल पार्टीज 1911
7. मर्टन रार्बट सोसियल थ्योरी एण्ड सोसियल स्ट्रक्चर, 1968, फ्री प्रेस, न्यूयार्क

इकाई - 13

मैक्स वेबर : प्रोटेस्टेण्ट आचार संहिता एवं पूँजीवाद

इकाई की रूपरेखा :

13.1 उद्देश्य
13.2 प्रस्तावना
13.3 धर्म, अर्थव्यवस्था व पूंजीवाद का अर्थ
13.4 वेबर का बौद्धिक दृष्टिकोण
13.5 प्रोटेस्टेण्ट आचार संहिता
13.6. पूंजीवाद का सार
13.7. पूंजीवाद और प्रोटेस्टेण्ट आचार संहिता में सम्बन्ध
13.8. संसार के महान धर्मो का अध्ययन
13.9. आलोचना
13.10. सारांश
13.11. शब्दावली
13.12 बोध प्रश्न
12.13. संदर्भ ग्रंथ

13.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के पश्चात आप :

- धर्म सम्बन्धी अध्ययन में वेबर के बौद्धिक दृष्टिकोण को समझ सकेंगे ।
- पूंजीवाद के सार को जान सकेंगे ।
- प्रोटेस्टेण्ट आचार संहिता को जान सकेंगे ।
- वेबर के अध्ययन के आधार पर यह समझ सकेंगे कि पूंजीवाद केवल पश्चिमी देशों में ही क्यों पनपा अन्य देशों में क्यों नहीं ।

13.2 प्रस्तावना

समाजशास्त्र में मेक्सवेबर के योगदानों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान आपके द्वारा किये गये धर्म सम्बन्धी अध्ययन को माना जाता है । अपनी पुस्तक 'प्रोटेस्टेण्ट इथिक्स एंड द स्पिरिट ऑफ केपिटेलिज्म में मेक्सवेबर ने अपने धर्म सम्बन्धी विचार प्रस्तुत किये । आपने विश्व के महान धर्मो का व्यापक अध्ययन किया और इस अध्ययन के आधार पर धर्म की समाजशास्त्रीय व्याख्या करने का प्रयत्न किया । और धर्म तथा आर्थिक व सामाजिक घटनाओं के बीच सम्बन्ध दर्शाने का प्रयंत्न किया । वेबर अन्य समाजवादियों की भांति धर्म के आध्यात्मिक पक्ष पर अधिक जोर नहीं देते बल्कि वह इस तथ्य की विवेचना करते हैं कि धर्म और आर्थिक घटनाओं में गहरा सम्बन्ध है । उनका मत है कि धर्म आर्थिक घटनाओं से और आर्थिक घटनाएं धर्म से नियंत्रित होती हैं । वेबर ने अपने अध्ययन के आधार पर यह दर्शाने

का प्रयास किया कि आधुनिक पूंजीवाद केवल पश्चिमी देशों में ही सबसे पहले क्यों आया अन्य देशों में क्यों नहीं? इसके लिए उन्होंने विभिन्न धर्मो में पाये जाने वाले धार्मिक आचारों का तुलनात्मक अध्ययन किया और उनका आर्थिक और सामाजिक संगठनों से सम्बन्धों का विश्लेषण किया ।

13.3 धर्म अर्थव्यवस्था व पूँजीवाद का अर्थ

धर्म का अर्थ है - 'अलौकिक के बारे में विचार और मान्यतायें तथा मानव जीवन पर उसका प्रभाय । अपने जीवनकाल में मनुष्य को सदैव संघर्षो का संकटों का सामना करना पड़ता है - धर्म इन सभी त्रासदीपूर्ण घटनाओं का समाधान करता है । उदाहरणस्वरूप, दुःख को ईश्वर द्वारा मनुष्य के विश्वास की परीक्षा लेने का माध्यम समझा जाता है, अथवा संकट को पूर्व जन्म में किये गये पाप कर्मो की सजा माना जाता है । इस प्रकार धर्म व्यवहार की रूपरेखा प्रदान करता है, जिसका अनुकरण करना मनुष्य का कर्त्तव्य है ।

अर्थव्यवस्था उस सामाजिक व्यवस्था को कहते है जो उत्पादन, उपभोग, वस्तु तथा सेवाओं के वितरण की प्रक्रियाओं को नियंत्रित करती है । यदि एक सरसरी नजर डाली जाये तो धर्म और अर्थव्यवस्था दो ध्रुव प्रतीत होंगे । धर्म का सम्बन्ध संसार से परे की शक्ति से है, जबकि अर्थव्यवस्था का सम्बन्ध कार्य करने, उत्पादन और उपभोग करने के व्यवसाय से है । परन्तु दोनों में धनिष्ठ सम्बन्ध भी है ।

मेक्सवेबर का विश्वास था कि मानव समाज के विचार, मान्यताऐं, मूल्य और विश्वदृष्टि मनुष्य के आर्थिक क्षेत्र के कार्यो का मार्गदर्शन करती है । वेबर ने धार्मिक मान्यताओं और आर्थिक व्यवहार की कड़ी पर अपने अध्ययन को केन्द्रित किया । वेबर के अनुसार प्रोटेस्टेण्ट धर्म और पूँजीवाद के मध्य सहज सम्बन्ध है । इन सहज सम्बन्धों के कारण ही पाश्चात्य देशों में पूंजीवाद का विकास हो सका है ।

वेबर की पूंजीवाद की परिभाषा और व्याख्या मार्क्स से भिन्न नहीं थी । इसी संदर्भ में वेबर ने कहा कि पूंजीवाद की व्याख्या में उद्यम बुनियादी इकाई है । संगठित पूंजीवादी उद्यम में मुनाफा लेना मुख्य उद्देश्य होता है । बाजार में जो आदान प्रदान होता है, उसमें धन की उपलब्धि और मुनाफा लेना केन्द्रीय लक्ष्य होता है । अत: वेबर का तर्क है कि जब किसी पूंजीवादी संगठन की स्थापना होती है तो उसका उद्देश्य अधिकतम मुनाफा लेना होता है पारसंस ने वेबर द्वारा परिभाषित पूंजीवाद पर अपनी टिप्पणी में लिखा है: पूंजीवाद एक ऐसी व्यवस्था है जिसका उद्देश्य मुनाफा प्राप्त करना होता है । यह मुनाफाखोरी बाजार के सम्बन्धों से बंधी होती है । वास्तव में वेबर पूंजीवाद को उद्यम की ऐसी व्यवस्था मानते है जो पश्चिमी समाज में नई नहीं है । इसके कई स्वरूप विभिन्न युगान्तरों और स्थानों पर देखने को मिलते है जब कभी अवसर मिला है लोगों ने बराबर मुनाफाखोरो की है । पारसंस की शैली में ही रेमण्ड एरां ने भी वेबर द्वारा दी गई पूंजीवाद की परिभाषा पर अपनी टीका की है: -

बेवर ने पूंजीवाद के सत्व को जिस तरह ग्रहण किया है उसके अनुसार इस व्यवस्था का उद्देश्य अधिकतम मुनाफा लेना है । इस मुनाफे का स्त्रोत काम और उत्पादन का तार्किक संगठन है । जिसे पारसंस बाजार के सम्बन्ध कहते हैं, उसे एरां उत्पादन का तार्किक संगठन

कहते हैं । पश्चिमी पूंजीवाद में धन का संचय मुनाफाखोरी और अर्जन - शीलता द्वारा होता था । अत: वेबर के अनुसार पूंजीवादी व्यवस्था मुनाफाखोरी की व्यवस्था थी । यह मुनाफाखोरी बाजार या उत्पादन तथा कार्य के माध्यम से होती थी ।

13.4 वेबर का बौद्धिक दृष्टिकोण

मेक्सवेबर ने अपनी पुस्तक 'द प्रोटेस्टेण्ट इथिक एंड द स्पिरिट ऑफ कैपिटलिज्म' में इस प्रश्न को प्रस्तुत किया है कि इस पश्चिमी विचार का मूल क्या है? मनुष्य का कर्त्तव्य ईश्वर द्वारा प्रदत्त अपनी आजीविका कमाने में है । इस विशिष्ट समस्या से वेबर एक बड़ी समस्या की खोज की ओर बढ़े । यह बड़ी समस्या विभिन्न समाजों और सभ्यताओं में धर्म और समाज का सम्बन्ध था । वेबर ने संसार के छ: प्रमुख धर्मो में पाये जाने वाले धार्मिक आधारों का तुलनात्मक अध्ययन किया और यह स्पष्ट किया कि किस प्रकार से कुछ धार्मिक सिद्धान्तों के प्रभाव से आर्थिक जीवन की तर्कपरकता में वृद्धि होती है और किस प्रकार से कुछ धार्मिक सिद्धान्तों के द्वारा घटती है । वेबर ने तीन प्रमुख समस्याओं को लेकर धर्म की समाजशास्त्रीय विवेचना का अध्ययन प्रारम्भ किया -

(1) एक औसत अनुयायी की धर्म निरपेक्ष नीति और आर्थिक व्यवहार पर प्रमुख धार्मिक विचारों का प्रभाव ।

(2) समूह की रचना पर धार्मिक विचारों का प्रभाव ।

(3) विभिन्न सभ्यताओं में धार्मिक नीतियों के कारणों और प्रभावों की तुलना के द्वारा पश्चिमी सभ्यता के तत्वों को ज्ञात करना । इन समस्याओं के हल के लिए वेबर ने पश्चिमी पूंजीवाद के विकास का अध्ययन किया । उन्होंने यह जानने का प्रयास किया कि पूंजीपति लोगों के धार्मिक रूझान का प्रारूप क्या है?

वेबर ने अपने अध्ययन में यह पाया कि सभी समाजों में बड़े व्यापारियों के मस्तिष्क में यह एक नैतिक कल्पना होती है कि देवता व्यक्ति से अच्छे कार्य की अपेक्षा करते हैं तथा उसे समुचित पुरस्कार भी देते हैं और बुरे कार्यो के लिए दण्ड भी देते हैं । वेबर का मत है कि मनुष्य धार्मिक विश्वासों के अनुसार इसीलिए कार्य करता है जिससे उसकी उन्नति हो तथा वह दीर्घायु हो । वेबर ने धार्मिक कारकों को परिवर्तनीय तत्व माना है और उसका आर्थिक तथा सामाजिक घटनाओं पर जो कार्य -कारण प्रभाव पड़ता है उसका विश्लेषण तथा निरूपण करने का प्रयत्न किया है । वेबर का मत है कि केवल कुछ अर्थो में समान तथा अन्य अर्थो में भिन्न उदाहरणों का अध्ययन करके ही किसी कारक के कार्य कारण प्रभाव का निर्णय किया जा सकता है । इसी कारण उन्होंने किसी एक धर्म का नहीं बल्कि विश्व के छ: महान धर्मो का अध्ययन किया ।

मेक्सबेवर ने अपनी गहन पद्धतिशास्त्रीय अर्न्तदृष्टि के द्वारा प्रोटेस्टेण्ट धर्म के उन महत्वपूर्ण आधारों को खोज निकाला जिनके प्रभाव से आधुनिक पूंजीवाद की आत्मा का विकास हुआ । उन्होंने धर्म को कारण माना तथा सिद्ध किया कि धर्म किस प्रकार से सामाजिक और आर्थिक जीवन को प्रभावित करता है । वेबर ने अपने अध्ययन के आधार पर धर्म के समाजशास्त्र से सम्बन्धित निम्नलिखित निष्कर्ष प्रस्तुत किये है : -

1. धार्मिक और आर्थिक घटनाएं परस्पर एक -दूसरे से सम्बन्धित और एक दूसरे पर निर्भर हैं । इनमें से किसी को भी दूसरे का निर्णायक मान लेना उचित न होगा । ये दोनों एक दूसरे को प्रभावित करती रहती हैं ।
2. घटनाओं के विश्लेषण में एकतरफा दृष्टिकोण नहीं अपनाना चाहिए, केवल आर्थिक या धार्मिक आधार पर ही किसी घटना की विवेचना नहीं करनी चाहिए वरन् अन्य कारकों के प्रभाव को भी ध्यान में रखना चाहिए ।
3. वेबर का मत है कि अध्ययन पद्धति के आधार के रूप में इनमें से किसी एक कारक को परिवर्तनीय तत्व माना जा सकता है । वेबर कारकों को इस प्रकार एक परिवर्तनीय तत्व मानकर उसका आर्थिक व तथा अन्य सामाजिक घटनाओं पर प्रभाव ज्ञात करने का प्रयत्न करते है ।
4. वेबर ने अपने अध्ययन में सभी धर्मो से सम्बन्धित सभी तत्वों का उल्लेख न कर उनके केवल आदर्श प्रारूपों का ही उल्लेख किया है । इसी प्रकार से आर्थिक कारकों में भी आपने आदर्श प्रारूपों को तुलनात्मक अध्ययन के लिए चुना है ।

धार्मिक कारक को एक परिवर्तनीय तत्व मानकर वेबर धर्म के आर्थिक आचारों को अपने अध्ययन का आधार मान लेते हैं और इस आधार पर धर्म के आर्थिक जीवन पर पड़ने वाले प्रभावों को खोजने का प्रयत्न करते है । इस खोज के अन्तर्गत वेबर ने धर्म से सम्बन्धित विभिन्न आध्यात्मिक विचारों को नहीं, वरन आचरण के उन समस्त व्यवहारिक तरीकों को सम्मिलित करते हैं जो कि एक धर्म अपने सदस्यों के लिए निश्चित करता है । आपके अनुसार, धार्मिक आचारों और धार्मिक विश्वासों में एक सम्बन्ध है साथ ही आचरण के प्रभावपूर्ण स्वरूपों के निर्माण में धार्मिक कारक के अतिरिक्त अन्य कारकों का योग होता है, फिर भी उनमें धर्म एक महत्वपूर्ण कारक है ।

मेक्सवेबर ने अपनी पुस्तक 'द प्रोटेस्टेण्ट इथिक एण्ड द स्पिरिट ऑफ कैपिटलिज्म' में धर्म सम्बन्धी विचारों की विवेचना में पूंजीवाद एवं प्रोटेस्टेण्ट नीति को विशेष महत्व दिया है । अत: यहां इन दोनों तत्वों को विस्तार से समझना होगा । प्रोटेस्टेण्टवाद वह धार्मिक विचारधारा है जो पोप के सर्वस्व अधिकार को स्वीकार नहीं करता है । प्रोटेस्टेण्ट धर्म, जिसमें विवेक का तत्व विशेष रूप से पाया जाता है, ने पाश्चात्य देशों में मानव समाज के आर्थिक व्यवहारों को अवश्य प्रभावित किया है । मेक्स वेबर के अनुसार इसी कारण यूरोप के विभिन्न देशों में पूंजीवाद का विशेष रूप से विकास हुआ है ।

यहां हम वेबर के प्रोटेस्टेण्ट आचार संहिता व पूंजीवाद के सार को विस्तार से समझेंगे।

13.5 प्रोटेस्टेण्ट आचार संहिता

प्रोटेस्टेण्ट धर्म विरोध के धर्म को कहते हैं । इसका उद्भव यूरोप में सोलहवीं शताब्दी में सुधार आंदोलन के काल में हुआ । इसका विकास मार्टिन लूथर और जॉन कैल्विन जैसे लोगों ने किया । वेबर ने इसाई धर्म में प्रोटेस्टेण्ट व कैथोलिक्स समुदाय के कारणों की चर्चा की है व मार्टिन लूथर एवं कैल्विन के चिन्तन को प्रोटेस्टेण्ट धर्म की आचार संहिता का भाग माना है । वेबर से पूर्व पेटी, माण्टेस्यू बकल कीट्स आदि ने प्रोटेस्टेण्ट धर्म तथा व्यापारिक प्रवृत्ति के

विकास के सहसम्बन्धों पर अपने विचार व्यक्त किये थे । वेबर ने अपने शिष्य बाडेन से राज्य में धार्मिक सम्बन्धों और शिक्षा के चयन का सर्वेक्षण करवाया । बोर्डन के अध्ययन का निष्कर्ष यह था कि कैथोलिक विद्यार्थियों की तुलना में प्रोटेस्टेण्ट विद्यार्थी उन शिक्षण संस्थाओं में अधिक प्रवेश लेते थे, जो औद्योगिक जीवन से सम्बद्ध थी । इसका एक अन्य कारण यह भी था कि यूरोप में कुछ अल्पसंख्यक समूहों ने कठोर आर्थिक परिश्रम द्वारा अपनी सामाजिक और राजनीतिक हानियों को पूर्ण कर लिया था जबकि कैथोलिक धर्मावलम्बी ऐसा नहीं कर सके । इन कारणों के आधार पर वेबर ने यह निष्कर्ष निकाला कि धार्मिक नीति और आर्थिक क्रियाओं में परस्पर सहसम्बन्ध पाया जाता है । वेबर ने सर्वेक्षण में यह भी पाया कि जिन नगरों और प्रदेशों ने प्रोटेस्टेण्ट धर्म अपनाया वहां आर्थिक लाभ को प्रोत्साहित किया जा रहा था ।

वेबर यह स्पष्ट करना चाहते थे कि प्रोटेस्टेट धर्म की नीतियां किस प्रकार लोगों के लिए प्रेरणा स्त्रोत बन गई जो आर्थिक लाभों को तार्किक दृष्टि से प्राप्त करने के पक्ष में थे । इस प्रकार बेबर के अनुसार किसी धर्म से सम्बन्धित सिद्धान्तों पर इस दृष्टि से विचार करना चाहिए कि यह सिद्धान्त अपने अनुयायियों को किस प्रकार के आचरणों के लिए प्रोत्साहित करता है । इस प्रश्न को ध्यान में रखते हुए वेबर ने प्रोटेस्टेण्ट धर्म के पादरियों के लेखों की परीक्षा की तथा उनके द्वारा बनाये गये कैल्विन वादी सिद्धान्तों का समुदाय के दैनिक आचरणों पर प्रभाव स्पष्ट किया ।

प्रोटेस्टेंट धर्म की नीति के रूप में **सेन्टपॉल** के इस आदेश को व्यापक रूप से ग्रहण किया जाने लगा कि जो व्यक्ति काम नहीं करेगा वह रोटी नहीं खाएगा ..... तथा निर्धन की तरह धनवान भी ईश्वर के गौरव को बढ़ाने के लिए किसी न किसी व्यवसाय में अवश्य जुटे । इस प्रकार परिश्रमी तथा सक्रिय जीवन ही प्राटेस्टेण्ट धर्म की शुद्धाचारवादी धार्मिक निष्ठा के अनुरूप है । **रिचार्ड बेक्सटर** ने कहा था कि "केवल कर्म के लिए ही ईश्वर हमारी और हमारी क्रियाओं की रक्षा करता है । परिश्रम ही शक्ति का नैतिक तथा प्राकृतिक उद्देश्य है ..... केवल परिश्रम से ही ईश्वर की सबसे अधिक सेवा तथा सम्मान हो सकता है ।" एक अन्य सन्त, **जॉन बनियन** के कथन के अनुसार "यह नहीं कहा जाएगा कि तुम क्या विश्वास करते थे, केवल यह कहा जाएगा कि क्या तुम कुछ परिश्रम भी करते थे या केवल बातूनी ही थे । इस प्रकार प्रोटेस्टेण्ट धर्म में सक्रिय जीवन, परिश्रम, समय का सदुपयोग, व्यर्थ की बातचीत करना, अधिक न सोना तथा ईश्वर के ध्यान के स्थान पर कार्य करना आदि को व्यक्ति के जीवन की नियमावली के अन्तर्गत रखा गया है जिन्हें प्रोटेस्टेण्ट नीति कह सकते हैं ।

बेंजामिन फ्रेंकलिन ने आधुनिक पूंजीवाद की उन शिक्षाओं एवं उपदेशों का उल्लेख किया है जो सफल व्यवसायी एवं पूंजीपति बनने के लिए आवश्यक हैं । वे है - ''समय ही धन है'', "धन से धन कमाया जाता है" ''एक पैसा बचाना एक पैसा कमाना है;', "ईमानदारी सबसे अच्छी नीति है'', "जल्दी सोना और जल्दी उठना व्यक्ति को स्वस्थ, धनी और बुद्धिमान बनाता है'', कार्य की पूजा है'' आदि । वेबर ने प्रोटेस्टेण्ट धर्म के आचारों की तुलना दुनिया के दूसरे धर्मो से की और वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि केवल प्रोटेस्टेण्ट धर्म ही ऐसा है, जिसके आर्थिक परिणाम अधिक स्पष्ट एवं दूरगामी हैं । यह धर्म लोगों को ईमानदार एवं उत्साही होने, परिश्रम करने मितव्ययता बरतने एवं पैसा बचाने पर बल देता है जो कि पूंजीवाद के विकास के लिए

आवश्यक है । यदि उपर्युक्त सिद्धान्त एवं उपदेश न होते तो आधुनिक पूंजीवाद भी सम्भव नहीं होता । पूंजीवाद के विकास में प्रोटेस्टेण्ट धर्म के आचारों का प्रभाव निम्नवत है -

1. **कार्य ही पूजा है** - प्रोटेस्टेण्ट धर्म में कार्य करना श्रेष्ठ गुण माना गया है । इसके विपरीत कैथौलिक धर्म में परिश्रम करके कमाना पाप एवं दण्ड है । इस सम्बन्ध में कैथोलिक धर्म में आदम और ईव की गाथा प्रचलित है । आदम तथा ईद ने स्वर्ग में अच्छे और बुरे शान के वृक्ष के फलों को खा लिया । इस अपराध के दंड स्वरूप ईश्वर ने उन दोनों को स्वर्ग से बहिष्कृत कर पृथ्वी पर भेज दिया और श्राप दिया कि अब से ईव और उसकी कन्याएं कष्ट से बच्चे को जन्म देंगी तथा आदम और उसके पुत्र परिश्रम कर पसीना बहाकर, रोजी रोटी कमायेंगे । अत: स्पष्ट है कि कैथोलिक आचार में श्रम एक गुण नहीं, अपितु एक दंड है । इसके विपरीत प्रोटेस्टेण्ट आचार में कार्य ऐसी क्रिया या आचरण है जिसे करना उचित है, और स्वयं कार्य के लिए ही कार्य करना चाहिए । इस प्रकार प्रोटेस्टेंट धर्म परिश्रम पर बल देता है घिसने पूंजीवाद के विकास में योग दिया ।
2. **केलविनवाद या व्यावसायिक आचार** - प्रोटेस्टेण्ट धर्म यह मानता है कि व्यक्ति के जीवन में प्राप्त व्यावसायिक सफलता और असफलता के आधार पर ही यह कहा जा सकता है कि मरने के बाद उसकी आत्मा स्वर्ग में जायेगी या नरक में अत: प्रत्येक व्यक्ति को यह नैतिक शिक्षा दी जाती है कि वह कठोर परिश्रम कर व्यावसायिक सफलता प्राप्त करे । इससे ही ईश्वर प्रसन्न होता है । केवल गिरजाघर जाने या तीर्थयात्रा करने से ही मुक्ति नहीं मिलती, मुक्ति तो अपने कर्मो या व्यवसायों को उचित ढंग से करने से ही मिल सकती है । एक व्यक्ति अपने धार्मिक कर्त्तव्यों का पालन मूल करने के पक्ष में थे । इस प्रकार वेबर के अनुसार किसी धर्म से सम्बन्धित सिद्धान्तों पर इस दृष्टि से विचार करना चाहिए कि यह सिद्धान्त अपने अनुयायियों को किस प्रकार के आचरणों के लिए प्रोत्साहित करता है । इस प्रश्न को ध्यान में रखते हुए वेबर ने प्रोटेस्टेण्ट धर्म के पादरियों के लेखों की परीक्षा की तथा उनके द्वारा बनाये गये कैल्विन वादी सिद्धान्तों का समुदाय के दैनिक आचरणों पर प्रभाव स्पष्ट किया ।
   प्रोटेस्टेंट धर्म की नीति के रूप में सेन्टपॉल के इस आदेश को व्यापक रूप से ग्रहण किया जाने लगा कि जो व्यक्ति काम नहीं करेगा वह रोटी नहीं खाएगा। ..... तथा निर्धन की तरह धनवान भी ईश्वर के गौरव को बढ़ाने के लिए किसी न किसी व्यवसाय में अवश्य जुटे । इस प्रकार परिश्रमी तथा सक्रिय जीवन ही प्रोटेस्टेण्ट धर्म की शुद्धाचारवादी धार्मिक निष्ठा के अनुरूप है । रिचार्ड बेक्सटर ने कहा था कि केवल धर्म के लिए ही ईश्वर हमारी और हमारी क्रियाओं की रक्षा करता है । परिश्रम ही शक्ति का नैतिक तथा प्राकृतिक उद्देश्य है.... केवल परिश्रम से ही ईश्वर की सबसे अधिक सेवा तथा सम्मान हो सकता है । एक अन्य सन्त, जॉन बनियन के कथन के अनुसार यह नहीं कहा जाएगा कि तुम क्या विश्वास करते थे, केवल यह कहा जाएगा कि क्या तुम कुछ परिश्रम भी करते थे या केवल बातूनी ही थे । इस प्रकार प्रोटेस्टेण्ट धर्म में सक्रिय जीवन, परिश्रम, समय का सदुपयोग, व्यर्थ की बातचीत करना, अधिक न सोना तथा

ईश्वर के ध्यान के स्थान पर कार्य करना आदि को व्यक्ति के जीवन की नियमावली के अन्तर्गत रखा गया है जिन्हें प्रोटेस्टेण्ट नीति कह सकते हैं ।

बेंजामिन फ्रेंकलिन ने आधुनिक पूँजीवाद की उन शिक्षाओं एवं उपदेशों का उल्लेख किया है जो सफल व्यवसायी एवं पूँजीपति बनने के लिए आवश्यक हैं । वे हैं -समय ही धन है, धन से धन कमाया जाता है, एक पैसा बचाना एक पैसा कमाना है, ईमानदारी सबसे अच्छी नीति है, जल्दी सोना और जल्दी उठना व्यक्ति को स्वस्थ, धनी और बुद्धिमानी बनाता है, कार्य की पूजा है आदि । वेबर ने प्रोटेस्टेण्ट धर्म के आचारों की तुलना दुनिया के दूसरे धर्मो से की और वे इस केवल गिरजाघर में ही नहीं, बाजारों में भी कर सकता है । इस प्रोटेस्टेण्ट आचार ने पूंजीवाद के विकास में सहायता दी क्योंकि परिश्रम, उत्साह और व्यावसायिक सफलता पूंजीवाद के लिए आवश्यक है ।

3. **ब्याज द्वारा आय को मान्यता** - प्रोटेस्टेण्ट धर्म में ऋण पर सूद वसूल करने की स्वीकृति है । इसके विपरीत कैथोलिक धर्म में ब्याज लेना बुरा माना गया है। अत: धन को बिना किसी ईश्वरीय दंड या कोप के भस से धन कमाने के लिए लगाया जा सकता है । ये सभी बातें पूंजीवाद के विकास में सहायक सिद्ध हुई है।
4. **शराबखोरी पर रोके व ईमानदारी को बढ़ाना** - इस धर्म में शराबखोरी को बुरा बताया है और ईमानदारी को ऊँचा पद प्रदान किया है । इस धार्मिक आचार के परिणास्वरूप लोगों में नशाखोरी घटती गई तथा आलस्या भी कम होता चला गया । परिणाम स्वरूप कार्य कुशलता में वृद्धि हुई । जिसका पूंजीवादी अर्थव्यवस्था पर सकारात्मक प्रभाव पड़ा।
5. **अवकाश पर रोक** - प्रोटेस्टेण्ट धर्म में अकारण अधिक समय तक अपने काम से अवकाश को अनुचित माना गया है । पूंजीवाद की सफलता के लिए अधिक कार्य करना एवं कम छुट्टी लेना आवश्यक है ।

वेबर ने प्रोटेस्टेण्ट धर्म के उपर्युक्त आचारों को ही पूंजीवाद के विकास के लिए एकमात्र कारक नहीं माना है वरन् अन्य कारकों को भी महत्व दिया है । अत: वे बहुकारवादी कहे जा सकते हैं ।

13.6 पूंजीवाद का सार

वेबर ने पूंजीवाद की विशेषताओं को अपने पारिवारिक जीवन में देखा । आपने अपने चाचा कार्ल डेविड वेबर में व्यक्तिवाद तथा आर्थिक आचरणों से सम्बद्ध नैतिकता का एक विशिष्ट सम्मिश्रण पाया । उनके चाचा गाव के घरेलू उद्योग पर आधारित उद्यम के संस्थापक थे तथा वे कठोर परिश्रमी, दिखावा न करने वाले, दयालु और तार्किकता के गुणों से युक्त थे । ऐसे गुण आधुनिक पूंजीवाद के उद्यमकर्त्ताओं में मिलते हैं । इस बात से वेबर को यह विश्वास हो गया कि पूंजीवाद एक विशेष प्रकार की - नैतिकता है जिसमें अनेक विचारों का समावेश देखा जा सकता है ।

वेबर के अनुसार आधुनिक औद्यौगिक जगत के मनुष्य की एक विशेषता यह है कि उसे कठोर परिश्रम करना चाहिए । उनके अनुसार कठोर कार्य एक कर्त्तव्य है और इसका फल इसी में निहित है कि मनुष्य व्यवसाय में उचित रूप में कार्य करे इस भावना से नहीं कि उसे

यह काम करना पड़ रहा है वरन् इसलिए कि वह भी ऐसा चाहता है कि यही मनुष्य के शील और वैयक्तिक संतुष्टि का आधार है । अमेरिका में एक कहावत प्रसिद्ध है - "यदि कोई काम करने के योग्य है तो उसे सबसे अच्छे ढंग से पूरा करना चाहिए । "वेबर के अनुसार यह कहावत पूंजीवाद का सार है क्योंकि कि इस धारणा का सम्बन्ध व्यक्ति को आर्थिक जीवन में मिलने वाली सफलता है ।

पूंजीवाद के सार को स्पष्ट करने के लिए वेबर ने इसकी तुलना एक आर्थिक क्रिया से की है जिसे उन्होंने 'परम्परावाद' कहा । आर्थिक क्रियाओं में परम्परावाद वह स्थिति है जिसमें व्यक्ति अकस्मात् लाभ प्राप्त करना चाहता है तथा सिद्धान्तरहित तरीकों से धन संचय करना चाहता है । व्यक्ति काम कम और अधिक लाभ प्राप्त करना चाहता है उसमें कार्य की नवीन प्रविधियों से अनुकूलन करने की इच्छा और गुण का अभाव होता है । ये सभी विशेषताएं पूंजीवाद के सार के विपरीत हैं ।

आधुनिक पूंजीवाद में व्यापार, वाणिज्य और उद्योग बड़े पैमाने में तर्कनापरक पूर्ण वैज्ञानिकता पर आधारित विधि से व्यवस्थित, संगठित एवं संचालित होता है । उत्पादित वस्तुओं की विक्रय -व्यवस्था संगठित होती है और अधिकतम कुशलता पर जोर दिया जाता है। पूंजीवाद के अन्तर्गत व्यापारिक नियमों का कानूनी रूप, संगठित विनियम केन्द्र, सरकारी ऋण पत्रों के रूप में सार्वजनिक ऋण देने की प्रणाली तथा ऐसे उद्यमों के संगठनों का समावेश है जिसका उद्देश्य वस्तुओं का तार्किक आधार पर उत्पादन करना है । वेबर ने दक्षिणी यूरोप एशिया के विशेषाधिकार सम्पन्न समूहों, चीन के अधिकारियों, रोम के अभिजात वर्ग तथा एल्बी नदी के पूर्व के जमीदारों की आर्थिक क्रियाओं को अकस्मात् लाभ की क्रियाएं माना है क्योंकि उनमें नैतिक विचारों तथा आर्थिक लाभ के तार्किक प्रयत्नों का अभाव था इसलिए उन्हें पूंजीवाद के समकक्ष नहीं रखा जा सकता था ।

वेबर का मत है कि पूंजीवाद के सार का गुण केवल पश्चिमी समाजों का ही एकमात्र गुण नहीं है, अन्य समाजों में ऐसे लोग हैं जिन्होंने अपने व्यापार को सुचारू रूप से चलाने के लिए कठोर परिश्रम किया, जो अपनी बचत को व्यापार को बढ़ाने में लगाते थे और जिनका जीवन आडम्बर रहित था । वेबर का कहना है कि उपर्युक्त वर्णित पूंजीवादी विशेषताऐं पश्चिमी समाजों में अधिक पायी जाती है । पश्चिमी समाजों में जनसामान्य में व्याप्त कठिन परिश्रम, व्यावसायिक आचार, संगठित विनियम केन्द्र, पूंजी का निरन्तर विनियोजन जीवनयापन के सामान्य तरीके बन गये हैं । यही पूंजीवाद का सार है । इसके विपरीत कम अनुशासित उत्पादन प्रणाली अकस्मात आर्थिक लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न, परिश्रम को बोझ समझकर उससे दूर भागना तथा जीवनयापन के लिये साधारण आय से संतुष्ट हो जाना, सामान्य आर्थिक परिस्थितियां अथवा परम्परावाद है ।

13.7 पूंजीवाद और प्रोटेस्टेण्ट आचार संहिता में सम्बन्ध -

पूंजीवाद और प्रोटेस्टेण्ट नीति के सम्बन्ध वेबर ने प्रोटेस्टेंट नीति को कारण तथा पूंजीवाद को उसका परिणाम मानकर अध्ययन किया तथा निष्कर्ष में पाया कि प्रोटेस्टेण्ट नीति कारण, चालक और चर है तथा पूंजीवाद उसका प्रभाव, चरित्र और परिणाम है । आपने धर्मो के

तुलनात्मक अध्ययनों में पूंजीवाद के सार तथा प्रोटेस्टेण्ट नीतियों में अनेक समानताएं देखी । वेबर ने ऐतिहासिक प्रमाणों, तथ्यों तथा घटनाओं के आधार पर यह स्थापना की है कि यूरोप के कई देशों में पूंजीवाद की उत्पत्ति, विकास एवं निरन्तरता में प्रोटेस्टेण्ट धर्म की नीतियों की प्रमुख भूमिका रही है । प्रोटेस्टेंट धर्म की विभिन्न नैतिक शिक्षाएं धीरे -धीरे इनके सभी अनुयायियों के जीवन में ढल गई और वे परिश्रम से आजीविका कमाने को उचित मानने लगे और इस धारणा ने पूंजीवाद के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी ।

13.8 संसार के महान धर्मो का अध्ययन

वेबर ने धर्म और आर्थिक संरचना के पारस्परिक सम्बन्धों को ज्ञात करने के लिए विश्व के छः धर्मो कन्फ़्यूशियस, हिन्दू बौद्ध, यहूदी, ईसाई और इस्लाम धर्मो का अध्ययन किया । उन्होंने इन धर्मों के प्रमुख सिद्धान्तों तथा उनसे प्रभावित आर्थिक नीतियों की व्याख्या की । वेबर का उद्देश्य विश्व के महान धर्मो का अध्ययन करके यह ज्ञात करना था कि इन विभिन्न धर्मो के नियम, आचार, प्रवचन, मूल्य, लौकिक और पारलौकिक जीवन की व्याख्या कहां तक आधुनिक पूंजीवाद के विकास से सम्बन्धित है । आपने उन धर्मो को महान धर्म माना है जिनके धर्मावलम्बियों की संख्या बहुत अधिक है, जैसे - हिन्दू, बौद्ध, ईसाई और इस्लाम धर्म । यद्यपि यहूदी धर्मावलम्बी संख्या में कम है परन्तु वेबर ने इस धर्म का अध्ययन इसलिए किया क्योंकि इस धर्म में अधिकांश लोग पूंजीपति और व्यापारी है । वेबर के अध्ययन का उद्देश्य धर्मो की ईश्वरीय मीमांसा का अध्ययन करना नहीं था अपितु आपका उद्देश्य तो धर्मों की उन सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, व्यापारिक विशेषताओं का पता लगाना था जो अर्थव्यवस्था के विभिन्न पक्षों को प्रभावित, नियंत्रित और निर्देशित करती है । इसी संदर्भ में वे बर ने जिन महान धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन किये है वे प्रस्तुत हैं : -

चीन का कन्फ़्यूशियस धर्म : - वेबर ने अपने अध्ययन में यह स्पष्ट किया है कि कन्फ़्यूशियस तथा प्रोटेस्टेण्ट धर्म की नीतियों में भिन्नता के कारण ही चीन एवं पश्चिमी समाजों में प्रचलित आर्थिक मनोवृत्तियों में भिन्नता पाई जाती है । यद्यपि प्राचीन चीन की अर्थव्यवस्था काफी विकसित थी । यहां व्यापार, वाणिज्य, वित्त और निर्माण कार्य प्रगति पर थे । सभी भौतिक स्थितियों के उपस्थित होने पर भी यहां पाश्चात्य शैली के समान पूंजीवाद नहीं पनप सका । ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि कन्फ़्यूशियस नीति ने उसकी स्वीकृति नहीं दी । यह धर्म अपने अनुयायियों को संसार के वर्तमान रूप से अनुकूलन करने पर ही बल देता है न कि किन्हीं विशेष आदर्शो के अनुरूप स्वयं को परिवर्तित करने पर । कन्फ़्यूशियस धर्म में ब्रह्मांड की व्यवस्था में विश्वास किया जाता है । इसके अनुसार मनुष्य का यह लक्ष्य होना चाहिए कि वह प्रकृति और ब्रह्मांड के सामंजस्य के लिए काम करे । मनुष्य का व्यवहार परम्पराओं से नियंत्रित होना चाहिए । क्योंकि अतीत में ही पूर्ण बुद्धिमता है । परिवार और अपने सम्बन्धियों से सम्बन्ध को और उनके प्रति दायित्व को कभी नहीं भूलना चाहिए । यहां सामंजस्य पारम्परिकता और पारिवारिक दायित्वों पर बल दिया गया है, जो मुनाफे के व्यवसाय के विरूद्ध है । इस प्रकार यह धर्म लोगों को परम्परा और पारिपाटियों से बंधे रहने पर बल देता है, न कि उनसे मुक्त होने पर । इसके विपरीत पश्चिमी समाजों में पारिवारिक कर्त्तव्यों की तुलना में

नैतिक सिद्धान्तों के पालन पर अधिक बल दिया गया. । आर्थिक दृष्टि से इसका यह अर्थ है कि किसी व्यक्ति की व्यापारिक साख उसकी नैतिक विशेषताओं पर निर्भर है । कन्फ़्यूशियस धर्म की आर्थिक और राजनीतिक शिक्षाओं में जन कल्याण की बात को बढ़ा -चढ़ाकर बताया गया है, किन्तु उसमें ऐसी कोई उचित आर्थिक मनोवृत्ति नहीं है जो इन धार्मिक नीतियों के उद्देश्य को पूरा कर सके । इसके विपरीत प्रोटेस्टेण्ट धर्म में श्रम और कार्य की नीतियों ने पूंजी के संचय और तार्किक विचारों को बढ़ावा दिया तथा पूंजीवाद के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की ।

पश्चिम एशिया का यहूदी धर्म - यहूदी पश्चिम एशिया के फिलीस्तीन (इजराइल) में निवास करते है । यहूदी धर्म प्राचीन एकेश्रवादी धर्म है अर्थात् वह धर्म जो केवल एक ईश्वर में विश्वास रखता है । यहूदी धर्म में उस सक्रिय वैराग्य के दर्शन होते हैं, जिसमें ईश्वरीय निर्देशों के अनुसार नीति सम्बन्धी कार्यो पर विचार किया गया । यहूदी पैगम्बर संसार को शाश्वत न मानकर इसे उत्पन्न किया गया मानते हैं, इसका अर्थ हुआ कि संसार एक ऐतिहासिक घटना है जिसे ईश्वर द्वारा एक निर्दिष्ट व्यवस्था की स्थापना के लिए बनाया गया है । इस आधार पर यहूदियों का विश्वास है कि भविष्य में ईश्वर द्वारा निर्दिष्ट सामाजिक, राजनीतिक क्रान्ति होगी और उसी के अनुरूप व्यक्तियों की मनोवृत्तियों का निर्धारण होना चाहिए, इन विश्वासों के कारण ही यहूदियों के आचरण की एक उच्च तार्किक धार्मिक नीति विकसित हुई । यहूदी धर्म परम्परागत तंत्र तथा रहस्यमयी काल्पनाओं से स्वतंत्र है । यहूदी यह मानते है कि ईश्वर ने मानवता के विकास के लिए उनका चुनाव किया है । इसलिए इन्हें पृथ्वी पर ईश्वर की मदद करनी चाहिए । इस प्रकार वेबर का विश्वास है कि यहूदी धर्म ने नैतिक तार्किकता के निर्माण में सहायता देकर उन मनोवृत्तियों का विकास किया जो पूंजीवाद का सार है । उनके अनुसार यहूदी धर्म से पूंजीवाद उत्पन्न हो सकता था, परन्तु कुछ ऐतिहासिक बलों ने इसका विरोध किया ।

भारत का हिन्दू धर्म : - भारत के धर्म का वर्णन करते हुए वेबर ने हिन्दू धर्म की उन अवस्थाओं का उल्लेख किया जिनके कारण भारत में पूंजीवाद का विकास नही हुआ । वेबर का मत है कि हिन्दू धर्म वास्तव में एक ब्राह्मण धर्म है जिसकी स्थापना और विकास उन ब्राह्मण राजपुरोहितों, धर्मशास्त्रो तथा विधि वेत्ताओं द्वारा किया गया जो कूटनीति और चमत्कारी कर्मकाण्डों के ज्ञान में प्रवीण थे । वेबर ने यह अभिव्यक्त किया है कि हिन्दू धर्म की नीति में नकारात्मक तत्व थे, जिन्होनें 'तर्कसंगत पूंजीवाद' के विरूद्ध कार्य किग्रा । भारत की जाति व्यवस्था में आधुनिक पूंजीवाद का उद्भव हो पाना असम्भव था । चीन की भाँति भारत की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी थी, परन्तु हिन्दू धर्म के धर्म कर्म और 'पुनर्जन्म' के विचारों ने भारतवासियों को पराजयवादी और भाग्यवादी बना दिया । हिन्दुओं में यह विश्वास था कि हमारी वर्तमान स्थिति पूर्व जन्म के कर्मो के कारण है इसलिए वे अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए कभी प्रोत्साहित नहीं हुए इसके साथ ही हिन्दू लोग पूंजीवाद के विकास के लिए जितना कठोर परिश्रम चाहिए, उतना नहीं कर सकते थे । हिन्दू धर्म में 'मोक्ष के सिद्धान्त के अनुसार वासनाओं से स्वतंत्र होकर आत्मा को मुक्ति मिल सकती है । भौतिक संसार एक मायाजाल है और स्वयं को सांसारिक वस्तुओं की आसक्ति और जन्म मरण के चक्र से मुक्ति कर लेना ही वास्तविक मुक्ति। है । यहाँ भौतिक वैभव को महत्व नही दिया गया क्योंकि यह अस्थायी है ।

हिन्दू धर्म जाति के अनुसार कर्म करने की बात करता है इस प्रकार हिन्दू धर्म जातिभेद को बढ़ावा देता है । हिन्दू धर्म की इन नीतियों से आबद्ध जाति व्यवस्था ने भारत के आर्थिक विकास को संकुचित किया और जातीय बाधाओं के कम होने पर ही आर्थिक क्रियाओं में वृद्धि हुई । वेबर के अनुसार वे धर्म जो सांसारिक वैराग्य पर अधिक बल देते है और भौतिक संसार की विस्मृति पर बल देते है वे पूंजीवाद को प्रोत्साहित नही कर सकते ।

वेबर के उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि उनका अध्ययन धार्मिक नीतियों के आर्थिक क्रियाओं पर पड़ने वाले प्रभावों को ज्ञात करना था । उन्होंने धार्मिक नीतियों और आर्थिक क्रियाओं के पारस्परिक सम्बन्धों को ही स्पष्ट नही किया वरन् धार्मिक विचारों के सामाजिक संस्तरण पर पड़ने वाले प्रभावों को भी ज्ञात किया । वेबर का विश्व के धर्मो का तुलनात्मक अध्ययन धर्म के समाजशास्त्र में विशिष्ट महत्व रखता है ।

13.9 आलोचना

वेबर ने पूंजीवाद की व्याख्या करने के साथ -साथ धार्मिक आचार संहिता का भी वृहद विश्लेषण किया है । वेबर के सिद्धान्त की आलोचना भी हुई । किसी एक स्तर तक वेबर का यह अध्ययन धर्म के तुलनात्मक समाजशास्त्र को जन्म देता है यद्यपि इस तर्क से इन्कार नही किया जा सकता कि विश्व के अन्य महत्वपूर्ण धर्मो का अध्ययन किसी सीमा तक यह संकेत भी देता है कि आर्थिक विकास की प्रक्रिया में धर्म से सम्बद्ध विश्वास व्यवस्थाएँ बाधक भूमिका निभाती है ।

वेबर ने धर्म के समाजशास्त्र में अनेक स्थानों पर पूर्वाग्रहो से युक्त विचार प्रस्तुत किए है । ऐसा प्रतीत होता है कि विभिन्न धर्मो की नीतियों का अध्ययन करते समय वेबर केवल उन्हीं नीतियों को प्रकाश में लाना चाहते थे जो उनकी परिकल्पना को प्रमाणित कर सके । साथ ही वेबर ने धार्मिक नीतियों की विवेचना में तो ऐतिहासिक काल से लेकर वर्तमान सुधार आन्दोलनों तक की चर्चा की है, किन्तु भारत, चीन तथा फिलीस्तीन में अतीत की उन आर्थिक उपलब्धियों पर विचार नही किया है जो वेबर की धारणा के अनुरूप एक विकसित तार्किकता पर आधारित थी ।

पितरिम सोरोकिन ने वेबर की इस आधार पर आलोचना की है कि उन्होंने आर्थिक व धार्मिक कारकों को ही सर्वाधिक महत्व दिया है व अन्य कारकों की उपेक्षा की है । रेमण्ड एरां का विचार है कि वेबर ने केवल मूल्यों को ही आधार मानकर आर्थिक विकास को समझाने का प्रयास किया है ।

वेबर ने विश्व के अन्य धर्मो का अध्ययन चूंकि व्यापक रूप में नही किया है । अत: किसी सीमा तक यह भी कहा जा सकता है कि वेबर के तर्क प्राटेस्टेण्ट इथिक्स के अध्ययन के कारण निर्णायकवादी हो गये । उदाहरण -भारत में हिन्दू धर्म, अनेक विसंगतियों के बावजूद, व्यावसायिक पूंजीवाद के विकास को अवरूद्ध नही कर सका । कुछ समाज वैज्ञानिकों का मत है कि वेबर का प्रमुख लक्ष्य मार्क्स के निष्कर्ष का खण्डन करना था, अत: एक विशिष्ट अध्ययन को अस्वाभाविक रूप से सामान्यीकरण का स्तर देने का प्रयत्न वेबर द्वारा किया गया । अत: वेबर के धर्म के समाजशास्त्र की आलोचना इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है क्यों कि इन आलोचनाओं का मुख्य पक्ष धर्म की प्रकार्यात्मक एवं अप्रकार्यात्मक भूमिकाओं की समीक्षा करना है ।

13.10 सारांश

वेबर ने अपनी महत्वपूर्ण पुस्तक 'द प्रोटेस्टेण्ट इथिक्स एण्ड द स्पिरिट ऑफ केपिटेलिज़्म' में धर्म व आर्थिक विकास के मध्य सम्बन्ध स्थापित किये है । वेबर ने प्रोटेस्टेण्ट आचार संहित एवं आधुनिक पूंजीवाद की प्रवृति की आदर्श प्रारूप विकसित कर, उनका मध्य सम्बन्ध स्थापित किया है । वेबर ने इसाई धर्म में प्रोटेस्टेराट व कैथोलिक समुदाय के विभाजन के कारणों की चर्चा दही है व मार्टिन लूथर एवं कैल्विन के चिन्तन को प्रोटैरटेण्ट धर्म की आचार संहिता का भाग माना है । उनके मतानुसार प्रोटेस्टेण्ट धर्म में समय व धन के मध्य सम्बन्ध, पूंजी के विस्तार, ऋण व व्याज के रूप में अतिरिक्त पूंजी का विकास, व्यक्तिगत सम्पति का तर्क इत्यादि वे पक्ष है जो कि तार्किक व्यक्तिवाद, प्रतियोगी बाजार व्यवस्था, पूंजी के विकास, लाभ के तर्क इत्यादि को आधार प्रदान करते है । वेबर ने इन सभी तत्वों को आधुनिक पूंजीवाद की प्रवृति से सम्बद्ध किया व यह सामान्यीकरण प्रस्तुत किया कि प्रोटेस्टेण्ट धर्म की आचार संहिता अन्य सामाजिक -सांस्कृतिक कारकों के साथ आधुनिक पूंजीवाद की प्रवृत्ति को विकसित करती है । वेबर का यह तर्क मार्क्स के चिन्तन के विपरीत है क्योंकि मार्क्स धर्म को आर्थिक विकास की प्रक्रिया में बाधक मानते हैं । वेबर ने ईसाई धर्म के अतिरिक्त हिन्दू इस्लाम, बौद्ध, कन्फ़्यूशियस एवं यहूदी धर्मो का भी अध्ययन किया और यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि यदि धर्म में गतिशीलता नहीं है तब सहयोगी आर्थिक स्थितियों के होते हुए भी आधुनिक पूंजीवाद का विकास सम्भव नहीं हो सकता । वेबर इस अर्थ में प्रोटेस्टेण्ट आचार संहिता को जीवन के तार्किकीकरण का स्त्रोत मानते हैं जिसने पूंजीवादी प्रवृत्ति को उत्पन्न करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है । किसी एक स्तर तक वेबर का यह अध्ययन धर्म के तुलनात्मक समाजशास्त्र को भी जन्म देता है ।

13.11 बोध प्रश्न :

1. प्रोटेस्टेण्ट धर्म के आचारों का वर्णन कीजिए ।
2. प्राचीन यहूदी धर्म से सम्बन्धित वेबर के विचार बताईये ।
3. पूंजीवाद के विकास के सम्बन्ध मे वेबर के विचारों की विवेचना कीजिए ।
4. वेबर का बौद्धिक दृष्टिकोण बताईये ।

13.12 शब्दावली

पूंजीवाद – एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था, जिसमें आर्थिक जीवन का अधिकांश भाग विशेषत: उत्पादित वस्तुओं का स्वामित्व, आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा, लाभ प्राप्ति की इच्छा द्वारा सम्पन्न होता है ।

अर्थव्यवस्था – मानव प्राणी तथा सामाजिक समूहों की भौतिक आवश्यकताओं की तुष्टि के लिए सीमित साधनों, तकनीकों तथा कार्यो की संगठित व्यवस्था ।

एकेश्वरवाद – एक ईश्वर में विश्वास पर आधारित धर्म ।

परिकल्पना – घटनाओं के सम्बन्ध में निर्मित एक अनुमान अथवा प्रस्थापना।

तार्किकीकरण – वह प्रक्रिया जो आर्थिक जीवन, कानून, प्रशासन व धर्म के क्षेत्र में तार्किक

व विवेक सम्मत सोच -विचार को प्रश्रय देती है।

13.13 संदर्भ ग्रन्थ

- ऐरॉन, रेमण्ड., 1957, कॉमन सोशियोलोजी, लंदन
- बोटोमोर, टी.बी., 1978, सोशियोलोजी, बम्बई ।
- वेबर, मेक्स., 1947, थियरी ऑफ सोशल एण्ड इकनॉमिक ऑर्गेनाइजेशन, द फ्री प्रेस, ईलीवेय ।
- वेबर, मेक्स., 1930, द प्रोटेस्टेण्ट इथिक्स एण्ड द स्पिरिट ऑफ केपिटेलिज्मज़्म लंदन।
- वेबर, मेक्स., 1946, फ्रॉम मेक्सवेबर : एसेज इन सोशियोलोजी ट्रांसलेटेड बाई एच. एच. गर्थ एण्ड सी. डब्लू मिल्स, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी, न्यूयॉर्क ।

इकाई -14

कार्ल मार्क्स - द्वन्दात्मक ऐतिहासिक भौतिकवाद

इकाई की रूपरेखा :

14.1 उद्देश्य

14.2 प्रस्तावना

14.3 कार्ल मार्क्स : एक सामाजिक विचारक

14.4 कार्ल मार्क्स : द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

14.5 कार्ल मार्क्स के द्वन्द्वात्मक प्रणाली की विशेषताऐं

14.6 ऐतिहासिक भौतिकवाद : अर्थ एवं परिभाषा

14.7 ऐतिहासिक भौतिकवाद के तत्व

14.7.1 समाज का आर्थिक आधार

14.7.2 उत्पादन शक्तियां

14.7.3 उत्पादन सम्बन्ध

14.8 ऐतिहासिएक भौतिकवाद : विभिन्न युगों में

14.8.1 आदिम साम्यवादी युग

14.8.2 दासत्व युग

14.8.3 सामन्तवादी युग

14.8.4 पूँजीवादी युग

15.8.5 समाजवादी युग

14.9 सारांश

14.10 शब्दावली

14.11 बोध प्रश्न

14.12 संदर्भ ग्रन्थ

14.1 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य कार्ल मार्क्स के द्वन्दात्मक ऐतिहासिक भौतिकवाद पर व्यक्त किये गये विचारों को स्पष्ट करना है । ऐतिहासिक भौतिकवाद के तत्व, मार्क्स की इतिहास के सन्दर्भ में व्याख्या को हम इस इकाई में समझ सकेंगे -

1. द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद
2. ऐतिहासिक भौतिकवाद की व्याख्या
3. कार्ल मार्क्स का जीवन चित्रण व उनके योगदान
4. एतिहासिक भौतिकवाद के तत्व

14.2 प्रस्तावना

सभी सामाजिक विचारकों में कार्ल मार्क्स के विचार क्रान्तिकारी विचार है । मार्क्स ने हीगल के द्वन्द को आधार बना कर व उसमें परिवर्तन करके अपने विचारों को रखा । मार्क्स का विचार है कि आज तक का युग (इतिहास) संघर्ष का युग रहा है । प्रत्येक युग में संघर्ष का अस्तित्व रहा है व इसी संघर्ष के परिणामस्वरूप समाज में परिवर्तन होता रहा है । हीगल द्वन्द ने के सन्दर्भ में विचारों को आधार बनाया था व विचारों के आधार पर परिवर्तन की व्याख्या की थी, मार्क्स ने हीगल के विचारों के द्वन्द को उलट कर देखा व हीगल के विचारों के स्थान पर पदार्थ को प्राथमिकता दी । मार्क्स ने पदार्थ को महत्वपूर्ण माना व उसे गतिशील व शक्तिशाली भी माना । उस पदार्थ में भी हमेशा संघर्ष होता रहता है जिसके परिणामस्वरूप समाज में पदार्थ का स्वरूप परिवर्तित होता रहता है । इसी के कारण समाज में परिवर्तन होता है । यह परिर्वतन का चक्र अनवरत चलता रहता है ।

14.3 कार्ल मार्क्स : एक सामाजिक विचारक

कार्ल मार्क्स का जन्म 5 मई, 1818 में जर्मनी में एक यहूदी परिवार में हुआ था । उनके पिता वकील थे । मार्क्स बचपन से ही प्रतिभाशाली व कुशाग्र बुद्धि के व्यक्ति थे । उनकी शिक्षा बॉन व बर्लिन विश्वविद्यालय में हुई । जर्मनी में स्थित बर्लिन विश्वविद्यालय उस समय हीगल के विचारों का प्रभुत्व था जिसका प्रभाव मार्क्स के विचारों व कृतियों पर भी पड़ा । मार्क्स ने हीगल की कृतियों का अध्ययन किया । उन पर हीगल की द्वन्द्वात्मक चिन्तन प्रणाली का गहरा प्रभाव पड़ा । मार्क्स ने हीगल की द्वन्द्वात्मक चिन्तन प्रणाली को ग्रहण किया लेकिन हीगल के वैचारिकी द्वन्द्वाद के स्थान पर भौतिकवादी द्वन्द्वाद को स्थापित किया । मार्क्स ने सन् 1841 ई. में जनेवा विश्वविद्यालय से डाक्ट्रेट की उपाधि प्राप्त की । विश्वविद्यालय से डिग्री प्राप्त करने के पश्चात् भी मार्क्स को कोई अच्छी नौकरी नहीं मिल पाई । मार्क्स पत्रकारिता करने लगे । सन् व 842 ई. में मार्क्स कोलेन से प्रकाशित होने वाले समाचार पत्र "रीनिश जीटिंग" के सम्पादक बन गये । मार्क्स के सम्पादन काल में पत्र का रूझान क्रान्तिकारी व जनवादी होता गया । अत: सरकार ने सन् 1843 में उक्त समाचार पत्र पर प्रतिबन्ध लगा दिया । मार्क्स को राजनीतिक सक्रियता के कारण उन्हें जर्मनी छोड़ना पड़ा तथा सन् 1643 में वे पेरिस में आ गये । इसी अवधि में अर्थात सन् 1843 में मार्क्स की बचपन की दोस्त व प्रेमिका जेरीकोन वेस्टफेलेन से विवाह हो गया । कार्ल मार्क्स की पत्नी बनने के लिए जेनी ने अपने ऐशो आराम सभी त्याग दिये व विपत्ति के समय मार्क्स का साथ दिया ।

पेरिस में मार्क्स यूरोप के उग्रवादी आन्दोलन के कई बुद्धिजीवियों के सम्पर्क में आये इसी के प्रभाव से मार्क्स समाजवादी विचारों के प्रबल समर्थक बन गये । सन् 1844 में पेरिस में मार्क्स एंजिल्स के सम्पर्क में आये । यह सम्पर्क शीघ्र ही घनिष्ट मित्रता में परिवर्तित हो गई । एंजिल्स जर्मनी के उद्योगपति के पुत्र थे मार्क्स व एंजिल्स के विचार एक दूसरे से पूर्णत: मेल खाते थे । दोनों मित्रों में रचनात्मक सहयोग आरम्भ हो गया जिससे उनकी मित्रता और भी प्रगाढ़ हो गई । दोनों ने शोध कार्यो व लेखों में एक दूसरे की सहायता की, राजनीतिक

कार्यों में सहयोग दिया । मार्क्स की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी ऐसे समय में यदि एंजिल्स ने मार्क्स का सहयोग नहीं किया होता तो मार्क्स आजीविका की समस्या से ही लड़ते रहते और विश्व को मार्क्स का समाजवादी साहित्य नहीं मिल पाता । अत: यह कथन सत्य ही है कि ' यदि मार्क्स समाजवाद के सिद्धान्त को बनाने वाले थे तो एंजिल्स उसका प्रचारक व आयोजक थे । ' दोनों की मित्रता वास्तव में पौराणिक मित्रता के आदर्श का मूर्त रूप थी ।

कार्ल मार्क्स पेरिस में भी अधिक समय तक नहीं रह पाये । सन् 1844 में साइलेसिया के बुनकरों के विद्रोह का मार्क्स ने उत्साह के साथ समर्थन दिया अत: सन् 1845 में पेरिस से उन्हें निष्कासित कर दिया गया । इसके पश्चात वे ब्रुसेल्स आ गये । यहां वे साम्यवादी दल के सदस्य बनकर पुन: जर्मनी लौट आये । लेकिन क्रान्तिकारी कार्यविधि के कारण उन्हें पुन: जर्मनी से निष्कासित कर दिया गया । इसके बाद वे लंदन चले आये जहां जीवन के अन्त समय तक रहे ।

मार्क्स अपनी पत्नी जेनी की मृत्यु (1881) के पश्चात बीमार रहने लगे । इसी बीच उनकी सबसे बड़ी पुत्री की मृत्यु से उन्हें और आघात पहुंचा । जिससे उनका स्वास्थ्य निरन्तर गिरता चला गया व 14 मार्च, 1883 को मार्क्स ने अपनी अन्तिम सांस ली । 17 मार्च, 1883 को मार्क्स के शव को लन्दन के हाइगेट कब्रिस्तान में दफनाया गया । एंजिल्स ने उनकी समाधि के बगल में ही हृदय विदारक भाषण दिया । एंजिल्स ने मार्क्स के मृत्यु संदेशों में लिखा भी था कि '' हमारी पार्टी के सबसे महान मस्तिष्क, ने सोचना बन्द कर दिया है, आज एक ऐसे दृठतम हृदय ने धड़कना बन्द कर दिया है जैसा मैंने पहले कभी देख सुना नहीं था । ''

कार्ल मार्क्स समाजवाद के प्रबल समर्थक व पूंजीवाद के विरोधी थे । वे सर्वोपरी क्रान्तिकारी थे । उन्होंने पूंजीवाद, उत्पादन विधि, उत्पादन शक्तियां, उत्पादन संबंध, अधिसंरचना, अद्योसंरचना, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, ऐतिहासिक भौतिकवाद, वर्ग, वर्ग चेतना, वर्ग संघर्ष आदि अवधारणाओं का प्रतिपादन किया । वे सर्वहारा वर्ग के पक्षधर थे । कार्ल मार्क्स की प्रमुख कृतियां निम्न प्रकार है : -

1. Holy Family, with Engels (1845)
2. The German Ideology, with Engels (1845)
3. The Poverty of Phiosophy,(1847)
4. Communist Manifesto, with Engles (1848)
5. The Class Struggle in France (1850)
6. Das Capital (1867)

कार्ल मार्क्स का ग्रन्थ 'दास केपिटल' तीन खण्डों में प्रकाशित हुआ था । यह मार्क्स का विश्व विख्यात ग्रन्थ है इस ग्रन्थ में सर्वहारा वर्ग के ऐतिहासिक कर्तव्य के सिद्धान्त, समाजवादी क्रान्ति और सर्वहारा के अधिनायकत्व को गहन दार्शनिक व अर्थशास्त्रीय ढंग से बताया गया है । इसी कारण Das Capital को समाजवादियों का बाइबिल माना गया है ।

14.4 कार्ल मार्क्स द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

कार्ल मार्क्स का दर्शन हीगल के दर्शन का एक विपरीत रूप है । मार्क्स ने हीगल के द्वन्द्वात्मक आत्मवाद को अस्वीकार किया व अपने दर्शन को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर आधारित किया । मार्क्स ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'दास केपिटल' की भूमिका में स्वंय लिखा है कि ''मेरी द्वन्द्वात्मक प्रणाली हीगल की प्रणाली से केवल भिन्न ही नहीं बल्कि उसके विपरीत है 'मैंने हीगल के द्वन्द्ववाद को सिर के बल (मस्तिष्क, आत्म) खड़ा पाया, उसे मैंने पैरों के बल (भौतिकता) खड़ा कर दिया । यदि आप रहस्यमयी खोल में से तार्किक सार तत्व को ठूंठ निकालना चाहते हैं, तो आपको उसे बिल्कुल ही उलट देना होगा । मार्क्स ने हीगल के इतिहास दर्शन के आधारभूत तत्व 'विचारों की प्रधानता' को अस्वीकार कर दिया । उन्होंने हीगल के दार्शनिक आदर्शवाद को काल्पनिक कह कर अस्वीकार कर दिया क्योंकि वह रहस्यवादी विचार है । जिसे देखा नहीं जा सकता स्पर्श नहीं किया जा सकता, उसकी जांच नहीं की जा सकती अत: वह वैज्ञानिक विचार नही होकर रहस्यमयी विचार है ।

कार्ल मार्क्स का द्वन्द्वाद संबंधी सिद्धान्त पदार्थ पर आधारित है अर्थात उसका आधार भौतिकवादी है । मार्क्स का मत है कि पदार्थ, प्रकृति और अस्तित्व पहले है तथा आत्मा, विचार व चेतना उसके बाद में है, मार्क्स भौतिक संसार को ही कारण माना है और कहा है कि भौतिक संसार ही आन्तरिक विचारों का जनक है । अत: मार्क्स का द्वन्द्ववाद हीगल के द्वन्द्ववाद से विपरीत है । स्वंय मार्क्स के शब्दों में '' हीगल के लिए चिन्तन की प्रक्रिया जिसे उन्होंने 'विचार' का बाहय रूप है । इसके विपरीत मेरे लिए आदर्श मानव के मस्तिष्क द्वारा प्रतिविम्बित और विचार के रूप में परिवर्तित भौतिक जगत के अतिरिक्त ओर कुछ भी नहीं है।''

कार्ल मार्क्स के द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त का आधार भौतिकवादी है । भौतिकवाद का विचार यह है कि पदार्थ का अस्तित्व प्राथमिक है और पदार्थ ही चेतना को निर्धारित करता है। हीगल के लिए 'आत्मा' रहस्यमयी होने से अगम्य है परन्तु मार्क्स के लिए पदार्थ दृश्य होने से गम्य है । मार्क्स का विचार है कि पदार्थ को निरन्तर प्रयत्नों व प्रयोग के द्वारा समझा जा सकता है । मार्क्स कहते है कि हीगल ने उसी भौतिक दुनिया की अवहेलना की जिसमें वे रहते थे ।

कार्ल मार्क्स का दर्शन द्वन्द्वात्म भौतिकवाद इसलिए कहलाता है क्योंकि इसमें प्रकृति के घटना क्रम को समझने का तरीका द्वन्द्वादी है । मार्क्स के अनुसार प्रकृति गतिशील व परिवर्तनशील है । प्रकृति के अन्दर विरोधी शक्तियों के घात प्रतिघात के कारण ही विकास होता है । मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद विश्व को नये दृष्टिकोण से देखता है । उनका दुनिया को देखने का दृष्टिकोण साम्यवादी है । मार्क्स का द्वन्द्वात्म भौतिकवाद यह मानता है कि विश्व का निर्माण आत्मा, विचार या चिन्तन से नहीं वरन् भौतिक पदार्थ या वस्तु से हुआ है । पदार्थ में दो विरोधी शक्तियां पायी जाती है जिनके द्वन्द्व या संघर्ष से ही विश्व एवं प्रकृति का निर्माण होता है । पदार्थ में गतिशीलता व परिवर्तनशीलता होती है । अत: मार्क्स का विचार है कि विश्व स्वंय अपनी प्रकृति से भौतिक है जिसका आधार भौतिक तत्व या पदार्थ है जो

अपने आन्तरिक स्वभाव द्वारा विकसित होकर कई रूपों में प्रकट होता है । यह विकास भौतिक पदार्थ में निहित आन्तरिक विरोध द्वारा संचालित होता हैं । घटनाओं में अन्त:संबंध व अन्तःनिर्भरता गतिशील पदार्थो के विकास का ही एक नियम है और इसी गतिशीलता के नियम के आधार पर संसार विकसित होता है । मार्क्स के भौतिकवाद के अनुसार पदार्थ, प्रकृति और जीव वैषयिक वास्तविकता है इसका अस्तित्व चेतना विचार आदि से बाहर व परे है । पदार्थ प्रमुख है क्योंकि वह विचार, अनुचित व चेतना का स्त्रोत है । चेतना पदार्थ का ही प्रतिबिम्ब मात्र है । मार्क्स के अनुसार पदार्थ चेतना की उपज नहीं है वरन् स्वंय पदार्थ की ही सर्वश्रेष्ठ उपज मात्र है । '

14.5 कार्ल मार्क्स के द्वन्द्वात्म प्रणाली की विशेषताएं -

कार्ल मार्क्स के द्वन्द्वात्म प्रणाली की विशेषताओं को निम्न चार बिन्दुओं के माध्यम से स्पष्ट किया गया है

1. मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद प्रकृति को एक सुसम्बद्ध तथा पूर्ण समग्रता के रूप में मानता है जिसमें कि विभिन्न वस्तुएं तथा घटनाएं सावयवी रूप में एक दूसरे से संयुक्त एक दूसरे पर निर्भर तथा एक दूसरे के द्वारा निर्धारित है । अर्थात प्रकृति की किसी भी वस्तु या घटना को दूसरी वस्तुओं या घटनाओं से पृथक तथा स्वतंत्र रूप में समझा नहीं जा सकता । प्रत्येक घटना अनेक घटनाओं से घिरी हुई होती है और उन सबका प्रभाव प्रत्येक पर और प्रत्येक का प्रभाव सब पर होता है ।
2. मार्क्सवादी द्वन्द्वाद यह मानता है कि प्रकृति निरन्तर गतिशील, परिवर्तनशील, नवीन परिवद्वित तथा परिमार्जित स्थिति है जिसमें कुछ चीजों का सदैव उद्भव और विकास होता है, तो कुछ चीजों की अवनति व विनाश । इस प्रकार द्वन्द्वात्मक प्रणाली इस बात पर बल देती है कि घटनाओं की विवेचना न केवल उनके अन्त: संबंध तथा अन्त: निर्भरता को ध्यान में रखते हुए करनी चाहिए बल्कि उनकी गति, परिवर्तन, विकास, उद्भव तथा विनाश को भी ध्यान में रखना होगा क्योंकि संसार में कोई भी घटना या वस्तु स्थिर या स्थायी नहीं हे। संसार में और प्रकृति में सब कुछ अस्थायी, गतिशील तथा परिवर्तनशील है ।
3. मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद का मानना है कि परिमाणात्मक परिवर्तन से ही गुणात्मक परिवर्तन सम्भव हे । छोटे से छोटे परिमाणात्मक परिवर्तन से बड़े से बड़े गुणात्मक परिवर्तन सम्भव हो सकते हैं । परन्तु ये परिवर्तन धीरे धीरे व सरल तरीके से नहीं वरन् शीघ्रता से व एकाएक होते हैं । द्वन्द्वाद के अनुसार विकास की गति निरन्तर आगे बढती हुई और ऊपर चढ़ती रेखा की तरह है । वस्तुत: यह तो एक पुरानी गुणात्मक स्थिति में बदलना, सरल का जटिल होना और एन? निम्न स्तर से उच्च स्तर की ओर आगे बढना है ।
4. द्वन्द्वाद के अनुसार समस्त वस्तुओं में तथा प्रकृति की घटनाओं में आन्तरिक विरोध स्वाभाविक होते हैं । द्वन्द्ववाद के अनुसार विकास आन्तरिक विरोध या संघर्ष द्वारा ही संचालित होता रहता है । इसके अनुसार प्रत्येक विकास में 'वाद' 'प्रतिवाद' और

'संवाद' ये तीनों अवस्थाएं होती है । प्रत्येक अवस्था अपने पूर्व की अवस्था का निषेध होती है । प्रत्येक अवस्था के अन्त में थोड़ा सा ऊपर उठ जाते हैं । उदाहरणार्थ धूप, शीत, वायु से चट्टानें चूर्ण हो जाती है (वाद), वर्षा के जल के द्वारा बहकर वह चट्टान का चूर्ण समुद्र में चला जाता है (प्रतिवाद), कालान्तर में समुद्र में पर्वत उत्पन्न हो जाते हैं (संवाद) । इस प्रकार विकास आन्तरिक विरोध द्वारा इस कारण संचालित होता है क्योंकि गतिशीलता स्वंय विरोध मय है ।

सारांशत: मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद की मूल मान्यता यह है कि विश्व का आधार भौतिक तत्व या पदार्थ है जो अपने आन्तरिक स्वभाव द्वारा विकसित होकर भिन्न रूप धारण कर लेता है । यह विकास भौतिक पदार्थ में स्वाभाविक रूप से ही निहित अर्न्तविरोध द्वारा संचालित होता है और इसमें 'वाद', 'प्रतिवाद' और 'संवाद' ये अवस्थाएं होती है । विकास की यह प्रक्रिया एक बिन्दु पर आकर तीव्रता से एकाएक विस्फोट की भांति होती है अर्थात क्रांति में परिवर्तित हो जाती है । क्रान्ति के पश्चात एक नवीन सामाजिक अवस्था का जन्म होता है । जो थोड़े समय पश्चात प्रतिवाद को जन्म देता है अर्थात विरोध प्रारम्भ हो जाता है । इसी विरोध या संघर्ष के द्वारा विकास सम्भव हो पाता है ।

कार्ल मार्क्स ने अपने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नियम को कुछ सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रतिपादित किया और उनमें सर्व प्रमुख उद्देश्य यह है कि मार्क्स इसी द्वन्द्वात्मक विकासवाद के आधार पर यह सिद्ध करना चाहते हैं कि पूँजीवादी समाज का विनाश अनिवार्य है । द्वन्द्वात्मक विकासवाद के अनुसार यदि संसार में सब कुछ गतिशील व परिवर्तनशील है तो निःसन्देह ही पूँजीवादी, निजी सम्पत्ति व शोषण जमींदारों के अधीन किसानों की पराधीनता व पूँजीपतियों के अधीन श्रमिकों की पराधीनता भी चिरस्थायी नहीं होगी । अत: पूँजीवादी व्यवस्था का स्थान एक दिन समाजवादी व्यवस्था ले ही लेगी । जिस प्रकार सामन्तवादी व्यवस्था का स्थान पूँजीवादी व्यवस्था ने एक समय ले लिया था ।

14.6 ऐतिहासिक भौतिकवाद : अर्थ एवं परिभाषा

ऐसा माना जाता है कि मार्क्स ही ऐसे पहले विचारक थे जिन्होंने ऐतिहासिक भौतिकवाद की अवधारणा को सर्वप्रथम समाज विज्ञान में रखा । यह सिद्धांत इतिहास, संस्कृति और सामाजिक परिवर्तन की सभी आदर्शवादी व्याख्याओं को नकारता है । 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' मार्क्स द्वारा दिये गये उनके समाज व इतिहास के सिद्धान्त का नाम है । इस सिद्धान्त को इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा भी कहा जाता है । मार्क्सवादी सिद्धान्त में ऐतिहासिक भौतिकवाद एक सामाजिक - वैज्ञानिक केन्द्र बिन्दु है । यह सिद्धान्त मानव -शास्त्रीय दर्शन पर केन्द्रित है । यह सिद्धान्त इतिहास की व्याख्या मानव द्वारा विश्व और समाज के साथ सामंजस्य बिठाने के लिये किए गये आर्थिक प्रयत्नों और मूलभूत आर्थिक भिन्नताओं के कारण उत्पन्न वर्ग संघर्ष के रूप में करता है ।

कार्ल मार्क्स की एंजिल्स के साथ लिखी गई कृति ' द जर्मन आइडियोलोजी (The German Ideology) में इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या प्रस्तुत की । मार्क्स ने इस पुस्तक में इस तथ्य को रखा कि समाज का विकास उन भौतिक परिस्थितियों से होता है जिनमें

व्यक्ति रहता है । ये परिस्थितियां भौतिक परिस्थितियां होती है जो समाज में एक दूसरे के साथ संबंध निश्चित करती है । ये भौतिक परिस्थितियां स्थिर नहीं वरन् गतिशील होती है व परिवर्तनशील होती है । मार्क्स कहते हैं कि जब समाज में इन परिस्थितियों में परिवर्तन आता है तब इतिहास में नये युग का सूत्रपाल होता है ।

कार्ल मार्क्स के अनुसार समाज के भौतिक जीवन की अवस्थाएं अन्तिम रूप में समाज की संरचना विचार, राजनीतिक संस्थाओं आदि को निर्धारित करती है । मार्क्स इतिहास की घटनाओं के संचालन व नियमन में भौगोलिक पर्यावरण या जनसंख्या को निर्णायक कारक नहीं मानते । वे तो ऐतिहासिक भौतिकवाद का इसका कारक मानते हैं । मार्क्स का मत है कि इतिहास के निर्माण के लिए सर्वप्रथम आवश्यकता है मानव अस्तित्व की और मानव को जिन्दा रहने के लिए रोटी, कपड़ा, मकान आदि भौतिक मूल्यों की आवश्यकता होती है । जीवन के भौतिक मूल्य (रोटी, कपड़ा, मकान, उत्पादन के साधन आदि) उत्पादन प्रणाली में निहित होते है । मार्क्स का मत है कि यह उत्पादन प्रणाली का ही प्रभाव है जो इतिहास की घटनाओं का निर्धारण करती है 1 इसीलिए इसे मार्क्स के इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या कहा जाता है । मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद का प्रमुख तत्व 'आर्थिक निर्धारणवाद' है । मार्क्स का मत है कि समाज की संरचना में रोटी, कपड़ा, मकान इत्यादि भौतिक आधार है । ये भौतिक आधार ही आर्थिक संगठन को बनाते हैं इन भौतिक वस्तुओं के अतिरिक्त समाज में जो कुछ भी है जैसे - साहित्य, कला, दर्शन, राजनीति आदि का उद्‌गम भी उत्पादन शक्तियां उत्पादन संबंधों व आर्थिक संरचना में निहित है । जब हम किसी समाज का विश्लेषण उत्पादन के तरीकों उत्पादन संबंध और उत्पादन शक्तियों के परिप्रेक्ष्य में किया जाता है तब इसे ऐतिहासिक भौतिकवाद का नाम दिया जाता है । यह अवधारणा इतिहास के परिवर्तन को व समाज की संरचना को भौतिक उत्पादन का तरीका, उत्पादन शक्तियों और उत्पादन संबंधों के संदर्भ में देखती है ।

14.7 ऐतिहासिक भौतिकवाद के तत्व

कार्ल मार्क्स ने समाज की वास्तविक आधारशिला आर्थिक संरचना को माना है । उनका मत है कि यह वह आधार है जिससे कानूनी और राजनीतिक अधि संरचना व सामाजिक चेतना का उद्भव होता है । आर्थिक संरचना के मार्क्स ने तीन तत्व माने है वे इस प्रकार है : -

(1) उत्पादन प्रणाली

(2) उत्पादन की शक्तियां

(3) उत्पादन के संबंध

समाज की बुनियाद संरचना भौतिक संरचना है । मनुष्य के अस्तित्व के लिये आवश्यक है कि उसकी मूलभूत आवश्यकताऐं (रोटी, कपड़ा, मकान) पूरी हो । इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसने विभिन्न तरीकों को काम में लिया, जो भिन्न भिन्न युगो में भिन्न भिन्न थे । उत्पादन के ये तरीके अपने आकार व परिवेश में बहुत विशाल व जटिल है क्योंकि इन उत्पादन के तरीकों के अन्तर्गत उत्पादन शक्तियों व उत्पादन संबंध दोनों ही सम्मिलित होते हैं ।

14.7.1 समाज का आर्थिक आधार -

उत्पादन के तरीके को उत्पादन विधि, उत्पादन प्रणाली, उत्पादन पद्धति के नाम से भी जाना जाता है । उत्पादन प्रणाली मार्क्सवादी विश्लेषण की एक केन्द्रीय संकल्पना है । उत्पादन प्रणाली भरण -पोषण को निर्धारित करती है । उत्पादन प्रणाली प्रत्येक युग में समाज के दर्पण का कार्य करती है, क्योंकि जैसी उत्पादन प्रणाली होगी उस समाज के लोगों की जीवन यापन की शैली' वैसी ही होगी ।

कार्ल मार्क्स के अनुसार समस्त सामाजिक व्यवस्थाओं का आधार उत्पादन प्रणाली है और इसी के आधार पर बाद में सभी संबंधों जैसे सामाजिक, आर्थिक, वैचारिक आदि संबंधों का निर्धारण होता है । उत्पादन प्रणाली की प्रमुख विशेषता है कि यह अधिक समय तक एक ही स्थिति पर स्थिर नहीं होती, इसमें सदैव परिवर्तन व विकास होता रहता है । उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन होने से सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्थाओं, विचारों, राजनीतिक मतों व संस्थाओं में परिवर्तन भी अवश्यम्भावी हो जाता है । उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन होने से सम्पूर्ण सामाजिक व राजनीतिक व्यवस्था में भी परिवर्तन हो जाता है । मार्क्स का मत है कि इतिहास का एक युग तब समाप्त होता है जब एक प्रकार के भौतिकवादी सामाजिक संबंध समाप्त हो जाते है । इतिहास द्वारा निर्धारित ये सामाजिक संबंध उत्पादन प्रणाली से निर्मित होते हैं । उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन होने पर नये सामाजिक संबंध बनते हैं । अत: उत्पादन पद्धति इतिहास में परिवर्तन लाती है ।

14.7.2 उत्पादन शक्तियां

उत्पादन शक्तियां मनुष्य के प्रकृति के साथ संबधो को बताने वाली अवधारणा है जिसे आज हम तकनीकी व वैज्ञानिक जानकारी कहते हैं, वही उत्पादन शक्तियां है । उत्पादन शक्तियां वे है जिनके द्वारा भौतिक मूल्यों का उत्पादन होता है । मनुष्य उत्पादन शक्तियों अर्थात उत्पादन साधनों का प्रयोग करके भौतिक मूल्यों का उत्पादन करते हैं । उत्पादन अनुभव व श्रम कौशल ये सब तत्व एक साथ मिलकर समाज की उत्पादक शक्ति को बनाते हैं ।

14.7.3 उत्पादन सम्बन्ध

मनुष्य की कुछ मूलभूत आवश्यकताऐं होती है, जो उसके अस्तित्व के लिये अति आवश्यक है । इन मूलभूत आवश्यकताओं (रोटी, कपड़ा, मकान) के लिए व भौतिक मूल्यों के उत्पादन में वह प्रकृति को काम में लेता है । भौतिक मूल्यों का उत्पादन वह अकेले रहकर नहीं वरन् सब मिलकर समूह व समाज के रूप में करते हैं । अत: साथ मिलकर किया गया यह उत्पादन सामाजिक उत्पादन होता है । अत: इस सामाजिक उत्पादन में व्यक्तियों में किसी न किसी प्रकार का संबंध स्थापित हो जाता है । चूंकि ये संबंध उत्पादन के आधार पर होते हैं अत: इन्हें उत्पादन के संबंध कहा जाता है मार्क्स के अनुसार '' अपने जीवन में सामाजिक उत्पादन के क्षेत्र में व्यक्ति कुछ ऐसे निश्चित संबंधों के साथ जुड़ता है जो उसके लिए अपरिहार्य है, ये संबंध स्वतंत्र है और इन पर व्यक्ति की कोई मर्जी नहीं चलती । ये संबंध भौतिक

उत्पादन के विकास की अवस्था में मेल खाते है । उत्पादन के ये सभी संबंध मिल जुलकर आर्थिक संरचना को बनाते है जो कि समाज का वास्तविक आधार है और जिस पर कानूनी व राजनीतिक अधिसंरचना बनती है । ''

कार्ल मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन में दो अवधारणाएं बताई है : - (1) उत्पादन शक्तियां व (2) उत्पादन संबंध । मार्क्स ने अपनी कृति क्रीटिक ऑफ पोलिटिकल इकोनोमी (Critique of Political Economy) में कहा है कि जब उत्पादन शक्तियां व उत्पादन संबंधों में विसंगति आ जाती है तो इतिहास में क्रान्ति का सूत्रपात होता है । उन्होंने लिखा है '' अपने विकास की एक निश्चित सीमा तक पहुंचने पर भौतिक उत्पादन शक्तियां अपने समकालीन उत्पादन संबंधों के विरोध में आ जाती है । इस विरोध के परिणामस्वरूप सामाजिक क्रान्ति का सूत्रपात होता है । सामाजिक क्रान्ति से आर्थिक संरचना में परिवर्तन आता है व अधिसंरचना तीव्र गति से परिवर्तित होती है ।''

इस प्रकार समाज के विकास का इतिहास वस्तुत: उत्पादन प्रणाली के विकास का इतिहास है, उत्पादन शक्तियों व उत्पादन संबंधों के विकास का इतिहास है जो भौतिक मूल्यों का उत्पादन करते है । अत: इतिहास के नियमों का अध्ययन मस्तिष्क व विचारों के दृष्टिकोण से नहीं वरन् एक विशेष युग में अपनायी जाने वाली उत्पादन प्रणाली में करना चाहिये । अत: ऐतिहासिक भौतिकवाद का सर्वप्रमुख कार्य उत्पादन प्रणाली, उत्पादन शक्ति व उत्पादन संबंधों के विकास के नियमों को समाज के आर्थिक विकास के नियमों को प्रकट करना है ।

14.8 ऐतिहासिक भौतिकवाद : विभिन्न युगों में

कार्ल मार्क्स प्रत्यक्षवादी विचारक थे । उन्होंने अपनी अध्ययन विधि का केन्द्रिय संदर्श ऐतिहासिक भौतिकवाद को बनाया । इस सिद्धान्त में वे मुख्य रूप से उत्पादन पद्धतियों पर अपने सिद्धान्त को केन्द्रित करते हैं । उत्पादन पद्धति विशाल व जटिल है यह अपने आकार व विस्तार में दो प्रक्रियाओं को सम्मिलित करती है वे है - (1) उत्पादन शक्ति (2) उत्पादन संबंध । मार्क्स का तर्क है कि मानव जाति का इतिहास राजा - रानी, ठाकुर जमींदार आदि का इतिहास ना होकर उन लोगों का इतिहास है जो भौतिक मूल्यों का उत्पादन करते हैं अर्थात यह इतिहास भौतिकवादी है ।

ऐतिहासिक भौतिकवाद की अवधारणा में मार्क्स ने उत्पादन प्रणाली के केन्द्रीय संदर्श में रखा है । इतिहास में परिवर्तन उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन के परिणाम स्वरूप होता है, लेकिन परिवर्तन की यह प्रक्रिया इतनी सरल व सुगम नहीं है । उत्पादन पद्धति के दोनों आधार उत्पादन शक्ति व उत्पादन संबंध में उत्पादन पद्धति के परिवर्तन के फलस्वरूप विरोध प्रारम्भ हो जाता है । उत्पादन शक्ति चूंकि विज्ञान व तकनीकी पर आधारित होती है उसमें तो परिवर्तन शीघ्र हो जाता है लेकिन उस गति से उत्पादन संबंध में परिवर्तन नहीं आता । अत: दोनों में विरोध होता है व क्रान्ति होता है । क्रान्ति के परिणामस्वरूप उत्पादन के संबंध नये बनते हैं । इसकी परिणिति उत्पादन शक्तियों के पक्ष में होती है व इतिहास के दूसरे भौतिकवादी युग का सूत्रपात होता है । प्रत्येक युग में उत्पादन के तरीके, उत्पादन शक्तियां व उत्पादन सम्बन्ध दूसरे युग से भिन्न होते हैं । मार्क्स का मत है कि युग परिवर्तन उत्पादन शक्तियों व उत्पादन

संबंधों के आधार पर होता है । जब एक युग में उत्पादन शक्तियों व उत्पादन सम्बन्धों में संघर्ष होता है तो इसके परिणामस्वरूप नये युग का प्रारम्भ होता है । उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन के साथ लोगों के सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक संबंधों में परिवर्तन आ जाता है । इस दृष्टि से मार्क्स ने मानव इतिहास को पांच युगों में विभाजित किया है । ये पांच युग इस तरह से है : -

(1) आदिम साम्यवाद युग
(2) दासत्व युग
(3) सामन्तवादी युग
(4) पूंजीवादी युग
(5) समाजवाद युग

14.8.1 आदिम साम्य द युग

इस युग में व्यक्ति समूह में रहता था । समूह में मिल जुल कर शिकार करते थे, फल -मूल एकत्रित करते थे, घर बनाते थे, ऐसे ही सभी कार्य मिल जुल कर करते थे । इस युग में व्यक्तिगत सम्पत्ति की धारणा नहीं थी । उत्पादन सामूहिक रूप से होता था अत: उत्पादन के साधनों पर व्यक्ति विशेष का अधिकार ना होकर पूरे समुदाय का अधिकार होता था । उत्पादन व वितरण साम्यवादी ढंग से होता था । उत्पादन के साधनों व उनसे मिलने वाली वस्तुओं पर सभी का समान अधिकार होता था । यह युग वर्ग विहीन था । वर्ग नहीं होने से इस युग में कोई शोषण भी नहीं होता था ।

14.8.2 दासत्व युग

कार्ल मार्क्स ने दूसरा युग दासत्व युग बताया है । इस युग में उत्पादन प्रणाली परिवर्तित हो गई । इस युग में खेती व पशुपालन का आविष्कार हुआ व धातु से बने औजारों को उपयोग में लाया जाने लगा । इस अवस्था में उत्पादन शक्तियों व उत्पादन संबंधों में खाई आनी प्रारम्भ हो गई । इस युग से वर्ग का अविर्भाव हुआ । दो वर्ग अस्तित्व में आये प्रथम वर्ग मालिक वर्ग या जिसका उत्पादन शक्तियों पर अधिकार था । द्वितीय वर्ग दास वर्ग था जो मालिकों के गुलाम होते थे । मालिक दासों को पशुवत मार सकते थे, खरीद सकते थे व बेच सकते थे । इस युग में सम्पत्ति का एकत्रीकरण कुछ हाथों में होने लगा । अब लोग पहले की तरह स्वेच्छा से मिल जुल कर काम नहीं करते थे वरन् मालिकों द्वारा अन्य गरीब लोगो को दास बनाकर उनसे जबरदस्ती काम लिया जाता था । मालिक शोषक वर्ग था जो दासों का शोषण करता था । इन दोनों वर्गो में संघर्ष होता था ।

14.8.3 सामन्तवादी युग

इस युग में निजी सम्पत्ति की धारणा और भी बलवती हो गई । इस युग में जो दो वर्ग थे वे है : - सामन्त वर्ग व भूमिहीन श्रमिक । सामन्तों का उत्पादन के साधनों पर अधिकार होता था । वे भूमि के मालिक थे । दूसरी ओर गरीब भूमिहीन श्रमिक इन सामन्तों के

अधीन थे । यदपि ये श्रमिक दास नहीं थे लेकिन उन पर बन्धन कई तरह के थे । वे उत्पादन कार्य इन्हीं भूमिहीन श्रमिकों से करवाया जाता था । इन्हें सामन्तों की भूमि पर जुताई - बुआई बेगार के रूप में करनी पडती थी । युद्ध के समय इन्हीं किसानों को सिपाहियों के रूप में काम करना पड़ता था । इन सब कार्यो के बदले गरीब किसानों को अपने जीविका निर्वाह जितनी भूमि मिलती थी । सामन्त गरीब किसानों का भरपूर शोषण करते थे अत: इन दोनों वर्गो में संघर्ष होता था ।

14.8.4 पूंजीवादी युग

इस युग का प्रादुर्भाव मशीनों के आवष्किार तथा बड़े उद्योग धन्धों के जन्म के फलस्वरूप हुआ । पूंजीवाद की स्थापना के साथ उत्पादन शक्तियां भी तेजी से बढ़ने लगी । आग और बिजली जैसी प्राकृति शक्तियों का उर्जा के स्त्रोतों के रूप में' उपयोग किया जाने लगा । इस युग में दो वर्ग अस्तित्व में आये प्रथम पूंजीपति वर्ग, इस वर्ग का उत्पादन के साधनों पर अधिकार होता था । कारखाने व मशीनों पर पूंजीपति वर्ग का आधिपत्य था । दूसरा वर्ग श्रमिकों का था जिन्हें सर्वहारा भी कहा जाता है । यह वर्ग वेतन भोगी होता है । उत्पादन के साधनों पर श्रमिकों का अधिकार नहीं होता था । ये कारखानों में मशीनों पर अपना श्रम देते थे बदले में वेतन प्राप्त करते थे । ये व्यक्तिगत रूप से स्वतंत्र थे । श्रम के बदले श्रमिकों को जो वेतन प्राप्त होता था वह नाम मात्र का होता था । पूंजीपति अतिरिक्त मूल्य कमाता था । मार्क्स का मत है कि इस बढ़ते हुए शोषण के कारण श्रमिकों की दशा दयनीय होती जायेगी व अन्त में सर्वहारा वर्ग इस शोषण के विरुद्ध बाध्य होकर क्रान्ति कर देगा व पूंजीपतियों को समाप्त कर देगा । क्रान्ति के फलस्वरूप ''सर्वहारा के अधिनायकत्व'' की स्थापना होगी । इस व्यवस्था में पूंजी, समाज व राज्य की कमान श्रमिकों के हाथों में होगी । यह अधिनायकत्व पूंजीवादी व समाजवादी व्यवस्था के बीच एक संक्रमण काल होगा । मार्क्स ने पूंजीवादी अवस्था का विस्तृत वर्णन अपनी कृति '' दास केपिटल '' में किया है ।

14.8.5 समाजवादी युग

कार्ल मार्क्स का मत है कि समाजवादी युग अन्तिम युग होगा जो वर्ग -विहीन, राज्य - विहीन व शोषण रहित होगा । मार्क्स का कथन है कि दासत्व युग व सामंतवादी युग की तरह पूंजीवादी युग का भी अन्त होगा क्योंकि इसमें भी द्वन्द्व, निषेध व अन्तर्विरोध है । अत: इस युग की समाप्ति भी निश्चित है । अत: पूंजीवाद का पतन समाजवाद के लिए होना ऐतिहासिक घटना मात्र है । समाजवाद पूंजीवाद का निषेध मात्र है । समाजवादी अवस्था में उत्पादन के साधनों पर समाज का आधिपत्य होगा व वितरण लोगों के परिश्रम व योग्यता के अनुसार होगा ।

इस प्रकार मार्क्स ने विभिन्न युग परिवर्तन तथा अन्य प्रकार के परिवर्तन व प्रभाव उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन के कारण ही बताये हैं । यही मार्क्स का ऐतिहासिक भौतिकवाद या इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा है ।

14.9 सारांश

कार्ल मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद व ऐतिहासिक भौतिकवाद पर बहुत कुछ लिखा है । द्वन्द्वात्मक - भौतिकवाद में उन्होंने हीगल के द्वन्द्ववाद जो विचार व आदर्श पर आधारित है विरोध करते हुए पदार्थ को महत्वपूर्ण आधार माना है । पदार्थ में गति होती है, शक्ति होती है । पदार्थ में ही निषेध भी होता है जिससे द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न होती है । इसमें मार्क्स ने ' त्रेत ' के नियम को भी बताया है जिसमें वाद, प्रतिवाद व संवाद होता है । द्वन्द्व के कारण पदार्थ इस त्रेत के नियम के कारणों से होता हुआ परिवर्तित स्वरूप में आता है जिसका कुछ समय पश्चात पुन: प्रतिवाद होने लगता है । ऐतिहासिक भौतिकवाद मार्क्स के विचारों का केन्द्रिय संदर्श है । मार्क्स का मत है कि इतिहास के लिए सर्वप्रथम आवश्यक है मनुष्य अस्तित्व की, मानव अस्तित्व के लिए सर्वप्रथम आवश्यकता यह है कि मनुष्य जीवित रहे, तब वह इतिहास का निर्माण कर सकता है, और जीवित रहने के लिए भोजन, कपड़ा व निवास आदि की आवश्यकता सर्वप्रथम है । इन मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उत्पादन की आवश्यकता होती है । स्वंय भौतिक जीवन का उत्पादन ही सर्वप्रथम ऐतिहासिक कार्य है । उत्पादन के लिए उत्पादन प्रणाली होती है । उत्पादन प्रणाली में मुख्य दो आधार होते हैं - (1) उत्पादन शक्ति, (2) उत्पादन संबंध । उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन समय के साथ होता रहता है । उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन होने पर उत्पादन शक्ति में परिवर्तन आता है । उत्पादन शक्ति में परिवर्तन विज्ञान व तकनीकी पर आधारित होते हैं। अत: जिस गति से उत्पादन शक्ति में परिवर्तन आते हैं उस तत्वरित गति से उत्पादन संबंध में परिवर्तन नहीं आता । अत: इन दोनों में संघर्ष प्रारम्भ होता है । संघर्ष के परिणामस्वरूप नये युग का सूत्रपात होता है । अत: इतिहास का परिवर्तन उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन के परिणामस्वरूप होता है ।

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या में उत्पादन प्रणाली के परिणाम स्वरूप आये ऐतिहासिक परिवर्तन को मार्क्स ने पांच युगों में विभाजित किया है । वे है - प्रथम आदिम साम्यवादी युग जो वर्ग विहीन युग है । दूसरा दासत्व युग इस युग में व्यक्तिगत सम्पत्ति व वर्ग व्यवस्था का सूत्रपात हुआ । इस युग में दो वर्ग अस्तित्व में आये प्रथम वर्ग मालिक व द्वितीय दास । तीसरा युग है सामन्तवादी युग इस युग में सामन्त व भूमिहीन श्रमिकों का वर्ग था । चतुर्थ युग पूंजीवादी युग है जिसमें दो वर्ग पूंजीपति व श्रमिकों के थे व अन्तिम युग समाजवादी युग है जो वर्गविहीन व राज्य विहीन युग होगा ।

इस प्रकार मार्क्स ने ऐतिहासिक भौतिकवाद की व्याख्या में बताया है कि ये विभिन्न युग परिवर्तन उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन के कारण ही हुए हैं ।

14.10 शब्दावली

(1) उत्पादन प्रणाली - उत्पादन करने का तरीका ।

(2) उत्पादन शक्ति - भौतिक मूल्यों (रोटी, कपड़ा, मकान आदि) के उत्पादन के लिए जिन उपकरणों का प्रयोग किया जाता है वे उत्पादन शक्ति या उत्पादन के साधन कहलाते हैं । जैसे हल, बैल, मशीन आदि ।

(3) वर्ग - पूंजी या धन के आधार पर जिस समूह का निर्माण होता है ।

14.11 बोध प्रश्न

(1) द्वन्द्व के अर्थ को स्पष्ट करते हुए द्वन्द्वाद को परिभाषित कीजिए ।

(2) कार्ल मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को समझाइये ।

(3) ऐतिहासिक भौतिकवाद के विभिन्न तत्वों को स्पष्ट कीजिए ।

(4) कार्ल मार्क्स द्वारा दिये गये ऐतिहासिक भौतिकवाद के विभिन्न युगों की व्याख्या कीजिए ।

14.12 संदर्भ ग्रन्थ

(1) मुकर्जी, रविन्द्रनाथ, सामाजिक विचारधारा, विवेक प्रकाशन, दिल्ली, 2006

(2) दोषी, एस.एल. एवं जैन, पी.सी., सामाजिक विचारक, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, 2002

(3) चौहान, बृजराज, समाज विज्ञान के प्रेरक स्त्रोत, ए.सी. ब्रदर्स, उदयपुर, 1994

(4) रावत, हरिकृष्ण, समाजशास्त्र विश्वकोश, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, 1998 ।

इकाई-15

कार्ल मार्क्स : अलगाव

इकाई की रूपरेखा :

15.0 उद्देश्य
15.1 प्रस्तावना
15.2 अलगाव की अवधारणा
15.3 अलगाव के सिद्धान्त
15.3.1 स्व अलगाव
15.3.2 अर्थहीनता
15.3.3 शक्तिहीनता
15.3.4 नियमहीनता
15.3.5 पृथकता
15.4 अलगाव के मुख्य कारण
15.5 अलगाव पर कार्ल मार्क्स का दृष्टिकोण
15.6 अलगाव पर राइसमेन एवं फार्म के विचार
15.6 सारांश
15.7 शब्दावली
15.8 बोध प्रश्न
15.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

15.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप समझ सकेंगे ।

- अलगाव से हमारा क्या अभिप्राय है?
- अलगाव की प्रकिया के प्रारम्भ होने के क्या कारण है?
- अलगाव से व्यक्ति किस प्रकार प्रभावित होता है?
- अलगाव का समाज पर क्या प्रभाव पडता है?

15.1 प्रस्तावना

समाजशास्त्री तथा अन्य सामाजिक विज्ञानों में अलगाव की अवधारणा का प्रयोग अलग -अलग अर्थो में किया जाता है । यह एक बहु चर्चित अवधारणा है । मूल रूप से अलगाव व्यक्ति की एक ऐसी सामाजिक मनोवैज्ञानिक स्थिति अथवा दशा है । जिसमें व्यक्ति का उसके सामाजिक अस्तित्व के मुख्य पक्षों से विरसन हो जाता है । दूसरे शब्दो में व्यक्ति के सामने ऐसी स्थिति पैदा हो जाती है । कि वह समाज से कट जाता है । इस अवधारणा का प्रयोग प्रजातीय पूर्वाग्रह, मानसिक बीमारी, वर्ग चेतना, औद्योगिक तनाव, उग्रवाद, राजनीतिक

उदासीनता तथा आतंकवाद आदि अनेक समस्याओ से किया गया है । प्रमुख दार्शनिक एवं सामाजिक वैज्ञानिक हीगल ने सर्वप्रथम इस अवधारणा का प्रयोग किया इसके पश्चात कार्ल मार्क्स के लेखन में अलगाव की अवधारणा का प्रयोग मिलता है । अलगाव के सिद्धान्त को समाजशास्त्र में कार्ल मार्क्स ने प्रमुखता दी है । कार्ल मार्क्स ने पूँजीवादी समाज के संदर्भ में अलगाव को समझाया है । मार्क्स ने हीगल के आदर्शवादी विचारो में संशोधन करते हुए आधुनिक पूंजीवादी औद्योगिक व्यवस्था की विसंगतियो पर प्रकाश डालने के लिए किया । मार्क्स ने कहा कि मानव की यह प्रकृति है, कि वह अपने बाह्य संसार को दूसरे के सहयोग से बदलकर अपने स्वयं का निर्माण करता है । किन्तु यह प्रकृति अब मानव के विपरीत हो गयी है । अब यह प्रकृति उसकी न रहकर किसी अन्य व्यक्ति अथवा - वस्तु की बन गयी है । इस कथन को हम इस उदाहरण के माध्यम से समझ सकते है जैसे -धार्मिक क्षेत्रों में यह माना जाता है । कि ईश्वर ने ही सभी वस्तुओं का निर्माण किया है । इस सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण ईश्वर ने ही किया है । और मानव तो केवल उसके पराधीन है । इसी प्रकार अर्थशास्त्र में यह मान्यता है कि धन मानव को एक वस्तु की भांति नियंत्रित करता है । अब वह इस नियंत्रण को किन्हीं अन्य चीजों में पाता है । इस प्रकार मानव स्वयं अपने भाग्य का निर्माता नहीं रहा अब इसका बनाने वाला कोई अन्य व्यक्ति हो गया है । पूंजीवादी युग में कामकाज की सामाजिक दशाओ ने कामगार को अपने कार्य से पूरी तरह अलग कर दिया है । वे उसे वैसे अवसर प्रदान नहीं करती तथा उसका अस्तित्व रचनात्मक तथा अर्थपूर्ण बन सके इन दशाओ में श्रमिक को न तो अपने कार्य से संतुष्टि मिल पाती है। और न ही उसके कार्य का उसे पूरा मुआवजा मिल पाता है । यह स्थिति ही कामगार को अलगाव की दशा की परिचायक है ।

"अलगाव आत्म विमुखता की ऐसी भावना है । जिसकी उत्पत्ति अपने कार्य की भूमिका की अर्थहीनता तथा स्वयं की शक्तिहीनता ही धारणा से होती है । इसका प्रारम्भ श्रमिक और उसके कार्य के बीच सम्बन्धों की टूटन से होता है ।" श्रमिक जिन वस्तुओं का निर्माण करता है । जब उससे उसका कोई भावनात्मक सम्बन्ध नहीं रह जाता है, तो उसमें अलगाव की भावना पैदा हो जाती है । द सेन सोसायटी के लेखक एरिक फ्राम ने अलगाव की अवधारणा को समझाने का प्रयास किया है । इनके अनुसार अलगाव एक ऐसी स्थिति है । जिसमें व्यक्ति अपनी शक्तियों, तथा समृद्धि का कर्ता अपने आपको नहीं समझता है । और उसमें यह धारणा विद्यमान हो जाती है कि वह एक निरर्थक वस्तु है । जिस पर उसका अपना कोई नियंत्रण नहीं है तथा वह बाह्य शक्तियों द्वारा नियंत्रित होता है । कार्ल मार्क्स ने इस अवधारणा का प्रयोग सामाजिक मनोवैज्ञानिक दशाओं को समझाने के लिए अधिक किया जाता है । सामने ने इस अवधारणा के मनोवैज्ञानिक आयाम में **शक्तिहीनता, प्रतिमानहींनता, मानवशून्य, आत्म विलगाव, अवैयक्तिकरण** जैसी प्रकियाओं को भी सम्मिलित किया गया है । तथा इसे मापने के लिए मापदण्ड भी तैयार किया है । ताकि इस अवधारणा को व्यवस्थिति रूप से समझा जा सके इस इकाई में हम अलगाव की अवधारणा व सिद्धान्त का विस्तार से अध्ययन करेंगे ।

15.2 अलगाव की अवधारणा

समाजशास्त्रिय सिद्धान्तों में जिन अवधारणाओं का बहुत अधिक महत्व है । उनमें अलगाव की अवधारणा का अपना विशेष स्थान है । अलगाव को परकीयकरण तथा विरसन भी

कहा जाता है । जैसे -जैसे मानव समाज का विकास हो रहा है । वैसे ही वैसे समाज में जटिलता बढती जा रही है । इस विकास के कारण यद्यपि समाज को काफी लाभ हो रहा है। लेकिन साथ ही साथ कुछ दुष्परिणाम भी भुगतने पड रहे हैं । इन दुष्परिणामो में अलगाव भी एक है । मानव समाज के विकास के प्रारम्भिक दौर में समाज के सदस्य एक सूत्र में बंधे हुए थे क्योंकि समाज का आकार लघु था उनका एक सामूहिक जीवन था वे संयुक्त रूप से एक दूसरे से बंधे हुए हैं । उस काल में सभी एक दूसरे के सुख दुख में साथी थे यानी एक सभी के लिए और सभी एक के लिए जैसे सिद्धान्त पर सामाजिक जीवन आश्रित था । अत्यधिक विकास नहीं होने के कारण धर्म, परम्परा, रूढि प्रथा इत्यादि उन्हें एक सूत्र में बांधे रखती थी । समाज में अलगाव की स्थिति पैदा नहीं हो पाती थी, लेकिन मानव समाज के विकास और विस्तार के कारण अवैयक्तिकरण की भावना पैदा होने लगी इससे अलगावपन में वृद्धि हुई अलगाव की और अधिक व्याख्या करे इससे पूर्व पारिभाषिक व्याख्या किया जाना आवश्यक है । यहां हम एक परिभाषा के माध्यम से इस अवधारणा को समझेंगे ।

अलगाव वह प्रकिया है । जिसके अन्तर्गत व्यक्ति के उसके अपने समूह व समाज के घनिष्ठ वैयक्तिक व आन्तरिक सम्बन्ध ढीले पड जाते है । जिसके फलस्वरूप व्यक्ति का अपना जीवन सामूहिक जीवन से कुछ अलग सा हो जाता है । अथवा व्यक्ति में पृथक होने की भावना बलवती हो जाती है । व्यक्ति यह अनुभव करने लगता है । कि जिस समूह व समाज में वह रहता है । वह उसका अपना नाम नहीं है । वह उस समाज पर अपनी आकांक्षाओं आशाओं व निर्णयों को लाद नहीं सकता है ।

उपर्युक्त परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि अलगाव वह प्रकिया है । जो आधुनिक व जटिल समाजों में अपना विशेष स्थान रखती है जटिल समाज में व्यक्ति और समाज के बीच एक तालमेल का अभाव हो जाता है । जो कि दोनों को एक दूसरे से पृथक कर देती है। जब व्यक्ति व समाज के बीच सम्बन्ध टूट जाते हैं तो अलगाव की स्थिति पैदा हो जाती है। जब व्यक्ति यह सोचने लगता है कि जो समाज व समूह उसका अपना था वह अपना नहीं रहा तथा इस दुनिया को परायों की दुनिया समझने लगता है और सभी सदस्यो के स्वार्थी व केवल अपने उददेश्यों की पूर्ति॰ करने वाला समझने लगता है तो हम कह सकते हैं कि व्यक्ति में अलगाव की भावना बलवती हो रही है ।

समाज में अलगाव की प्रक्रिया विकसित होती है । तो यह समाज के लिए काफी दुर्भाग्यपूर्ण है । क्योंकि यही प्रक्रिया व्यक्ति और समाज के बीच पारस्परिक सम्बन्धों को नष्ट कर देती है । और समाज का सदस्य यह समझने लगता है कि समाज समूह के अच्छे व बुरे परिणामों के साथ उसका कोई सरोकार नहीं है । व्यक्ति यह सोचने लगता है कि सामूहिक जीवन में उसकी कोई आवश्यकता नहीं है और वह जो भी अपने निर्णय लेता है वे समूह के लिए बेमतलब है । इस प्रकार अलगाव की प्रक्रिया के अन्तर्गत सामाजिक निर्णयो के क्षेत्र में व्यक्ति की शक्तिहीनता और अर्थहीनता उजागर होती है । दूसरे शब्दो में हम कह सकते है । कि अलगाव आधुनिक जटिल एवं अवैयक्तिक समाज की उस किया का द्योतक है जिसके अन्तर्गत व्यक्ति अपने समाज व सामूहिक जीवन से कुछ पृथक सा होने का बोध करता है वह स्वयं अपने समाज व समूह से अनजाना बन जाता है । किसी के भी साथ उसके सम्बन्ध घनिष्ट नहीं हो पाते वह किसी को भी अपना नहीं समझ पाता ताकि अपने मन की बात या

विचारो की अभिव्यक्ति उनके साथ कर सके ऐसी स्थिति में समाज व समूह के साथ उसके अलगावपन का होना एक स्वाभाविक प्रक्रिया है ।

व्यक्ति और व्यक्ति के बीच, व्यक्ति और समूह के बीच, समूह व समूह के बीच तथा व्यक्ति व समुदाय के बीच पनपने वाले इस परायेपन की भावना से अलगाव पनपता है इसे ही अलगाव कहते है ।

15.3 स्वअलगाव के सिद्धान्त

अलगाव के अर्थ सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने अपने अपने दृष्टिकोण व विचारों को प्रस्तुत किया है । विभिन्न विद्वानो ने जिस रूप में अलगाव शब्द का प्रयोग किया है, उससे इस शब्द के पाँच अर्थ उभरकर सामने आते हैं - स्वअलगाव, अर्थहीनता, शक्तिहीनता, नियमहीनता तथा पृथकता । यहां हम इन सभी शब्दों के व्यापक अर्थ को यहां समझाने का प्रयास करेंगे जिससे अलगाव को समझने में आसानी हो सके ।

15.3.1 स्वअलगाव

एरिक फ्राम ने अपनी पुस्तक दि सेन सोसाइटी में इसी अर्थ में अलगाव का प्रयोग किया है । इनके अनुसार अलगाव का अर्थ अनुभव के उस तरीके से है । जिसमें कि एक व्यक्ति अपने को एक परदेशी के रूप में अनुभव करता है । ऐसी दशा में हम कह सकते हैं कि वह स्वयं अपने से भी विलग हो जाता है । सी राइट मिल्स ने भी स्वअलगाव के संदर्भ में ही अलगाव को समझाने का प्रयास किया है । इन्होंने एक शोरूम पर सेल्सगर्ल का काम करने वाली लड़की का उदाहरण दिया है । यह सेल्सगर्ल अपने मालिक की नौकर मात्र होती है। वह कभी भी वहां पर अपने हित के लिए काम नहीं कर सकती वह तो मालिक के हितों के लिए कार्य करती है । यही कारण है कि अपने कार्य के दौरान उस सेल्सगर्ल को स्वअलगाव की भावना को अपने मन में पैदा करना पडता है । जब वह नौकरी करती है, तब उसका अपना व्यक्तित्व हित व स्वार्थ उसके अपने लिए ही एक परदेशी बन जाता है । ऐसी अवस्था में उसे न तो अपने आय से लगाव होता है और न ही उन लोगों से जो कि उसका सामान खरीदते है । यह भी एक प्रकार से अलगाव की स्थिति है । सी. राइट मिल्स ने स्वअलगाव के संदर्भ में लिखा है कि -

व्यक्ति एक दूसरे से अलगाव अनुभव करते हैं । क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे को गुप्त रूप में एक साधन बनाने का प्रयत्न करता है और समय गुजरने के साथ -साथ एक पूर्ण चक्र बन जाता है । व्यक्ति स्वयं को भी साधन बना लेता है और रच अथवा अपने आपसे भी पृथक हो जाता है ।

स्वअलगाव को दूसरे अर्थ में भी समझ सकते है । जिसके अन्तर्गत पुरस्कार का क्रिया से बाहर होना है । अर्थात व्यक्ति का कार्य अपने में स्वयं साध्य नहीं है । कार्य कार्य के लिए नहीं बल्कि कुछ पुरस्कार प्राप्त करने के लिए किया जाता है । आज कोई भी व्यक्ति नौकरी इसलिए करता है कि उसे पुरस्कार क रूप में वेतन प्राप्त होता है । आज व्यक्ति शिक्षा प्राप्त रोजी रोटी कमाने के लिए करता है न की माध्यम से प्राप्त करने के लिए इसलिए व्यक्ति का

लगाव शिक्षा के माध्यम से प्राप्त होने वाले ज्ञान में नहीं है । बल्कि उससे प्राप्त होने कली नौकरी से है ।

इससे यह स्पष्ट होता है कि आज व्यक्ति ऐसी क्रिया करना चाहता है जिससे उसे पुरस्कार प्राप्त हो अर्थात कार्य व्यक्ति के लिए अर्थहीन और व्यर्थ का है । अत: स्वयं अपने ही कार्य से व्यक्ति को आज अलगाव हो गया हे । यह अलगाव उसे स्वयं के कार्य क्षेत्र से दूर हटा देता है । यही अलगाव की दशा है । पहले व्यक्ति जैसे कुम्हार कोई बर्तन व खिलौने बनाता था तो उसकी अपनी रचनात्मकता थी । उसे अपने कार्य के प्रति लगाव व अनुराग था वह यह जानता था उसका यह कार्य उसकी आशाएँ एक सूत्र में बंधी हुई थी उसके कार्य के जो भी अच्छे बुरे परिणाम निकलते थे वे उसके अपने थे पर आज यह भावना टूट चुकी है । क्योकि न तो कार्य उसका है और न ही परिणाम वह तो केवल एक साधन मात्र है । इसी कारण उसमें अलगाव की भावना पैदा होने लगी है । यह अलगाव है ।

15.3.2 अर्थहीनता

अलगाव का प्रयोग कभी -कभी अर्थहीनता के संदर्भ में भी होता है । इस संदर्भ में प्रयोग करने वाले समाजशास्त्रियों में एडॉरनो केण्ट्रिल तथा कार्ल मेनहींम प्रमुख हैं । मेनहींम ने अलगाव को समझाने के लिए प्रकार्यात्मक तर्क संगतता की वृद्धि और वास्तविकता तर्क संगतता के द्वारा प्रस्तुत किया है । इनका कहना है कि जैसे - जैसे समाज व अपने सदस्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु विकसित तकनीकि को जुटाने का प्रयास करता है । यानी जैसे - जैसे समाज व समुदाय की प्रकार्यात्मक तर्क संगतता में वृद्धि होती है वैसे ही वैसे व्यक्ति को अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अपनी सूझबूझ के आधार पर वास्तविक तर्क संगत कार्य की क्षमता कम होती जाती है । दूसरे शब्दो में हम यह कह सकते हैं कि जैसे - जैसे वृहतर सामाजिक संगठन व व्यवस्था का प्रकार्यात्मक महत्व बढता जाता है । वैसे वैसे ही व्यक्ति एक अजनबी बनकर रह जाता है ।

अर्थहीनता को हम एक दूसरे तरीके से भी समझ सकते हैं । जैसे व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है और उस रूप में उसकी अनेक आवश्यकताएं भी होती हैं । अगर समाज अविकसित होता है तो व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं अपनी सूझबूझ, बुद्धि व कार्यकुशलता के आधार पर करनी पडती है । यद्यपि इस मामले में उसे समाज द्वारा उपलब्ध साधनों की सहायता मिल जाती है । जैसे -जैसे समाज विकसित होता है, वैसे वैसे मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन भी विकसित हो जाते हैं । फिर एक समय ऐसा आता है कि समाज में उपलब्ध साधन इतने अधिक संगठित व सशकुशल हो जाते हैं कि वे स्वयं ही अपने सदस्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त होते हैं । जब ऐसी अवस्था आ जाती है तब व्यक्ति का प्रकार्यात्मक महत्व कम हो जाता है । क्योंकि समाज द्वारा उपलब्ध साधनों आवश्यकताओ की पूर्ति हेतु सूझ बूझ बुद्धि व कार्यकुशलता की आवश्यकता नहीं होती है । इस अर्थहीनता के कारण समाज के प्रति लगाव कम हो जाता है।

इस प्रकार अलगाव का तात्पर्य सामाजिक घटनाओं के संदर्भ में व्यक्ति की प्रभावहीनता है । जब व्यक्ति जो भी निर्णय लेता है । और उनका कोई अर्थ नहीं होता है तो ऐसी स्थिति

में व्यक्ति की प्रभावहीनता में वृद्धि होती है और व्यक्ति का सामाजिक परिस्थितियों व घटनाओं के कारण अपने प्रति लगाव खत्म हो जाता है । और उससे यह भावना घर कर लेती है कि केवल सामाजिक मामलों में ही नहीं स्वयं के मामलो में भी अधिक महत्वपूर्ण नहीं है । वह अपने जीवन को अर्थहीन समझने लगता है और उसमें अलगाव की भावना पनपने लगती है । कई बार वह समाज विरोधी कदम उठाकर अपने जीवन का अन्त भी कर लेता है । यही अर्थहीनता शक्तिहीनता को भी जन्म देती है, जिसे हम आगे स्पष्ट करेंगें ।

15.3.3 शक्तिहीनता

अर्थहीनता ही शक्तिहीनता को जन्म देती है । जब सामाजिक घटनाओं के सम्बन्ध में व्यक्ति का निर्णय अर्थहीन हो जाता है, तो सामाजिक घटनाओं पर उसका नियंत्रण समाप्त होने लगता है, और वह शक्तिहीन होता चला जाता है । अलगाव का सम्बन्ध शक्तिहीनता से भी है । इस पद का प्रयोग कार्ल मार्क्स ने सर्वहारा वर्ग की स्थिति का स्पष्ट रूप समझाने के लिए किया है । पूंजीवादी समाज में उत्पादन के साधनों व शक्तियों पर पूंजीपतियो का नियंत्रण होता है । दूसरी तरफ ऐसा वर्ग है जिनका इन पर कोई नियंत्रण नहीं है । वह वर्ग मेहनतकश वर्ग है जो अपने श्रम को बेचता है । इसी के माध्यम से अपनी जीविका चलाता है। मेहनतकश या सर्वहारा वर्ग जब उत्पादन की प्रकिया में अपने श्रम से वस्तु का निर्माण करता है लेकिन उस वस्तु पर उसकी रचनात्मकता नहीं होती है । वह किसी भी प्रकार का निर्णय नहीं ले सकता । उत्पादन के बदले उसे केवल पारिश्रमिक ही दिया जाता है । उसके द्वारा दिये गये किसी भी सुझाव व निर्णय को पूंजीपति नहीं मानता है । इसी कारण उसमें यह भावना घर कर जाती है । कि उत्पादन वह कर रहा है; वह उसका अपना नहीं है । क्योकि उसे अपना कहने का अधिकार प्राप्त नहीं । वह तो एक प्रकार से बाहर का व्यक्ति ही बना रहता है । सभी मामलों पर निर्णय तो पूंजीपति ही लेते हैं । और श्रमिकों को उनके निर्णय को अनिवार्यत: मानना होता है । उसी के अनुरूप उन्हें कार्य करना पडता है इसी कारण श्रमिकों में अलगाव की भावना का जन्म होता है ।

इस प्रकार जब व्यक्ति अपने को अपने ही समूह या समाज से अथवा कारखाने में अपने ही मामलों में शक्तिहीनता पाता है, तब वह उत्पादन में कोई विशेष रूचि नहीं लेता है और आस पास में घटित होने वाली घटनाओं में भी उसकी कोई रूचि नहीं होती है । इससे उसमें अलगाव की भावना पैदा हो जाती है । शक्तिहीनता को अलगाव का प्रमुख कारण मानते हुए सीमेन ने कहा कि -

अलगाव को व्यक्ति की उस आशा या सम्भावना के रूप में समझा जा सकता है कि उसका स्वयं का व्यवहार उन घटनाओं के परिणामों अथवा पुष्टिकरण को निश्चित नहीं कर सकता, जिन्हें कि वह चाहता है । सीमेन द्वारा दिए गए इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि व्यक्ति जिस समूह व समाज में रहता है और जिसका वह सदस्य है । उसमें अपने व्यवहार के द्वारा कुछ विषयों को तय करना चाहता है । लेकिन जब उसकी यह आशा पूरी नहीं होती अथवा एहसास होता है । वह यह भी सोचने को मजबूर होता है कि उसका व्यवहार उसके चारों ओर घटित होने वाली घटनाओं को निश्चित करने में महत्वपूर्ण नहीं है । और उसकी किसी भी

चीज पर आन्तरिक अधिकार नहीं है । इस कारण वह शक्तिहीन है । इसी कारण उसमें अलगाव की भावना पैदा होती है ।

जब व्यक्ति अपने समाज वह समूह को अपना नहीं समझता है और सामाजिक परिस्थितियों उसके समक्ष ऐसी पैदा होती हैं कि उनके अन्तर्गत अपनापन व घनिष्टता पनप नहीं पाती है । तो व्यक्ति अपने को शक्तिहीन समझने लगता है । शक्तिहीनता का प्रयोग अलगाव के संदर्भ में किया जाता है । विशेष रूप से सामाजिक आर्थिक व राजनीतिक क्षेत्र में व्यक्ति की प्रभावहीनता को दर्शाने के लिए किया जाता है । इस प्रकार अलगाव एक प्रकार से वृहद सामाजिक व्यवस्था पर नियंत्रण के मामले में व्यक्ति की शक्तिहीनता है ।

15.3.4 नियमहीनता

अलगाव को नियमहीनता के संदर्भ में भी देखा जाता है । रोबर्ट के. मर्टन ने नियमहीनता के संदर्भ में ही अलगाव की प्रक्रिया को देखने का प्रयास किया है इनका कहना है । कि प्रत्येक समाज के अपने कुछ निर्धारित लक्ष्य होते है । उन्हें संस्थागत स्वरूप प्रदान कर दिया जाता है साथ ही उन लक्ष्यों की पूर्ति हेतु कुछ संस्थागत साधनों को भी प्रस्तुत किया जाता है । जब इन संस्थागत लक्ष्यों व साधनों के बीच तालमेल टूट जाता है तो ऐसी स्थिति में समाज में नियमहीनता पैदा है । जाती है । कहने का आशय है कि जब संस्थागत लक्ष्यों व साधनों के बीच संघर्ष की स्थिति पैदा है । जाती है । तब समाज में अनुरूपता नहीं रह पाती और संघर्ष पैदा हो जाता है । और नियमहीनता पनपने लगती है । इस स्थिति का सीधा प्रभाव व्यक्ति के आचरण पर पडता है । और वह विचलनपूर्ण व्यवहार करने लगता है। उसका आचरण विसंगति पूर्ण हो जाता है ।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि नियमहीनता सांस्कृतिक लक्ष्यों व संस्थागत साधनों के बीच संघर्ष के फलस्वरूप उत्पन्न व्यक्ति के प्रतिकूल आचरण की अवस्था है । यह स्थिति उस समय उत्पन्न होती है । जब मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के स्थापित लक्ष्य व साधन कालातीत हो जाते हैं और उनकी पालना करना व्यर्थ समझा जाने लगता है । लेकिन दूसरी तरफ समाज में हो रहे सामाजिक परिवर्तन के अनुरूप नवीन लक्ष्य व साधनों का निर्माण नहीं हो पाता है तो समाज में एक असंतुलन की स्थिति पैदा हो जाती है व्यक्ति यह नहीं समझ पाता है कि उसे क्या करना चाहिए या किस तरह से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करनी चाहिए फलस्वरूप व्यक्ति नियमो की परवाह नहीं करता है और मनमाने तरीके से समाज में आचरण करने लगता है । यही स्थिति नियमहीनता की है । रोबर्ट मर्टन ने अपनी पुस्तक सोशल थ्योरी एवं सोशल स्ट्रक्चर में लिखा है कि किसी भी सामाजिक संरचना का प्रमुख कार्य यह होता है कि समाज के सदस्यों के सामाजिक व्यवहारों में एकरूपता पैदा करना है । ताकि समाज के सदस्यों द्वारा किये जा रहे व्यवहारों की भविष्यवाणी की जा सके । लेकिन जब सामाजिक संरचना के संस्थागत लक्ष्यों एवं संस्थागत साधनों के बीच असंतुलन की स्थिति पैदा हो जाती है तब नियमहीनता की दशा जन्म लेती है ।

समाज में होने वाले इस असंतुलन का शिकार समाज के सदस्य होते हैं । उनकी प्रमुख महत्वाकांक्षा यह होती है कि समाज में नये लक्ष्य बनने चाहिए लेकिन दूसरी तरफ उन्हें उनको प्राप्त करने में संस्थागत साधन प्राप्त नहीं हो पाते है । तब ऐसी अवस्था में सामाजिक संरचना

व समाज के नियमों से अपना सम्बन्ध तोड लेना ही बेहतर समझता है । दूसरे शब्दो में व्यक्ति समाज के नियमों की परवाह नहीं करता है । और मनमाने तरीके से कार्य करने लगता है । दोनो ही दशाओं में व्यक्ति अपने समाज व समूह से अलग -थलग पड जाता है । वह समाज का सदस्य होते हुए भी अपने आपको उससे अलग मानने लगता है और यही अलगाव की स्थिति है ।

15.3.5 पृथकता

अलगाव को कई बार विरसन व परकीयकरण भी कहा जाता है । नेटलर ने अलगाव को प्रक्रिया को पृथकता के साथ जोडा है । इनके अनुसार "पृथकता वह स्थिति है जब व्यक्ति में अपने समाज व संस्कृति के प्रति अलगाव की भावना पैदा होती है । व्यक्ति में संस्था व संस्कृति से पृथक होने की भावना इस कारण पैदा नहीं होती है कि समूह अथवा समाज या सामाजिक परिस्थितियों से उसका पूर्णरूप से अनुकूलन नहीं हो पाया है । बल्कि इस कारण है कि समाज और संस्कृति के द्वारा जिन मूल्यों को बहुत अधिक महत्व दिया जाता है । उन मूल्यों व विश्वासों को व्यक्ति अपनी समझ से अधिक महत्व नहीं देता है । और उन मूल्यों को कम महत्व देता है । यहां हम पृथकता को समझने के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत करेगें । आपने यह देखा होगा कि समाज के बुद्धिजीवी अपने आपको अधिक शिक्षित ज्ञानी और विवेकी समझते हैं । वे सामाजिक घटनाओं का विश्लेषण व मूल्यांकन अपने -अपने दृष्टिकोण से करते हैं । उनका यह मानना होता है कि उनके द्वारा किया गया मूल्यांकन एकदम सही और वस्तुनिष्ठ है । इसी भावना से प्रेरित होकर बुद्धिजीवी अपने को अपने समाज, समूह संस्कृति से पृथक कर लेता है और अपने एक अलग दुनिया में विचरण करता है । कई बार ऐसी प्रक्रिया एक उग्र रूप धारण कर लेती है । और व्यक्ति सामाजिक नियमों मूल्यों और आदर्शो की खिलाफ विद्रोह की भावना पनपने लगती है । इस विद्रोही भावना के कारण व्यक्ति समाज में प्रचलित लक्ष्यों व मानदण्डों से अपने को पृथक मान लेता है ।

विद्रोह की यह भावना व्यक्ति को पुराने उद्देश्यों मूल्यों को उखाड फेंकने और नये उद्देश्यों मूल्यों व मानदण्डों को स्थापित करने पर जोर देती हैं लेकिन इस प्रकार की श्रेणी से व्यक्ति अपने आपको समाज व संस्कृति से पृथक कर लेता है । और उनके प्रति अलगाव की भावना का जन्म होने लगता है । यही अलगाव की स्थिति है ।

इस प्रकार हमने यहां पर अलगाव के विभिन्न सिद्धान्तों का उल्लेख किया है । अध्याय के अगले भाग में हम अलगाव के कारणों को प्रस्तुत करेंगे ।

15.4 अलगाव के मुख्य कारण

जब हम अलगाव के कारणों को जानने की कोशिश करते हैं तो अलगाव के संदर्भ में संक्षेप रूप में यह कह सकते हैं कि अलगाव ऐसी प्रक्रिया है जिससे व्यक्ति में विरक्ति की भावना पैदा हो जाती है । व्यक्ति स्वयं सामाजिक व्यवस्था से कटा हुआ अथवा अलग -थलग महसूस करता है एक प्रकार से उसकी सामाजिक सहभागिता समाहा हो जाता है । यहां यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि मनुष्य को अपने ही द्वारा उत्पादित वस्तुओं, अपनी सामाजिक

व्यवस्था एवं अपने ही सामाजिक सम्बन्धों से विरक्ति या अलगाव क्यों हो जाता है । यहां हम अलगाव के कुछ प्रमुख कारणों को प्रस्तुत करेगें ।

1. **वृहद आकार का समुदाय** - अलगाव आधुनिक, जटिल, एवं अवैयक्तिक समाज की व्यवस्था ही उपज है । विकास के साथ -साथ समुदाय का स्वरूप भी वृहद हुआ है । इस कारण व्यक्ति उस समुदाय में एक अजनबी व्यक्ति के रूप में रहने लगता है वह उस समुदाय का सदस्य होते हुए भी उसका सदस्य नहीं बन पाता है दूसरे शब्दों में अपने आपको भीड में अकेला पाता है । इस कारण कई बार व्यक्ति में अलगाव की भावना विकसित होने लगती है। व्यक्ति जब अपनी भावना व विचार किसी के भी सामने अभिव्यक्ति नहीं कर पाता है । क्योंकि किसी भी व्यक्ति के पास उसके पुराने विचार सुनने का समय नहीं हो । तो वह अलगाव की भावना से घिर जाता है ।

2. **सामाजिक विविधताएं** - अलगाव का एक मुख्य कारण समाज में पायी जाने वाली विविधताएं हैं । आज वैश्वीकरण के कारण समाज में भिन्न -भिन्न जातियाँ, धर्म, सम्प्रदाय, प्रजातियां तथा विभिन्न राष्ट्रों के लोग एक साथ रहते हैं । इन सभी की अपनी अलग -अलग प्रथाएँ परम्पराएं मानदण्ड मूल्य तथा जीवन प्रतिमान होते हैं । इन सभी के एक साथ रहने से समाज में सामाजिक भिन्नताएँ विकसित होती है । इन्हीं विविधताओं के कारण व्यक्ति अपनी पहचान खोने लगता है और उस समूह में अपने आपको परदेशी समझने लगता है इस स्थिति के कारण भी अलगाव की भावना पनपने लगती है ।

3. **तीव्र सामाजिक परिवर्तन** - इस कारण भी समाज के सदस्यों में अलगाव की भावना का विकास होता है । जब परिवर्तन की गति तीव्र होती है सामाजिक आवश्यकताओं में इसी गति से परिवर्तन नहीं हो पाते । जब व्यक्ति इन परिवर्तनों व आवश्यकताओं के साथ तालमेल स्थापित नहीं कर पाता है तब वह अपने आपको पिछडा हुआ समझने लगता है । तब वह जिस समुदाय में रह रहा है वही उसे अजनबी लगने लगता है और उसमें अलगाव की प्रक्रिया का प्रारम्भ होने लगता है ।

4. **औपचारिक तथा अवैयक्तिक सम्बन्ध** - यह भी अलगाव का एक महत्वपूर्ण कारण है । आज समाज में व्यक्ति कार्यो पर अधिक ध्यान देता है सामाजिक व सामूहिक कार्यो के प्रति उसकी रूचि बहुत कम होती है । इस कारण व्यक्ति अपने स्वार्थो व हितों की पूर्ति करने में लगा रहता है । उसका अन्य व्यक्तियों से कोई अनौपचारिक व वैयक्तिक सम्बन्ध नहीं है । तो वह तो केवल उन लोगो से ही घनिष्ठ सम्बन्ध रख पाता है जो उसके प्राथमिक नातेदार व मित्र मण्डली है । आज तीव्र सामाजिक परिवर्तन के कारण अनौपचारिक व वैयक्तिक सम्बन्ध नहीं दिखायी देते और व्यक्ति अकेला हो जाता है । तो उसमें अलगाव की प्रक्रिया विकसित होने लगती है । आजकल समूह के सदस्यों का वास्तविक सम्बन्ध छुओं और चले जाओ (Touch and Go) की प्रकृति का होता है । ऐसे सम्बन्धों में न तो आन्तरिक होती है और न ही घनिष्टता । इस कारण वह अपने आपको अकेला पाता है तो उसका समाज व समूह के प्रति अलगाव बढता चला जाता है ।

5. **संरचनात्मक एकता का क्षरण** - एरिक फॉम ने अलगाव का कारण संरचनात्मक एकता के क्षरण को माना है जैसा आप जानते हैं । कि सामाजिक संरचना का निर्माण विभिन्न

इकाईयों से मिलकर होता है, जैसे व्यक्ति समूह, संस्थाएं इत्यादि इन इकाइयों में आपस में प्रकार्यात्मक एकता होनी चाहिए जब यह एकता व सह सम्बन्ध किसी भी कारण से कमजोर हो जाता है । तो उसका प्रभाव व्यक्ति के व्यवहार पर भी पडता है । वह अपने को सम्पूर्ण व्यवस्था से कटा हुआ पाता है । इसी कारण व्यक्ति में अलगाव की भावना प्रारम्भ होने लगती है ।

6. **संरचनात्मक विभेदीकरण** - आधुनिक समाज में परिवर्तन तीव्र होने के कारण समाज में नवीन समूहों, वर्गो का निर्माण हो रहा है । समाज के सदस्य विभिन्न आधारों पर अनेक छोटे -छोटे समूहों में विभाजित हो रहे हैं । और प्रत्येक समूह व वर्ग का अपना उददेश्य व कुछ हित होते हैं वे इसी के माध्यम से अपने हितों की पूर्तिr करना चाहते हैं । इसका परिणाम यह होता है कि समाज के विभिन्न समूहों व सदस्यों के बीच घनिष्ट सम्बन्ध नहीं पनप पाते है और आपस में दूरियां विकसित हो रही हैं । यही स्थिति व्यक्ति में अलगाव की प्रक्रिया पर डल देती है । इस प्रकार हम कह सकते है कि संरचनात्मक विभेदीकरण से भी अलगाव पैदा होता है । जिस कारण समाज के सदस्यों के बीच घनिष्टता की भावना पैदा नहीं हो पाती और सभी किसी न किसी आधार पर अपने हितों की पूर्ति करना चाहते हैं ।

7. **सामाजिक गतिशीलता** - अलगाव का एक कारण सामाजिक गतिशीलता में वृद्धि भी है । पहले समाज में गतिशीलता धीमीगति से होती थी पहले परम्परागत व्यवसाय लोग करते थे और उन्हे बदलते नहीं थे लेकिन आधुनिकीकरण के कारण अपने व्यवसाय बदल रहे है । एक स्थिति से दूसरी स्थिति प्राप्त कर रहे हैं । एक स्तर से दूसरे स्तर तथा एक स्थान से दूसरे स्थान पर गतिशील हो रहे हैं । इस कारण परम्परागत समाज प्रभावित हो रहा है । और नये - नये व्यवसाय उद्योग धन्धों तथा कार्य के अनेक अवसर पैदा हो रहे हैं । इन सभी ने समाज को बदलने में मदद की है । इसका दुष्परिणाम यह हो रहा है कि समाज में अन्य संस्थाओं व समूहों के साथ सांमजस्य स्थापित नही कर पा रहा है । इस कारण उसमें अलगाव की भावना पैदा हो रही है । यह भी हो सकता है कि इस गतिशीलता के परिणामस्वरूप उत्पन्न नई परिस्थितियों से व्यक्ति सही प्रकार से अनुकूलन नहीं कर पाये और स्वयं ही अपने आप से व समाज से विलग कर लें ।

8. **प्राथमिक नियंत्रण शिथिल होना** - समाज में औद्योगिक विकास के कारण अनेक नये -नये कल कारखाने खुल रहे हैं । इस कारण व्यक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान पर प्रवास करता है जिससे धर्म, परिवार, मित्र मण्डली, अथवा नातेदार जो व्यक्ति के व्यवहार व आचरण को नियंत्रित करते थे वह नहीं कर पा रहे है । व्यक्ति परिवार व अपने समुदाय से जब पृथक या दूर निवास करता है तो उसके मन में अनेक विचार पैदा होते हैं और वह समाज से दूरी बनाने का प्रयास करता है । साथ ही द्वैतीयक समूहों का सदस्य बन जाता है । वहां केवल अपने सीमित हित व उद्देश्यों को प्राप्त करता है । ये द्वैतीयक समूह व्यक्ति पर प्रभाव नियंत्रण नहीं रख पाते हैं । आधुनिक जटिल समाजों में बडे -बडे कल कारखाने, विश्वविद्यालय श्रमिक संघ इत्यादि होते हैं । जो कि व्यक्ति के घनिष्टता के अभाव वाले अनुभवों को प्रदान करते हैं । साथ ही द्वैतीयक व औपचारिक सम्बन्धों के कारण व्यक्ति शक्तिहीनता को अनुभव करता है इन द्वैतीयक समूहों में उसे प्रेमं, संवेदना, सहानुभूति, अथवा मित्रता नहीं मिल पाती है । इनके

लिए वह एक अजनबी ही बना रहता है। साथ ही द्वैतीयक नियंत्रण के साधनों जैसे कानून, पुलिस, न्यायालय, सेना आदि को भी व्यक्ति अपना नहीं सोच पाता है इस कारण भी अलगाव की प्रक्रिया जन्म लेती है ।

इस प्रकार हमने अलगाव के मुख्य कारणों का उल्लेख किया है । आधुनिक औद्योगिक समाजों में ये सभी कारण पाये जाते हैं । इसी कारण अलगाव की प्रक्रिया अधिकतर जटिल व नगरीय समाजों में अधिक दिखायी देती है । अत: हम इस इकाई के अगले भाग में अलगाव पर कार्ल मार्क्स राइसमेंन तथा फॉम के विचारों का संक्षेप में प्रस्तुत करेंगे ताकि आप इस अवधारणा को और भी स्पष्ट रूप से समझ सकें ।

15.5 अलगाव पर कार्ल मार्क्स का दृष्टिकोण

पूँजीवादी व्यवस्था में चाहे वह दुनिया के किसी भी कोने में है । श्रमिक की स्थिति किसी भी भवन में लगाये जाने वाले पत्थर के उन चौखटो की है जिसे कारीगर चाहे तो फर्श पर लगा दे और चाहे तो पूजा के स्थल पर । पत्थर के ये टुकडे बेजान हैं । उन्हें तो तराशा ही जाता है । जब पत्थर तराश लिए जाते है तब कारीगर अपनी मनमर्जी से कही भी लगा देता है । कार्ल मार्क्स ने अपनी कृति दास कैपिटल में अलगाववादी श्रमिकों की चर्चा विस्तार से की है । इस सम्बन्ध में इरविंग जेटलिन का कहना है कि कार्लमार्क्स को इस कृति का नाम अलगाव रख लेना चाहिए था यह इसलिए कि केपिटल में मार्क्स ने यह विस्तारपूर्वक बताया है कि पूंजीवादी व्यवस्था का निरन्तर विकास होता रहता है । इसका कारण बढती हुई उत्पादन शक्तियां और बुनियादी उत्पादन सम्बन्ध है । इस सम्बन्ध में मार्क्स ने यह स्पष्ट किया कि पूंजीवादी विकास के साथ जीवन की दशाओ में बहुत तेजी से परिवर्तन आया है । ज्यों -ज्यों पूंजीवाद की वृद्धि हुई है । त्यों -त्यों कारखानो व मिलो में काम करने वाले श्रमिकों में अलगाव आया है । दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं । कि औद्योगीकरण ने अलगाव की प्रक्रिया को तेज किया है । पहले सरल व ग्रामीण समाज था जहां प्राथमिक सम्बन्धों का बोलबाला था । जहां व्यक्तिवादिता से उपर सामूहिकता थी व्यक्ति समाज के हित को महत्व देता था । ऐसा करने में व्यक्ति को कोई संकोच नही होता था व्यक्ति और समाज के बीच पूर्ण एकात्मकता थी लेकिन औद्योगीकरण के कारण इन सभी का महत्व कम हो गया । सरल समाज और जटिल हो गये और पारस्परिक कर्तव्यबोध समाप्त होने लगा सामूहिकता के स्थान पर व्यक्तिवादिता आने लगी ।

मार्क्स ने कहा कि औद्योगीकरण के कारण अलगाव की स्थिति आरम्भ हुई है । औद्योगिक नगरो के विकास के कारण व्यक्ति अपने आपको समुदाय में अकेला पाता है । यही अकेलापन व्यक्ति में अलगाव का जन्म देता है । जब मानव की ऐसी स्थिति हो जाती है तब उसमें सामाजिक अवस्थाओं के प्रति उदासीनता विराग, खालीपन का अभाव जीवन के उद्देश्य के प्रति उत्साह की कमी आदि उत्पन्न हो जाती है । यही अलगाव का एक मूर्त स्वरूप है ।

औद्योगीकरण के कारण समाज में परिवर्तन की गति तीव्र हो जाती है । इस कारण व्यक्ति की आवश्यकताओं में भी वृद्धि है । जाती है और नवीन आवश्यकताएं जन्म लेने लगती है इन आवश्यकताओं की पूर्ति पुरानी मान्यताओं आदर्शो व सामाजिक साधनों द्वारा होने में कठिनाई महसूस होती है कई बार ये पुराने साधन अप्रासंगिक हो जाते है जब व्यक्ति के

व्यवहार को नियंत्रित करने के लिए पुराने साधन अप्रासंगिक हो जाते है । तब समाज में नियमहीनता पनपती है साथ ही व्यक्ति का सामाजिक मूल्यों, आदर्शो व मान्यताओं के साथ कुछ लगाव नहीं रह जाता । अलगाव की प्रक्रिया तभी जड पकडती है । इस प्रकार हम कह सकते है कि औद्योगीकरण अलगाव की प्रक्रिया को पैदा करने में सहयोग देता है । कार्ल मार्क्स ने यह भी कहा है कि औद्योगिक समाज में आर्थिक शक्ति और उसके आधार पर राजनीतिक व सामाजिक सत्ता या शक्ति भी पूंजीपतियों व उद्योगपतियों के हाथों में केंद्रित हो जाती हैं । समाज के बडे वर्ग के पास शक्ति का केन्द्रियकरण नहीं होता है । इस कारण इस वंचित वर्ग में शक्तिहीनता पनपती है । इससे उसमें उदासीनता व अलगाव का जन्म होता है ।

आधुनिक समाज में प्रतियोगिता पायी जाती है । प्रत्येक व्यक्ति का प्रयास यह रहता है कि वह अधिक से अधिक सुखसुविधाएं धन, यश, व सत्ता प्राप्त कर लें । हर क्षेत्र में दूसरे को पछाडकर अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लें । यह कार्य केवल पूंजीपति वर्ग ही कर पाता है । श्रमिक वर्ग तो केवल अपने जीवन यापन के बारे में सोचता है । उसे अपनी उन्नति करने के अवसर प्राप्त नहीं हो पाते है । तो उसका लगाव समाज व समूह से कम हो जाता है । उन्हे हर चीज अर्थहीन लगती है । व धीरे -धीरे वह समाज व समूह से पृथक हो जाता है । पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था में पूंजीपति शोषण करता है । यह शोषण व्यक्ति द्वारा किया जाता है और गरीबों को और अधिक गरीब बनाने की व्यवस्था होती है ।

जब श्रमिक पूंजीपति के कल कारखाने में कार्य करता है, तब उसके द्वारा उत्पादित वस्तु पर कोई आधिपत्य नहीं रहता है । पूंजीपति उसको परिश्रम के बदले वेतन या पगार देता है । जिससे वह अपनी बुनियादी आवश्यकताओं को पूरा कर पाता है । पूंजीपति श्रमिक द्वारा किये गये उत्पादन का पूर्ण मालिक हो जाता है और अधिक से अधिक लाभ कमाता है। इस कारण पूंजीपति तो ऐश करता है और श्रमिक दिन रात अपना श्रम बेचता है । इस कारण श्रमिक का उद्योग धन्धों व उत्पादित वस्तु से कोई लगाव नहीं होता है । इस अलगावपन के कारण ही वह उसमें परायेपन की भावना विकसित होती है ।

15.6 अलगाव पर राइसमेन व फ्रॉम के विचार

डेविस राइसमेन तथा एरिच फ्रॉम ने व्यवरिथत रूप से अलगाव की व्याख्या की है । इन्होंने विसंगति की स्थिति को अलगाव से जोडकर एक समन्वित विचार को प्रस्तुत किया है। राइसमेन ने स्पष्ट तौर पर कहा कि आज का समाज एकाकी भीड है । यह ऐसी स्थिति है । जिसमें अनेक प्रकार के संकट जन्म लेते हैं । इस कारण सामाजिक जीवन में असंतुलन की स्थिति पैदा हो जाती है । समाज में व्यक्ति पुरातन मान्यताओं और आदर्शो को न तो छोड पाता है और न ही उन्हे पूरी तरह से अपना पाता है दोनो से वह निरंतर कटा -कटा सा रहने लगता है । यानि व्यक्ति भीड में अकेला होता है ।

राइसमेन का मानना है कि आधुनिक द्वैतीय समाज में सदस्यों का पारस्परिक सम्बन्ध घनिष्ट या प्राथमिक नहीं होता है । अधिकांश लोगो के साथ उसका सम्बन्ध अवैयक्तिक व औपचारिक होता है । इस कारण न तो वह दूसरो के सुख दुख में साथी हो पाता है और न ही दूसरे व्यक्ति उसका साथ निभा पाते हैं । इस कारण उसे स्नेह, सहानुभूति और प्यार नहीं मिल पाता । परिणामस्वरूप व्यक्ति समाज में गुमनाम जीवन व्यतीत करता है । वह दूसरी के साथ

तालमेल स्थापित नहीं कर पाता है । जिससे उसमें अलगाव की भावना पैदा हो जाती है । यही अलगाव की स्थिति है ।

फ्रॉम ने इसी संदर्भ में कहा कि ''अलगाव का अर्थ अनुभव के उस तरीके से है जिसमें कि एक व्यक्ति अपने को एक परदेशी के रूप में अनुभव करता है । ऐसी दशा में हम कह सकते हैं कि वह स्वयं अपने से भी विलग हो । गया है ।'' अलगाव को और अधिक स्पष्ट करते हुए इन्होंने कहा कि अलगाव की दो स्थितियां हैं पहली तो यह कि व्यक्ति अपने से विलग हो जाता है और दूसरी यह कि व्यक्ति समाज से विलग हो जाता है । इनकी मान्यता है कि व्यक्ति कभी भी समाज से विलग नहीं होता है वह तो अपने आप से विलग होता चला जाता है । समाज के साथ तो उसकी एकता व सम्बन्ध बना ही रहता है । फ्रॉम के ये विचार समाजशास्त्रीय परम्परा के एक दम विपरीत है । क्योंकि समाजशास्त्रियों की यह मान्यता है कि व्यक्ति हमेशा समाज से अलग -थलग पड जाता है । तो अलगाव पैदा होता है । इन्होने यह भी कहा कि व्यक्ति का प्रकृति से अलग होना अलगाव का सार तत्व है । इस प्रकार की अलगाव की स्थिति उस समय पैदा होती है । जब व्यक्ति अपने को पूरी तरह से प्रकृति से सम्बन्धित नहीं रख पाता है । अगर कोई व्यक्ति प्रकृति से परे या पराया होकर रहता है । तो उसका जीवन अर्थहीन हो जाता है ।

15.7 सारांश

इस इकाई में हमने अलगाव की प्रक्रिया के सिद्धान्त व अवधारणा का विस्तार से विवेचन प्रस्तुत किया है । अलगाव की अवधारणा में बराबर विविधता रही है । इस विविधता के होते हुए भी किसी भी अंतिम विश्लेषण में अलगाव वह अवस्था है । जिसमें व्यक्ति स्वयं से ही विमुख हो जाता है । मनुष्य का जो सार और अलगाव की अवस्था हैं । दूसरे शब्दो में हम कह सकते हैं कि जब व्यक्ति स्वयं अलगाव की अवस्था में होता है । तो वह निम्न प्रकार का गतिविधियां संचालित करता है यह गतिविधि ही उसका अलगाव है -

- अलगाव की अवस्था में अपनी मानवीय प्रकृति से दूर हो जाते हैं ।
- ये व्यक्ति अपने स्वयं से अपनी कार्य प्रणाली से अपने जीवन की गतिविधि से टूटते जाते हैं । जीवित रहते हुए भी ये व्यक्ति अपने सामाजिक आर्थिक जीवन से बेखबर रहते हैं ।
- अलगावयुक्त व्यक्ति अपने आपको अपने शरीर से भी नहीं जोडते हैं । एक तरह से उनका सम्पूर्ण मानस ही सुन्न हो जाता है ।
- यह ऐसी विनाशकारी अवस्था है जिसमें एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति और व्यक्तियों से दूर हो जाता है । उसके आस -पास क्या घटनाएं घटित हो रही है उससे भी पूर्णरूप से अनभिज्ञ रहता है । उसके स्वयं के शरीर के सभी अंगों में टूटन रहती है । तब भी वह इससे सरोकार नहीं करता ।
- अलगाव के कारण व्यक्ति का अमानवीयकरण हो जाता है क्योंकि श्रमिक उसके स्वयं के श्रम से निर्मित वस्तुओं से अपने आपको अलग रखता है । वह अपने आपको शक्तिहीन व गुलाम समझता है । और स्वयं से बेखबर हो कर उत्पादन की प्रक्रिया में जुटा रहता है ।

15.8 शब्दावली

अलगाव - इस अवधारणा का प्रयोग प्रजातिक पूर्वाग्रह मानसिक बीमारी, वर्ग -चेतना, औद्योगिक तनाव, राजनैतिक उदासीनता, अतिवादिता, उग्रवादिता आदि समस्याओं की व्याख्या में किया गया है ।

स्वअलगाव - व्यक्ति स्वयं से भी विलग हो जाता है ।

अर्थहीनता - जब व्यक्ति का प्रकार्यात्मक महत्व कम हो जाता है तो अर्थहीनता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है ।

शक्तिहीनता - जब सामाजिक घटनाओं के सम्बन्ध में व्यक्ति का निर्णय अर्थहीन हो जाता है । तो सामाजिक घटनाओं पर उसका नियंत्रण समाप्त होने लगता है और वह शक्तिहीन होता चला जाता है ।

15.9 बोध प्रश्न

1. अलगाव को परिभाषित कीजिए ।
2. अलगाव को विभिन्न सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए ।
3. अलगाव की प्रक्रिया क्यों प्रारम्भ होती है? कुछ महत्वपूर्ण कारणों की व्याख्या कीजिये।
4. कार्ल मार्क्स ने अलगाव की प्रक्रिया को किस भांति स्पष्ट किया है? समझाइये ।
5. अलगाव पर राइसमेन एवं फ्रॉम के विचारों को समझाइये ।

15.10 संदर्भ ग्रन्थ

1. दोषी एस.एल एवं जैन, पी. सी. प्रमुख समाजशास्त्रियों विचारक, रावत पब्लिकेशन, जयपुर 2001
2. मुकर्जी, रविन्द्रनाथ, समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, विवके प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997
3. Aron, Raymond, Main Currents in Sociological Thoughts, Penguin Books,1965
4. Haralambos and Holborn, Sociology, Themesa and perspectivesa (ped.) Collins, 2000

इकाई - 16

टालकट पारसन्स : प्रतिमानचर, क्रिया सिद्धान्त एवं व्यवस्था सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 टालकट पारसंस

16.2.1 परिचय

16.2.2 समाजशास्त्र के लिए योगदान

16.3 पेटर्न वेरीयबल (प्रतिमान चर)

16.4 क्रिया सिद्धान्त

16.4.1 सामाजिक क्रिया का अर्थ

16.4.2 सामाजिक क्रिया के आवश्यक तत्व

16.5 व्यवस्था सिद्धान्त

16.5.1 व्यवस्था के पूर्व आवश्यक तत्व

16.5.2 क्रिया व्यवस्था

16.5.3 सामाजिक व्यवस्था

16.5.4 सास्कृतिक व्यवस्था

16.5.5 व्यक्तित्व व्यवस्था

16.5.6 व्यवहारात्मक जीववाद

16.6 आलोचना

16.7 सारांश

16.8 शब्दावली

16.9 बोध प्रश्न

16.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

16.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप समझ पायेंगे कि -

- टालकट पार्सन्स की समाजशास्त्रीय विचारकों में क्या पहचान है ।
- टालकट पार्सन्स का समाजशास्त्र के लिए क्या योगदान है ।
- पेटर्न वेरीयबल (प्रतिमान चर) की अवधारणा क्या है ।
- पार्सन्स ने क्रिया सिद्धान्त का किस प्रकार विश्लेषण किया है ।
- व्यवस्था सिद्धान्त के सभी पहलूओं की पार्सन्स ने किस प्रकार से व्याख्या की है

16.1 प्रस्तावना

टालकट पार्सन्स अमेरिका के अग्रणी सिद्धान्तकार समाजशास्त्री के रूप में विख्यात हैं । सन् 1902 में कालोरेडो (अमरीका) में जन्में इस विद्वान ने समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के क्षेत्र में सभी का ध्यान आकृष्ट किया । पार्सन्स का मुख्य उद्देश्य सम्पूर्ण समाजशास्त्र के लिए एक ऐसा अवधारणात्मक ढांचा तैयार करने का था जो. सभी सामाजिक विज्ञानों को एक सूत्र में बांध सके । इसके लिए उन्होंने व्यक्तिगत' क्रिया और वृहद समाज व्यवस्था के विश्लेषण द्वारा इनमें समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया । पार्सन्स का किया सिद्धान्त इसी प्रयास का परिणाम था । सामाजिक स्थिति को वैज्ञानिक तरीके से समझाने के लिए उन्होंने अमूर्त तार्किक अवधारणाओं का प्रयोग किया । क्रिया सिद्धान्त को पार्सन्स ने अपनी प्रथम पुस्तक द स्ट्रक्चर ऑफ सोशल सिस्टम (1937) में प्रस्तुत किया । इसके बाद उन्होंने लेखन की निरन्तरता को बनाये रखते हुए अन्य महत्वपूर्ण अवधारणाएं विकसित की । प्रस्तुत अध्याय में हम पार्सन्स के समाजशास्त्रीय योगदान का विश्लेषण करेंगे ।

16.2 टालकट पार्सन्स

पिछले 50 वर्ष से समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों में अनेक बदलाव आये तथा कुछ नये सिद्धान्त भी विकसित हुए । लेकिन पार्सन्स के योगदान से तत्कालीन समाजशास्त्र समृद्ध हुआ। वर्तमान में भी पार्सन्स के सिद्धान्तों के प्रति सहमति एवं असहमति है । इस प्रकार के सिद्धान्तकार का जीवन परिचय प्रासंगिक हो जाता है ।

16.2.1 परिचय -

टालकट पार्सन्स का पारिवारिक परिवेश धार्मिक और बौधिक था । पार्सन्स ने 1924 में एमहर्स्ट कालेज से पूर्व स्नातक की उपाधि प्राप्त की । लंदन स्कूल आफ ईकानॉमिक्स तथा जर्मनी के हेडल बर्ग विश्वविद्यालय में अध्ययन करते हुए पार्सन्स पर मेक्स वेबर का बौद्धिक प्रभाव पड़ा । हेडल बर्ग विश्वविद्यालय से ही उन्होंने पी. एच. डी. की उपाधि प्राप्त की । पार्सन्स को 1927 में हार्वर्ड विश्वविद्यालय में प्रशिक्षक बनने का अवसर प्राप्त हुआ । इसी विश्वविद्यालय में अलग - अलग विभागों में कार्य करते रहे तथा 1979 में उनकी मृत्यु हो गई ।

अमेरिका के समाजशास्त्र को पार्सन्स ने अपने सिद्धान्त निर्माण से एक नई दिशा प्रदान की । पार्सन्स ने जिन विद्यार्थियों को तैयार किया उनमें किंग्सले डेविस, रोबर्ट के.मर्टन, रोबिन विलियम्स, विलबर्ट मूर आदि ने समाजशास्त्र को नई उँचाइयों पर पहुंचाया । कुछ समाजशास्त्री पार्सन्स के आलोचक भी बने उनमें सी. राइट मिल्स और गुल्डनर प्रमुख थे। प्रकार्यवादियों के लिए पार्सन्स एक आदर्श थे लेकिन संघर्षवादियों ने पार्सन्स की आलोचना की । पार्सन्स पूंजीवादी और यथास्थितिवादी विचारधारा के पोषक थे और परिवर्तन को केवल व्यवस्था के दायरे में ही देखना चाहते थे ।

16.2.2 समाजशास्त्र के लिए योगदान -

क्रिया सिद्धान्त पर पार्सन्स की सबसे पहली पुस्तक 'द स्ट्रक्चर आफ सोशल सिस्टम 1937 में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में दुर्खीम, वेबर, मार्क्स, पेरेटो और मार्शल जैसे योरोप के प्रमुख विचारकों का उल्लेख किया है । पार्सन्स की तीन अमूर्त अवधारणाएं (1) क्रिया सिद्वान्त (2) सामाजिक व्यवस्था और (3) प्रकार्यवाद का विवेचन भी इसी कृति में है । इसके बाद जब पार्सन्स निरन्तर लिखते रहे तब भी इन तीन आवधारणाओं को ही विकसित करते रहे । द सोशल सिस्टम (1951), दुवर्डस ए जनरल थ्योरी आफ एक्शन (1951) एडवर्ड शील्स के साथ, सोसाइटीज: इवोल्यूशनरी एण्ड कम्पेरेटिव पर्सपेक्टिवज (1966) एवं द सिस्टम आफ माडर्न सोसाइटीज (1971) आदि पार्सन्स की उल्लेखनीय पुस्तकें है । इन सभी कृतियों में उन्होंने संरचनात्मक प्रकार्यवाद को विकसित किया है । पार्सन्स के सिद्धान्तों की आलोचना भी हुई लेकिन 1984 में रेण्डाल कालिन्त्य द्वारा सम्पादित पुस्तक में पार्सन्स के क्रिया सिद्धान्त और प्रकार्यवाद में लोगों ने बहुत रूचि दर्शायी ।

16.3 पेटर्न वेरीयबल (प्रतिमान चर)

पार्सन्स ने व्यक्ति के व्यवहार, क्रिया, अन्तःक्रिया को अपने दृष्टिकोण से समझाया है । एक व्यक्ति की अन्य व्यक्ति के साथ अन्तःक्रिया होना एक सामान्य सामाजिक प्रघटना है । इसी सन्दर्भ में जब एक व्यक्ति जिसे कर्त्ता कहते हैं, अन्य व्यक्ति के साथ अन्त: क्रिया करता है तो पार्सन्स के इस कर्ता को ईगो कहा जाता है तथा जिस व्यक्ति के साथ अन्त: क्रिया की, जाती है उस सामने वाले व्यक्ति को आल्टर की संज्ञा दी है । अर्थात् अन्तःक्रिया में ईगो और आल्डर दोनों होंगे तभी अन्तःक्रिया संभव होगी । अब समझना यह है कि अन्त: क्रिया करने वाले ईगो और आल्डर का व्यक्तित्व, सामाजिक व्यवस्था एवम् सास्कृतिक पृष्ठभूमि में भिन्नता हो सकती है । ऐसी दशा मे क्रिया करते समय व्यक्ति के सामने दुविधा या असमंजस की स्थिति उत्पन्न हो जाती है । क्योंकि व्यक्तित्व, सामाजिक व्यवस्था एवम् सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में भिन्नता है । इन तीन व्यवस्थाओं की भिन्नता ही दुविधा या असमंजस का कारण है । पार्सन्स ने व्यवहार या अन्त: क्रिया की इसी दुविधा को पेटर्न वेरीयबल (प्रतिमान चर) कहा है । दुविधा की स्थिति में दो विकल्प सामने होते हैं । दो विकल्पों में से चयन करने का काम भी कर्त्ता को ही करना होता है । इसी के साथ पार्सन्स ने यह भी स्पष्ट किया कि कर्ता का मूल्यों के प्रति एक निश्चित अभिस्थापन अर्थात झुकाव होता है । उन अभिस्थापनों को पार्सन्स ने ध्रुवीय द्विभागीकरण नाम दिया । पेटर्न वेरीयबल को भी केवल द्विभागीकरण कह दिया जाता है । यह द्विभागीकरण निर्भर करता है संस्कृति, मानक और भूमिका व्यवस्था के अभिस्थापनों पर । जैसे हमारे देश में जाति के कुछ प्रथागत मानक हैं । एक व्यक्ति किसी जाति विशेष से है । उसके सामने एक विकल्प तो यह है कि वह अपने बच्चों का विवाह अपनी ही जाति में करे । दूसरा विकल्प यह भी है कि वह अन्य जाति के साथ भी विवाह सम्बन्ध बना सकता है । दुविधा केवल यह है कि परम्परागत जाति के मानदण्डों का पालन करे अथवा परिवर्तन का विकल्प चुने जो कि अन्तर्जातीय विवाह के रूप में है । यहां हम केवल यह समझना चाहते हैं

कि अंतःक्रिया करते समय जो अभिस्थापन या झुकाव होता है उसका आधार संस्कृति, मानक, मूल्य और भूमिकाएं होती है । इसी कारण किसी भी अन्तःक्रिया में मूल्य और संस्कृति का द्विभागीकरण होता है ।

पार्सन्स के अनुसार सांस्कृतिक मूल्यों के दो सेट होते हैं जिनको पेटर्न वेरीयबल 'अ' और 'ब' कहा जा सकता है । इन सेट को निम्न तालिका में प्रस्तुत किया गया है ।

तालिका - 16.1 टालकट पार्सन्स के पेटर्न बेरीयबल की अवधारणा

'अ' पेटर्न वेरीयसबल	पेटर्न वेरीयबल 'ब'
(1) **आरोपण** - प्रस्थिति का आरोपण अर्थात प्रदन्त जब प्रस्थिति का निर्धारण व्यक्ति के परिवार के अनुसार हो जिसमें उसने जन्म लिया।	**उपलब्धि** - वह प्रस्थिति जिसका निर्धारण व्यक्ति के प्रयासों, उसके कठोर परिश्रम और कार्य करने की क्षमता के अनुसार होता है ।
(2) **विसरण** - अनेक प्रकार की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए जो अन्त: क्रिया होती है अर्थात् वृहद स्वरूप वाली अन्तःक्रिया जो बहुआयामी है । जैसे मां और बच्चे का सम्बन्ध।	**विशिष्टता** - जो सम्बन्ध अथवा अन्तःक्रिया किसी विशिष्ट प्रकार की आवश्यकता को ही पूरा करने तक सीमित रहे । जैसे एक ग्राहक और दुकानदार के बीच होने वाली अन्त:क्रिया।
(3) **पृथगात्मकता** - एक व्यक्ति किसी अन्य के साथ भिन्न प्रकार से व्यवहार करता है अर्थात् व्यक्ति सामने वाले को देखकर अपना व्यवहार तदनुरूप करता है । जैसे अपने परिवार के सदस्य के प्रति वफादार होता है लेकिन अनजान व्यक्ति के प्रति नहीं ।	**सर्वव्यापकता** - एक व्यक्ति सर्वव्यापी सिद्धान्तों के अनुसार व्यवहार करता है । अर्थात उसके लिए सब बराबर हैं । जैसे कानून सबके लिए समान होता है । एक शिक्षक परीक्षा में नकल करते पाये जाने वाले अपने ही बेटे को सजा देता है ।
(4) **भावात्मकता** - इसे भावात्मक व्यवहार कहा जाता है जब कोई व्यक्ति तुरन्त आवेश में आ जाता है । तत्काल ही अपनी आवश्यकता को पूरा करना चाहता है ।	**भावात्मक तटस्थता** - इसे हम भावुकता को दबाना कह सकते है। संवेग में न आना अर्थात विवेक पूर्ण व्यवहार करना, नियम, कानून का पालन करते हुए अन्तःक्रिया करना । जैसे एक व्यक्ति अपने आवास गृह का प्रबन्ध करने के लिए रूपयों की बचत करता है ।
(5) **सामूहिक झुकाव** - व्यक्ति की वह क्रिया जिससे अधिक लोगों को लाभ होता है । अर्थात् व्यक्ति का झुकाव व्यक्तिगत हित से उठकर सामूहिक हित के प्रति होता है ।	**स्व -झुकाव** - वह स्थिति जिसमें व्यक्ति की अन्तःक्रिया केवल उसके व्यक्तिगत हित को पूरा करने के लिए केन्द्रित होती है न कि उस समूह के हित के लिए जिसका वह सदस्य है।

उपर्युक्त तालिका पार्सन्स द्वारा प्रस्तुत पेटर्न वेरीयबल को समझने में सहायक है । इस तालिका में मूल्यों का द्विभागीकरण प्रस्तुत किया है इसी के आधार पर पार्सन्स ने क्रिया सिद्धान्त को बनाया तथा सामाजिक व्यवस्था सिद्धान्त की नींव रखी ।

16.4 क्रिया सिद्धान्त -

पार्सन्स ने अपनी पुस्तक द स्ट्रक्चर आफ सोशल एक्शन में सामाजिक किया सिद्धान्त का वर्णन किया है । उनकी सिद्धान्त निर्माण की विधि में सामाजिक क्रिया सिधान्त केन्द्रीय है । इस सिद्धान्त के निर्माण से पूर्व पार्सन्स ने पेरेटो,दुर्खीम और वेबर का विश्लेषण किया । इस विश्लेषण में तीन अवधारणाएं उभर कर सामने आई (1) उपयोगितावाद (2) प्रत्यक्षवाद और (3) आदर्शवाद । पार्सन्स ने तीनों अवधारणाओं का मूल्यांकन किया तथा तीनों को अस्वीकार करके उन्होंने सामाजिक क्रिया सिद्धान्त का सृजन किया ।

16.4.1 सामाजिक क्रिया का अर्थ -

पार्सन्स ने सामाजिक क्रिया के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन किया है । उन्होंने शील्स के साथ लिखी पुस्तक 'टूवर्डस ए थ्योरी ऑफ सोशल एक्शन' में सामाजिक क्रिया को एक स्वैच्छिक क्रिया सिद्धान्त के रूप में समझाया है । स्वैच्छिक को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि कर्त्ता अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उपलब्ध विकल्पों में से उपयुक्त विकल्प का चयन अपनी इच्छानुसार कर लेता है । क्रिया सिद्धान्त का आधार भी यही है कि लक्ष्य प्राप्ति के लिए कर्त्ता के द्वारा सही विकल्प का चयन कर लेना ।

पार्सन्स से पूर्व मेक्स वेबर ने सामाजिक क्रिया की अवधारणा का विश्लेषण किया था। वेबर ने तर्क दिया कि कर्त्ता अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए मूल्य और विवेक का प्रयोग करता है । अर्थात क्रिया वह है जिसके साथ कर्त्ता का अर्थ जुड़ा हो । अतःक्रिया को वेबर ने एक अर्थपूर्ण कोटि कहा । क्रिया को सम्पादित करने के पीछे जो अर्थ होता है उसके द्वारा ही परिभाषित किया जाता है । सामाजिक क्रिया के बारे में वेबर द्वारा प्रस्तुत विवेचना के आधार पर पार्सन्स ने लिखा कि सामाजिक क्रिया वह गतिविधि है जिसका उद्देश्य किसी न किसी लक्ष्य को प्राप्त करना होता है । हम यह भी कह सकते हैं कि सामाजिक क्रिया के लिए गतिविधि महत्वपूर्ण है । व्यक्ति अनेक प्रकार की गतिविधियां करता है । गतिविधि में उर्जा का उपयोग होता है । जैसे पढ़ना, लिखना, चलना, हंसना, बोलना आदि । इन सभी में ऊर्जा खर्च होती है । उल्लेखनीय बात या; है कि जब गतिविधि के साथ कोई लक्ष्य जुड़ जाता है अथवा गतिविधि को लक्ष्य प्राप्त करने के लिये किया जाता है तो यह गतिविधि सामाजिक क्रिया कहलाती हैं । सामाजिक क्रिया में तीन बातें निहित है । (1) गतिविधि (2) ऊर्जा और (3) लक्ष्य ।

पार्सन्स ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि सामाजिक क्रिया को करने वाला एक व्यक्ति भी होता है और समूह भी । इस प्रकार गतिविधि व्यक्ति के द्वारा और समूह के द्वारा होती है । ऐसा भी हो सकता है कि केवल व्यक्ति ही गतिविधि करे अथवा केवल समूह ही गतिविधि करे लेकिन जब एक से अधिक व्यक्तियों के द्वारा गतिविधि की जाती है तो इसे पार्सन्स ने सामूहिकता कहा है ।

16.4.2 सामाजिक क्रिया के आवश्यक तत्व -

सामाजिक क्रिया सिद्धान्त की व्याख्या करने के लिए पार्सन्स ने सामाजिक क्रिया के आवश्यक तत्वों का उल्लेख किया है । इन तत्वों को हम चार भागों में बांट सकते है:(1) कर्त्ता या सामूहिकता (2) लक्ष्य (3) स्थिति या दशा और (4) मानक एवं मूल्य । जैसा कि पार्सन्स ने सामाजिक क्रिया में स्पष्ट किया कि गतिविधि एक व्यक्ति द्वारा हो सकती है अथवा समूह द्वारा । क्रिया का आवश्यक तत्व कर्त्ता है जो कि व्यक्ति या समूह होते हैं । गतिविधि जब लक्ष्य के साथ हो तभी किया होगी अत: लक्ष्य का होना भी आवश्यक है । इसी प्रकार कोई भी क्रिया शून्य में तो संभव नहीं है अर्थात वो किसी स्थिति या दशा में ही होती है और कोई भी क्रिया समाज के मानक एवं मूल्यों से अलगा नहीं होगी । मानक और मूल्यों के अनुसार होने वाली क्रिया ही सामाजिक क्रिया होगी ।

पार्सन्स के द्वारा प्रस्तुत सामाजिक क्रिया के तत्वों की प्रासंगिकता को हम एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं । एक विद्यार्थी अपने घर से मोटर साइकिल लेकर कॉलेज में पढ़ने जाता है । विद्यार्थी कर्त्ता है, अध्ययन करने के लिए जाना उसका लक्ष्य है, कालेज परिसर, अध्ययन कक्ष, पुस्तकालय आदि स्थिति या दशा है एवम् कॉलेज की समय सारणी के अनुसार कक्षा में जाना, मोटर साइकिल को निर्धारित स्थान पर रखना, वाचनालय एवम् पुस्तकालय में परिचय पत्र के साथ प्रवेश करना मानक एवम् मूल्य हैं ।

पार्सन्स ने सामाजिक क्रिया के आवश्यक तत्वों का उल्लेख क्रिया सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए किया । उन्होंने मुख्य बात यह कही कि व्यक्ति लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए क्रिया करता है । उसके सामने लक्ष्यों के विकल्प होते हैं । अपने विवेक द्वारा वह विकल्पों का चयन करता है । यही सामाजिक क्रिया कहलाती है । इसी को क्रिया सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया गया तथा इसी के आधार पर समाज में व्यवस्था का निर्माण होता है । क्रिया सिद्धान्त की पूर्ण व्याख्या करने के पश्चात् पार्सन्स ने व्यवस्था सिद्धान्त को समझाया जिसे हम विस्तार से जानने का प्रयास करेंगे ।

बोध प्रश्न - 1

1. टालकट पार्सन्स के समाजशास्त्रीय योगदान का संक्षिप्त ब्यौरा दीजिए ।
2. पेटर्न वेरायबल की अवधारणा की विवेचना कीजिये ।
3. पार्सन्स द्वारा प्रस्तुत सामाजिक क्रिया सिद्धान्त का विश्लेषण करिये ।
4. निम्नलिखित कथन में से सही () एवम् गलत () पर निशान लगायें ।
   (i) अमेरिका के समाजशास्त्र को पार्सन्स ने अपने सिद्धान्त से एक नई दिशा प्रदान की ।
   (ii) सी. राइट मिल्स और गुल्डनर पार्सन्स के समर्थक थे ।
   (iii) अन्तःक्रिया में ईगो और अल्टर का होना आवश्यक नहीं है ।
   (iv) 'टूवर्डस ए थ्योरी ऑफ सोशल एक्शन टालकट पार्सन्स एवं शील्स की कृति है।
   (v) सामाजिक क्रिया बिना लक्ष्य के भी हो सकती है ।

16.5 व्यवस्था सिद्धान्त -

पार्सन्स ने समाज को एक व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत किया । उनका तर्क था कि किसी भी समाज व्यवस्था के चार आधार भूत प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकताएं होती है । इन चार पूर्व आवश्यकताओं को समस्याओं के रूप में व्यक्त किया जा सकता है । इन समस्याओं का समाधान आवश्यक है । इनके समाधान से ही समाज का अस्तित्व बना रहता है । समाज व्यवस्था के किसी भी भाग का प्रकार्य उस भाग के प्रकार्यात्मक योगदान से समझा जा सकता है । यह योगदान प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकताएं कही जाती 'है ।

16.5.1 व्यवस्था के पूर्व आवश्यक तत्व -

सभी व्यवस्थाओं में चार प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकताएं होती है । एक व्यवस्था को बनाये रखने के क्रम में इन्हीं चार प्रकार्यो का होना अनिवार्य है । इन चारों को व्यवस्था के पूर्व आवश्यक तत्व कहा जाता है । इन्हें संक्षिप्त में AGIL के रूप में दर्शाया है । अर्थात् (1) अनुकूलन (Adaptation) (2) लक्ष्य (Goal) (3) एकीकरण (Integration) (4) यथास्थिति (Latency)

(1) अनुकूलन -

व्यवस्था का उसके पर्यावरण के साथ सम्बन्ध अनुकूलन का सन्दर्भ है । व्यवस्था को बनाये रखने के लिए सामाजिक व्यवस्था का अपने पर्यावरण पर कुछ सीमा तक नियंत्रण होना चाहिए । समाज व्यवस्था में सदस्यों की न्यूनतम भौतिक आवश्यकता को पूरा करने के लिए भोजन एवम् आवास उपलब्ध करवाना चाहिए । इस आवश्यकता को हम आर्थिकी के सन्दर्भ में देखते हैं । आर्थिक संस्था का प्राथमिक कार्य उपर्युक्त आवश्यकता से सरोकार रखना है ।

(2) लक्ष्य -

सामाजिक गतिविधि की दिशा निर्धारित करने के लिए सभी समाजों में लक्ष्य होना एक पूर्व आवश्यकता है । लक्ष्यों को स्थापित करने के तरीके तथा लक्ष्यों के बीच प्राथमिकताएं निर्धारित करना राजनीतिक व्यवस्थाओं का संस्थागत स्वरूप है । सरकारें लक्ष्य निर्धारित करती है साथ उन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए संसाधन भी उपलब्ध करवाती है । स्वतंत्र उद्यमी व्यवस्था के अन्तर्गत, आर्थिकी को सरकारों द्वारा बनाये नियमों के आधार पर नियमित एवं निर्देशित किया जाता है ।

(3) एकीकरण -

प्राथमिक रूप से एकीकरण का तात्पर्य संघर्ष का व्यवस्थापन है । सामाजिक व्यवस्था के भागों में परस्पर व्यवस्थापन एवम् समन्वय ही एकीकरण है । इस प्रकार की आवश्यकता को पूरा करने के लिए कानून ही मुख्य संस्था है । संघर्ष की क्षमता को कम करने के लिए तथा संस्थाओं और व्यक्तियों के बीच सम्बन्धों का मानकीकरण करने एवं उन्हें परिभाषित करने हेतु वैधानिक मानदंड होते हैं । जब संघर्ष का उदय होता है तो इसका समाधान न्याय व्यवस्था द्वारा किया जाता है तथा समाज व्यवस्था को बिखरने से रोक दी जाती है ।

(4) यथा स्थिति -

इसका सम्बन्ध समाज में निहित संस्थागत मूल्य प्रतिमानों को बनाये रखना है । इस कार्य में जिन संस्थाओं की भूमिका महत्वपूर्ण होती है उनमें परिवार, शिक्षा व्यवस्था एवं धर्म मुख्य है ।

पार्सन्स ने यह स्पष्ट किया कि किसी भी समाज व्यवस्था का विश्लेषण उपर्युक्त प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकताओं के आधार पर किया जा सकता है । अत: समाज के सभी अंगों को उनके द्वारा अनुकूलन, लक्ष्य प्राप्ति, एकीकरण एवम् यथास्थिति बनाये रखने के लिए किये जाने वाले प्रकार्यों के सन्दर्भ में देखा समझा जा सकता है ।

16.5.2 क्रिया व्यवस्था

पार्सन्स की क्रिया व्यवस्था सामाजिक विश्लेषण के विभिन्न स्तरों की व्यवस्था है । विभिन्न स्तरों के बीच अन्तरसम्बंधों तथा उनके विश्लेषण के प्रति पार्सन्स की धारण बहुत स्पष्ट थी । संस्तरण व्यवस्था स्पष्ट होती है, तथा पार्सन्स के अनुसार व्यवस्था के स्तरों में दो तरीके से एकीकरण होता है । पहला एकीकरण समझने के लिए तर्क यह है कि प्रत्येक निम्न स्तर, उच्च स्तर के लिए आवश्यकतानुसार दशा और ऊर्जा उपलब्ध करवाता है । दूसरा एकीकरण, उच्च स्तर संस्करण में निम्न स्तरों को नियंत्रित करते हैं ।

क्रिया व्यवस्था के पर्यावरण के सन्दर्भ में, भौतिक एवम् सावयवी पर्यावरण जो निम्नतम स्तर पर है इसका सम्बन्ध मानव शरीर के अप्रतीकात्मक पहलुओं, इसकी रचना और व्यवस्था शास्त्र से होता है । पार्सन्स के कार्य का महत्वपूर्ण अंग उसके द्वारा प्रस्तुत चार क्रिया व्यवस्थाओं में देखा जाता है । (1) सांस्कृतिक व्यवस्था (2) सामाजिक व्यवस्था (3) व्यवहारात्मक जीववाद एवम्

(4) व्यक्तित्व व्यवस्था ।

उल्लेखनीय है कि पार्सन्स ने संरचनात्मक प्रकार्यवाद में क्रमबधता की बात कही । यह क्रमबद्धता कुछ धारणाओं के द्वारा संचालित होती है, जो कि निम्न प्रकार है : -

- व्यवस्थाओं में विभिन्न भागों के बीच अन्तःनिर्भरता और क्रमबधता की विशेषता पाई जाती है ।
- व्यवस्थाओं में क्रमबद्धता अथवा संतुलन स्वत: बना रहता है ।
- व्यवस्था स्थिर हो सकती है अथवा परिवर्तन की एक क्रम प्रक्रिया में निहित है ।
- व्यवस्था के एक भाग की प्रकृति के प्रभाव के अनुरूप अन्य भागों का रूप निर्धारित हो सकता है ।
- व्यवस्थाएँ अपने पर्यावरण के अनुसार सीमाओं को बनाए रखती है ।
- आवंटन और एकीकरण आधारभूत प्रक्रियाएं है जो कि एक व्यवस्था के संतुलन को बनाये रखती है।
- व्यवस्थाएं स्वत: बनी रहती हैं तथा अपनी सीमाओं को बनाए रखती है तथा समग्र के साथ सभी अंगो के सम्बन्धों को बनाये रखती है । इसके साथ ही पर्यावरण में भिन्नता को नियंत्रित करते हुए व्यवस्था को आंतरिक परिवर्तनों के साथ नियंत्रित रखती है ।

उपर्युक्त धारणाओं के आधार पर समाज की संरचना की क्रमबद्धता का विश्लेषण ही पार्सन्स की पहली प्राथमिकता रही । ऐसा करने में उन्होंने सामाजिक परिवर्तन के मुद्दे का उल्लेखन नहीं किया । अत: पार्सन्स के स्थिरता के प्रति झुकाव की कड़ी आलोचना हुई ।

16.5.3 सामाजिक व्यवस्था -

प्रारंभिक समाज व्यवस्था को पारसन्स के अनुसार सूक्ष्म स्तर पर देखा जा सकता है जो कि ईगो और अल्टर ईगो के बीच होने वाली अन्तर्क्रिया है । पार्सन्स का तर्क है कि इस प्रकार की अन्तर्क्रिया व्यवस्था को सामाजिक व्यवस्था के जटिल में देखा जाता है ।

सामाजिक व्यवस्था को परिभाषित करते हुए पार्सन्स ने स्पष्ट किया कि, एक व्यवस्था में अनेक व्यक्ति जो कर्त्ता हैं आपस में किसी स्थिति में अन्तःक्रिया करते हैं । कर्त्ता किन्हीं उद्देश्यों को पूरा करने के लिए किसी स्थिति में प्रेरित होते हैं उनके आपस के सम्बन्ध उस स्थिति के अनुसार बनते हैं । इसको हम संस्थागत, प्रतिमान के रूप में समझने लगते हैं । अत: इस प्रकार के संस्थागत प्रतिमानों को अवधारणात्मक स्तर पर सामाजिक व्यवस्था कहा जा सकता है ।

पार्सन्स ने सामाजिक व्यवस्था की परिभाषा में कुछ अवधारणाओं का प्रयोग किया है, इनमें कर्ता, अन्त:क्रिया, पर्यावरण, लक्ष्य एवं संस्कृति मुख्य हैं । इसके साथ उन्होंने प्रस्थिति - भूमिका जटिलता का प्रयोग व्यवस्था की आधार भूत इकाई के लिए किया है । यह सामाजिक व्यवस्था का संरचनात्मक भाग है । प्रस्थिति सामाजिक व्यवस्था में संरचनात्मक स्थिति के सन्दर्भ में है तथा 'भूमिका' एक कर्त्ता ऐसी दशा में क्या करता है उसके सन्दर्भ में है ।

सामाजिक व्यवस्था के विश्लेषण में पार्सन्स ने मुख्य रूप में संरचनात्मक भागों पर ध्यान दिया । प्रस्थिति भूमिका के साथ पार्सन्स की रूचि अन्य वृहद स्तर के अवयवों के प्रति भी रही, जैसे सामूहिकता, मानक और मूल्य आदि । सामाजिक व्यवस्था के विश्लेषण में पार्सन्स केवल एक संरचनावादी ही नहीं अपितु एक प्रकार्यवादी भी था । इसी क्रम में पार्सन्स ने एक सामाजिक व्यवस्था की अनेक प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकताओं को समझाया है । इनमें (i) सामाजिक व्यवस्था संरचनात्मक होनी चाहिए ताकि अन्य व्यवस्थाओं के साथ संचालित हो सके । (ii) सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने के लिए अन्य व्यवस्थाओं का सहयोग भी आवश्यक है । (iii) एक व्यवस्था को कर्त्ता की आवश्यकताओं की पूर्ति करनी चाहिए (iv) व्यवस्था में उसके सदस्यों की पर्याप्त भागीदारी होनी चाहिए (v) व्यवस्थाओं में असामान्य व्यवहार को नियंत्रित करना चाहिए (vi) यदि संघर्ष असामान्य हो जाये तो इसे नियंत्रित करना चाहिए । (vii) एक व्यवस्था को बनाये रखने के लिए एक भाषा की आवश्यकता होती है ।

पार्सन्स ने वृहद स्तरीय व्यवस्थाओं तथा उनके सम्बन्धों पर ही विशेष जोर दिया जब उन्होंने कर्त्ता की बात कही तो वह व्यवस्था की दृष्टि से की थी । इसी प्रकार सामाजिक व्यवस्था में क्रमबद्धता बनाये रखने की चर्चा ही की है ।

सामाजिक व्यवस्था की संरचनाओं का जितना महत्व था पार्सन्स के लिए सांस्कृतिक व्यवस्था अधिक महत्वपूर्ण थी ।

16.5.4 सांस्कृतिक व्यवस्था -

सामाजिक विश्व के विभिन्न तत्वों को जोड़ने वाली सबसे बड़ी शक्ति पार्सन्स की दृष्टि सें संस्कृति है अथवा उनके शब्दों में क्रिया व्यवस्था है । यह कर्त्ताओं के बीच अन्तर्क्रियाओं को सम्पन्न कराती है तथा व्यक्तित्व एवं सामाजिक व्यवस्था को एकीकृत करती है संस्कृति अन्य व्यवस्थाओं का अवयव बनने की विशिष्ट क्षमता रखती है । अत: सामाजिक व्यवस्था में संस्कृति में मानक और मूल्य निहित है । व्यक्तित्व व्यवस्था में कर्त्ता के द्वारा इसे आन्तरीकृत किया जाता है ।

पार्सन्स ने सांस्कृतिक व्यवस्था को अन्य क्रिया व्यवस्थाओं के साथ सम्बन्धों के अन्तर्गत समझाया है । संस्कृति मोटे रूप में प्रतीकात्मक और व्यक्तिनिष्ठ होने से यह एक व्यवस्था से दूसरी व्यवस्था में तेजी से स्थानान्तरित हो जाती है । विसरण के द्वारा यह एक व्यवस्था से दूसरी व्यवस्था में जाती है । इसी प्रकार संस्कृति एक व्यक्तित्व व्यवस्था से दूसरी व्यवस्था में सीखने और समाजीकरण द्वारा स्थानान्तरित होती है ।

16.5.5 व्यक्तित्व व्यवस्था -

व्यक्तित्व व्यवस्था केवल सांस्कृतिक अवस्था से ही नियन्त्रित नहीं होती अपितु यह सामाजिक व्यवस्था द्वारा भी नियंत्रित होती है । व्यक्तित्व संरचना की मुख्य विषयवस्तु का निर्धारण सामाजिक व्यवस्था एवम् संस्कृति से समाजीकरण के द्वारा होता है । व्यक्तित्व अपने सावयव सम्बन्धों द्वारा एक स्वतंत्र व्यवस्था बन जीता है ।

व्यक्तित्व को एक कर्त्ता के संगठनात्मक व्यवस्था में झुकाव एवं क्रिया की प्रेरणा के रूप में परिभाषित किया जा सकता है । व्यक्तित्व का आधारभूत घटक आवश्यक प्रवृत्ति है । पार्सन्स और शील्स ने आवश्यक प्रवृत्ति को आंतरिक प्रवृत्ति कहा जो व्यस्थात्मक ऊर्जा होती है तथा क्रिया को सम्भव बनाती है ।

पार्सन्स ने तीन प्रकार की आवश्यक प्रवृत्तियों को विभाजित किया है । (i) कर्ता द्वारा सामाजिक सम्बन्धों से स्वीकृति, प्रेमी की इच्छा की और ले जाना (ii) आंतरिकृत मूल्य जो कर्त्ता को सांस्कृतिक मानको की ओर ले जाते हैं और (iv) भूमिका अपेक्षाएं जो कर्त्ता को उपयुक्त उत्तर प्राप्त करने और देने की ओर ले जाते है ।

पार्सन्स ने जब व्यक्तित्व व्यवस्था के बारे में लिखा तो उनका ध्यान सामाजिक व्यवस्था पर ही केन्द्रित रहा क्योंकि पार्सन्स ने अनेक तरीकों से व्यक्तित्व को सामाजिक व्यवस्था के साथ जोड़ा । प्रारंभ में पार्सन्स ने व्यक्तित्व के व्यक्तिपरक पहलुओं की बात की लेकिन धीरे -धीरे आगे चलकर उसने व्यक्ति परक परिप्रेक्ष्य को छोड़ दिया। पार्सन्स ने एक स्थान पर यह स्पष्ट किया कि वह अपना ध्यान लोगों की किया के आन्तरिक अर्थ से हटा रहा है ।

16.5.6 व्यवहारात्मक जीववाद -

पार्सन्स ने यद्यपि व्यावहारिक जीववाद को चार क्रिया व्यवस्थाओं में से एक व्यवस्था बताया लेकिन इस व्यवस्था के बारे में उन्होंने बहुत कम कहा । इस व्यवस्था का उल्लेख

इसलिए किया कि यह अन्य तीन व्यवस्थाओं के लिए ऊर्जा का स्त्रोत है । यह व्यवस्था गुण सूत्र अवयवों से सम्बन्ध रखती है । इस व्यवस्था का संगठन व्यक्तिगत जीवन में सीखने की क्रिया से प्रभावित होता है । पार्सन्स के लिए जैवीकीय संगठन स्पष्ट रूप से एक बची हुई व्यवस्था है, फिर भी पार्सन्स ने इसे सम्मिलित किया है इसके लिए उनकी प्रशंसा की गई ।

16.6 आलोचना

पारसंस के सामाजिक व्यवस्था सिद्धान्त की अनेक आलोचना हुई है । वास्तव में सामाजिक व्यवस्था सिद्धात एक प्रकार से अवधारणाओं की व्यवस्था है । राल्फ डेहरनडार्फ ने पारसन्स की सामाजिक व्यवस्था की अवधारणा को केवल एक यूटोपिया अर्थात् आदर्श लोक कहा है ।

इस सामाजिक व्यवस्था सिद्धान्त की आलोचना के निम्न बिन्दु हैं : -

- सिद्धान्त में विकास सम्बन्धी इतिहास का उल्लेख नहीं है ।
- यह मानना भ्रमपूर्ण है कि व्यवस्था के अधिकांश कर्त्ता व्यवस्था के मानक मूल्यों से सहमत है । जबकि असहमति की संभावना भी बराबर बनी रहती है ।
- सभी इकाइयों में एकीकरण हो जाता है इसे भी पूर्ण सत्य नहीं कहा जा सकता है ।
- पार्सन्स ने अपने सिद्धान्त में पुनरूक्ति की है ।

16.7 सारांश

पारसन्स ने सामाजिक व्यवस्था को समग्रता की दृष्टि से समझाने का प्रयास किया । उनका मत समाज को एकीकृत व्यवस्था के रूप में देखना है । ऐसी व्यवस्था जहां सर्वसम्मति हो । पारसन्स ने तीन अमूर्त अवधारणाओं को आधार बनाकर सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था का विश्लेषण किया । क्रिया सिद्धान्त, सामाजिक व्यवस्था और प्रकार्यवाद पार्सन्स द्वारा उल्लेखित अवधारणाएं हैं । पारसन्स के लेखन से स्पष्ट है कि उनकी रूचि समाज में व्यवस्था को बनाये रखने की समस्या को जानने में उन्होंने सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने वाले तत्वों पर अधिक जोर दिया ।

अमेरिकी समाजशास्त्र में पारसन्स ने जिन ऊँचाइयों को छुआ था उसमें गिरावट भी आई थी । फिर भी उनका सिद्धान्त निर्माण में और समाजशास्त्र तथा अन्य सामाजिक विद्वानों को एकल मॉडल में ढालने के उनके प्रयास को उनका एक स्थाई योगदान कहा जा सकता है । 1970 के दशक में नये प्रकार के सिद्धान्तों का महत्व कम होता गया लेकिन पिछले कुछ वर्षो में पारसन्स के सिद्धान्तों के प्रति पुन: रूचि भी देखी गई है ।

16.8 शब्दावली

सामाजिक क्रिया	उद्देश्य परक गतिविधि
दशा या स्थिति	भौतिक या अभौतिक स्थिति
ईगो	कर्ता जब अन्य के साथ अन्त: क्रिया करता है
अल्टर	जिस व्यक्ति के साथ अन्त: क्रिया की जाती है
पेटर्न वेरीयबल	व्यवहार की दुविधा (दो विकल्प होना)

लेटेन्सी	यथा स्थिति
अनुकूलन सामाजिक	सांस्कृतिक तथा भौतिक पर्यावरण में उपलब्ध सुविधा का संग्रहण

16.9 अभ्यासार्थ प्रश्न -

1. टालकट पारसन्स के जीवन परिचय एवम् समाजशास्त्रीय योगदान का संक्षिप्त ब्यौरा दीजिए ।
2. पेटर्न वेरीयबल (प्रतिमान चर) की अवधारणा की विवेचना कीजिये ।
3. पारसन्स के क्रिया सिद्धान्त को समझाइए ।
4. व्यवस्था सिद्धान्त का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए ।

16.10 सन्दर्भ ग्रंन्थ

- Dahrendorf R,(1959),class and class conflict in an Industrial Society
- George Rizer, (1992), Sociological Theories.
- Gouldner alvin,(1970),The coming crisis of Western Sociology.
- Haralombos and Holbron(2000) Sociology: Themes and Perpectives.
- Johnson, Doyle paul,(1981), Sociological Theory: classical founders and contemporary perspectives,
- Lilienfeld, Doyle paul, (1981), Sociological Theory: classical founders and contemporary perspectives.
- Lilienfeld, Robert,(1978), The Rise of Systems Theory: An Ideological Analysis.
- Parsons T,(1937),The Structure of Social Action,(1951) The Social System.
- Parsons T, (1960) Structure and process in Modern Societies.
- Parsons T,(1964),Essay in Sociological Theory .
- Parsons T,(1967), Sociological Theory and Modern Society.

इकाई - 17

आर. के. मर्टन : प्रकार्यात्मक प्रारूप एवं अप्रतिमानता

इकाई की रूपरेखा

17.00 उद्देश्य

17.01 प्रस्तावना

17.02 मर्टन का जीवन

17.03 संरचनात्मक प्रकार्यात्मक पक्ष का परिचय

17.04 मर्टन का शोध प्रतिमान

17.05 समाजशास्त्र मे प्रकार्यात्मक विश्लेषण के लिए पेरेडिम

17.06 पेरेडिम के उद्देश्य तथा उपयोग

17.07 मर्टन का प्रकार्यवाद

17.08 प्रकार्य का अर्थ

17.09 प्रकार्यो के वर्गीकरण की रूपरेखा

17.10 प्रकट प्रकार्य प्रच्छन्न प्रकार्य

17.11 प्रच्छन्न प्रकार्य

17.12 वर्गीकरण पर एक दृष्टि

17.13 सारांश

17.14 शब्दावली

1715 बोध प्रश्न

17.16 संदर्भ ग्रन्थ

17.00 उद्देश्य

- संरचनात्मक प्रकार्यात्मक पक्ष का परिचय
- प्रकार्यात्मक विश्लेषण का स्पष्टीकरण
- मर्टन द्वारा प्रस्तुत विश्लेषण की स्पष्टता का परिचय
- प्रकार्यात्मक विश्लेषण के लिए मर्टन द्वारा प्रस्तुत पेरेडिम
- पेरेडिम का विश्लेषण
- प्रकार्यवादी सिद्धान्त की पृष्ठभूमि
- मर्टन का परिचय
- मर्टन के प्रकार्यवाद की पृष्ठभूमि
- प्रकार्यो का वर्गीकरण
- प्रकट तथा प्रच्छन्न प्रकार्यो का स्पष्टीकरण

17.01 प्रस्तावना

आधुनिक समाजशास्त्रीय व्याख्याएँ बढ़ी सीमा तक संरचनात्मक प्रकार्यात्मक अथवा साधारणत: प्रकार्यात्मक विश्लेषण से प्रभावित है । शताब्दी के अन्त: तक समाज विश्लेषण की यह पद्धति अत्यन्त प्रभावशाली रही है । आज प्रकार्यात्मक विश्लेषण यदि प्रमुख रूप मे नहीं होता तो भी सैद्धान्तिक दृष्टि से किसी अन्य समाजशास्त्रीय विश्लेषण की अपेक्षा अधिक प्रयुक्त होने वाला विश्लेषण हो गया है । प्रकार्यवाद साधारण रूप मे वह दृष्टिकोण है जिसके अनुसार समाज संरचनात्मक सामाजिक संबंधो तथा स्पष्ट नियमितता के आधार पर अंतरसमम्बन्धित तत्वो की स्वनियंत्रित व्यवस्था है । यह समाजशास्त्र का वह परिप्रेक्ष्य है जो सामाजिक तत्वो अथवा सांस्कृतिक प्रतिमानो का अन्य तत्वो पर परिणाम तथा सम्पूर्ण समाज की व्यवस्था पर पड़ने वाले परिणामों को देखने का प्रयास करता है । यद्यपि प्रकार्यवाद विश्लेषण के लिए अनेको उपागम है लेकिन हर उपागम मे एक बात समान है । सम्पूर्णता अथवा सम्पूर्ण व्यवस्था के संबन्ध मे एक तत्व का दूसरे तत्वो तथा सम्पूर्णता के साथ संबंध दूसरे शब्दो मे समाज या सामाजिक व्यवस्था को एक तत्व या एक पक्ष का दूसरे तत्व या पक्ष के साथ संबंध जब किसी सामाजिक संस्था का प्रकार्यात्मक विश्लेषण होता है - चाहे वह संयुक्त परिवार, जाति व्यवस्था, राजनीतिक दल, या औद्योगिक संकुल हो - इन सभी को सामाजिक व्यवस्था के अलग अलग हिस्सो के रूप मे देखेगा और यह परीक्षण करने का प्रयास करेगा कि ये भाग एक दूसरे से कैसे जुडे हुए है और इनका सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था से क्या संबंध है । साथ ही यह भी देखने का प्रयास होगा कि ये भाग सम्पूर्णता के लिए किस प्रकार से प्रकार्यात्मक है । इसी प्रकार से प्रत्येक सामाजिक प्रचलन, विश्वास, व्यवहारो के प्रतिमान और यहाँ तक कि अन्धविश्वास भी उसकी प्रकार्यात्मक के आधार पर ही परीक्षित किये जाएंगे । संक्षिप्त में प्रकार्यात्मक विश्लेषण सामाजिक तत्वों तथा सांस्कृतिक प्रचलनों के परिणामों, व्यवहारों के प्रतिमानों का स्थायित्वता, सम्पूर्णता के विभिन्न भागों के बीच सम्बद्धता तथा उनका सम्पूर्णता के साथ संबंधों का विश्लेषण करेगा । इस सम्बन्ध में प्रकार्य भी अपना महत्वपूर्ण पक्ष रखता है ।

17.02 मर्टन का जीवन (Mrton's Life Profile)

राबर्ट किंग मर्टन का जन्म 1910 में फिलोडेल्फिया (अमेरिका) की एक गंदी बस्ती में हुआ था । 1994 में चौरासी वर्ष की आयु मे उन्होंने एक पुस्तक लिखी " लाइफ ऑफ लर्निंग" (Life of Learning) । इसी पुस्तक में मर्टन ने अपनी आत्मकथा के अनेक प्रसंगों को वर्णित किया है । एक यहूदी, अप्रवासी के पुत्र की रूचि प्रारंभ से ही ज्ञान प्राप्त करने में थी और इसीलिए उनके जीवन का प्रारंभ पास की ही कैमेजिक पुस्तकालय के परिचय के साथ प्रारंभ हुआ । व्यक्तिगत वित्तीय पूंजी को छोडकर मर्टन के पास, सामाजिक, सांस्कृतिक, जनपूंजी सब कुछ थे । अपनी आत्मकथा में मर्टन ने लिखा है कि चौदह वर्ष की आयु तक वे परिपक्व जादूगर बन चुके थे और इसी आयु में उनका नाम मेयर शिकोनलिक से बदल कर राबर्ट के. मर्टन किया गया । बाद में यही नाम कानूनी नाम हो गया ।

मर्टन का समाजशास्त्रीय सफर टैम्पल विश्वविद्यालय से प्रारंभ हुआ । वहां अध्यक्ष सिम्पसन थे, जिन्होंने दुर्खीम की कृतियों का अनुवाद किया था । सिम्पसन के ही आग्रह पर मर्टन अमेरिकन समाजशास्त्रीय परिषद् के अधिवेशन मे गये जहां उनकी मुलाकात पीत्रिम सोरोकिन (Pitrim Sorokin) से हई । उन्हीं का सानिध्य प्राप्त करने के लिए मर्टन हार्वर्ड विश्वविद्यालय गये । उस समय टालकट पार्सन्स भी वहीं थे - जो उस समय तक प्रसिद्धि में नही थे । मर्टन अपनी आत्मकथा में लिखते हैं कि तब तक पार्सन्स के मात्र दो लेख ही प्रकाशित हुए थे । पर पार्सन्स ने मर्टन पर व्यापक बौद्धिक प्रभाव डाला । व 1936 में डाक्टरेट के बाद वे तुलेज और बाद में न्यूयार्क के कोलम्बिया विश्वविद्यालय में गये । 1930 से 1970 तक टालकट पार्सन्स तथा राबर्ट के. मर्टन दोनों ही अमरीकन समाजशास्त्र में सर्वप्रमुख प्रकार्यवादी थे । इसी विश्वविद्यालय में पाल लेजरसफील्ड (Lazarsfeld) के साथ मर्टन और पार्सन्स काम करते रहे । अपनी सेवा निवृत्ति के बाद वे कोलम्बिया विश्वविद्यालय के प्रोफेसर एमरेस रहे । वर्ष 2002 में 92 वर्ष की आयु में मर्टन का देहान्त हो गया ।

17.03 संरचनात्मक प्रकार्यात्मक पक्ष का परिचय

किसी भी सामाजिक प्रणाली के दो पक्ष है । सामाजिक संरचना तथा प्रकार्य समझने की दृष्टि से सामाजिक संरचना की तुलना प्राय: मानव शरीर या किसी भवन से की जाती है जैसे शरीर या इमारत के कई हिस्से होते हैं वैसे ही सामाजिक संरचना कई तत्वों से मिलकर बनती है । सामाजिक संरचना के अंगो के रूप में विभिन्न संस्थाऐं समूह तथा संगठन है । ये सभी तत्व मिलकर जो कुछ बनाते है । उसे संरचना कहते है । संरचना कोई स्थिर पदार्थ नहीं है । वरन एक गतिशील पदार्थ है । सामाजिक संरचना नियमित की जाती है । उसे बनाये रखने की चेष्टा की जाती है । बदलती परिस्थितियो के अनुसार यह परिवर्तित भी हो जाती है । संपूर्ण संरचना अथवा उसके भाग कुछ निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिये बनाये जाते है । जिस तरह शरीर के विभिन्न हिस्से अपना अपना विशिष्ट कार्य करते हैं । सामाजिक संरचना के अलग अलग तत्व उसी विशेषज्ञता का कार्य करते हैं । ये अंग विभिन्न आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए ये अंग विभिन्न प्रकार्यो को भी पूरा करते है।

समाज की संरचना को मात्र उसके विभिन्न अंगो के अध्ययन मात्र से नहीं समझा जा सकता शरीर के संरचना के विभिन्न अंग किस प्रकार एकीकृत है । किस प्रकार एक दूसरे को प्रभावित करते हैं । वे किन कार्यो को करते है । इन प्रश्नों का उत्तर प्रकार्यात्मक अध्ययन से किया जाता है । प्रकार्यात्मक अध्ययन विभिन्न अंगों के कार्यो का अध्ययन करते हैं । इस प्रकार के अध्ययनो को संरचनात्मक - प्रकार्यात्मक अध्ययन कहा जाता है । इस प्रकार के अध्ययनों को हरबर्ट स्पेंसर (1877) दुर्खीम (1899) पैरेटो (1915) रैडकिलफ ब्राउन (1935) मैलीनोस्की (1936) और रॉबर्ट. के. मर्टन (1949) ने बहुत बल दिया रॉबर्ट के. मर्टन ने संरचना पर प्रतिमानहीनता का अध्ययन किया है । उनका मत है कि या सामाजिक संरचना के अनेक तत्वो मे से दो तथ्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है । - (1) सांस्कृतिक लक्ष्य तथा (2) संस्थागत प्रतिमान

मर्टन का प्रकार्यात्मक आधार उनके द्वारा रचित पैरेडिम पर आधारित है । इस सारे पैरेडीम को इसी संदर्भ मे समझा जाना चाहिये ।

समाजशास्त्रीय प्रकार्यात्मक विश्लेषण का यह आधार पारंपरिक आधार है । वैसे प्रकार्यात्मक विश्लेषण मे योगदान देने वाले विद्वान कई है । और प्रकार्यात्मक विश्लेषण की एक ऐतिहासिक परंपरा मौजूद है । जैसे मैलिनोस्की का यह कथन संरचनात्मक - प्रकार्यात्मक विश्लेषण में उसका विश्वास है, पर उसके लिए तुलनात्मक पद्धति ही श्रेष्ठ है । मैलिनोस्की ने प्रकार्य विश्लेषण को उदविकासीय विश्लेषण के साथ भी जोड़ा । इसी प्रकार से रैडक्लिफ ब्राउन ने अपनी रचनाओं मे उस विश्लेषण का उल्लेख किया है । जो प्रकार्यात्मक विश्लेषण के अधिक नजदीक है । प्रकार्यवादी इस दृष्टिकोण को दुर्खीम के साथ भी जोड़ा जाता है । स्वयं मर्टन ने अपनी पुस्तक मे दुर्खीम के संदर्भो को अपने साथ जोड़ा । इस प्रकार के विश्लषण की समाजशास्त्रियो तथा मानवशास्त्रियों का संस्थाओं, समूहों तथा अन्य विषेशताओं के पारस्परिक अन्तर्सम्बन्धो को समझने के लिए पडी इसी विश्लेषण के समाजशास्त्रियों को सैद्धान्तिक विश्लेषण तथा पद्धति की आवश्यकता थी। यह खोज सैद्धान्तिक तथा पद्धति की पर्याप्तता की खोज थी । बाद में पार्सन्स और मर्टन इसी परम्परा के समाजशास्त्री थे हालांकि यह कहा जा सकता है कि मर्टन ने इस विश्लेषण को अधिक परिष्कृत किया ।

वर्तमान समाजशास्त्र मे एक नया ट्रेण्ड देखने को मिलता है । पहले यह मान्यता थी कि समाजशास्त्र अपनी प्रकृति मे एक न्यूट्रल विज्ञान है । वह यह नहीं बताता कि समाज में क्या होना चाहिए, क्या नहीं होना चाहिए । आज यह धारणा बदल गयी है । आन्द्रे बैतई (Andre Beittle) और योगेन्द्र सिंह (Yogendra Singh) जैसे समाजशास्त्री कहते है कि कोई भी समाज विज्ञान वैचारिकी से परे नहीं होगा । इस संदर्भ में कहा जाता है कि प्रकार्यवाद वस्तुत: यथास्थिति (Status) की वैचारिकी पर आधारित है । यह परिवर्तन का विरोधी है । इसका कहना है कि समाज मे जो भी परिवर्तन आये वह व्यवस्था के अन्दर हो। यानी व्यवस्था नहीं बदलनी चाहिए - चाहे इसके अन्दर के भाग बदल जाये इस अर्थ मे प्रकार्यवाद गरीबों को बराबर गरीब बनाये रखना चाहती है । और अमीरों को अमीरका प्रकार्यवाद एक दकियानूसी विचारधारा है । इस कारण रूस का समाजशास्त्र प्रकार्यवाद नहीं पनप पाया । भारत मे पिछडेपन इसके बीमारू देश बने रहने में प्रकार्यवाद का योगदान भी है।

मर्टन समाजशास्त्र मे प्रकार्यात्मक सम्प्रदाय के प्रमुख माने जाते है । द्वितीय विश्व युद्ध से पहले अमरीकन समाजशास्त्र मे मर्टन प्रमुख आधार स्तम्भ बने । अमरीका मे वे अप्रवासी थे । 1910 मे जन्मे मर्टन का प्रकर्यात्मक जीवन अैम्पल विश्वविद्यालय से प्रारंभ हुआ । पार्सन्स का प्रभाव उन पर था बाद मे वे न्यूयार्क के कोलम्बिया विश्वविद्यालय मे गये और वही वे ख्याति प्रोफेसर बने उनकी पुस्तक Social Theory and Social Structure" सर्वाधिक चर्चित पुस्तक है । इसी पुस्तक मे मर्टन ने अपने समाजशास्त्रीय विश्वास से कई स्पष्टीकरण लिखे उनका विचार था कि जिन विद्वानों का हम महान विचारक मानते है वे सभी दूसरे विचारकों के कंधों पर खडे हुए है । कोई भी विचार अथवा विज्ञान तत्काल विकसित नहीं होता है । इस विकास मे बहुत से लोगों का योगदान होता है इसीलिए मर्टन ने अपने पूर्व वंशजों तथा समकक्षों विद्वानों की तरह समाज और समाजशास्त्र को परिभाषित करने का प्रयास

किया । जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि मर्टन के अपने विचारों का संबंध अपने से पूर्व विद्वानों के साथ था उनकी अन्य रचनाएँ थी - साइंस इन सेवन्टीन्थ सेन्चुरी इन इंग्लैण्ड (Science in Seventh Century in England) सौश्यालजी ऑफ साइंस (Sociology of Science).

मर्टन को आधुनिक समाजशास्त्र का पुरोधा माना जाता है । समाजशास्त्र मे उनके प्रमुख योगदान है । मध्य स्तरीय सिद्धान्त (Middle Range Theory) प्रकार्यात्मक विश्लेषण का पैरेडिम (Paradigm of Functional Analysis) सामाजिक संरचना और नियमहीनता (Social Structure and Anomie) संदर्भ समूह (Reference group) तथा विश्लेषण के लिए प्रकार्यात्मक वर्गीकरण (Classification of functions for functional analysis).

17.04 मर्टन का शोध प्रतिमान

मर्टन ने पारम्परिक प्रकार्यात्मक विश्लेषण को संशोधित तथा परिमार्जित किया है । पारम्परिक प्रकार्यात्मक विश्लेषण की आलोचना के बाद यह कहा जाने लगा है कि मर्टन द्वारा प्रकार्यात्मक अभिधारणाओ postulates)का संशोधन तथा परिमार्जन अधिक जाना माना तथा अधिक बुनियादी है । फिर भी यह कहा जाता है । कि मर्टन के संशोधन की यह प्रक्रिया भी दोषों से प्रभावित है । प्रकार्यवाद के उन आधारभूत तत्वों को एक बार फिर से देखने की आवश्यकता है । जिन्हें ने मर्टन संशोधित और परिमार्जित किया है । ये तत्व है ।

1. स्तरीकृत सामाजिक गतिविधियां सांस्कृतिक आइटम (items)सम्पूर्ण सामाजिक या सांस्कृतिक व्यवस्था के लिए प्रकार्यात्मक है ।
2. इस प्रकार के सभी सामाजिक तथा सांस्कृतिक आईटम समाजशास्त्रीय प्रकायों की पूर्ति करते हैं ।
3. ये सभी आईटम समाज के लिए अपरिहार्य है ।

मर्टन के संशोधनों को निम्न रूपो मे देखा जा सकता है

1. किसी भी समाज की एकता का पूर्वनिर्धारण नहीं होना चाहिए, अपितु उसे एक आनुभाविक प्रश्न के रूप में स्वीकार करना चाहिए ।
2. उस आईटम का स्पष्टीकरण आवश्यक है जिसे प्रकार्यात्मक समझा जा रहा है ।
3. यह समझना भी गलत है कि हर मद आवश्यक रूप से प्रकार्यात्मक होता है । प्रत्येक आईटम के बहुरूपी परिणामों को देखा जाना चाहिए ।
4. यह भी समझना गलत है कि मात्र एक आईटम या संरचना ही प्रकार्यात्मक है । वैकल्पिक आईटम तथा।प्रकार्यात्मक हो सकते है ।

मर्टन का विचार है कि प्रकार्यात्मक विश्लेषण में तत्वों का समावेष होना चाहिए और उसे ने केवल प्रकार्यो का अपितु अप्रकार्या का विश्लेषण भी करना चाहिए । प्रकार्यात्मक विश्लेषण के लिए हमें एक प्रमुख आधार तैयार करना पडेगा क्योंकि एक ही आईटम के अनेक प्रकार हो सकते है । और किसी भी संरचना के अनेक विकल्प ।

मर्टन के प्रकार्यात्मक विश्लेषण का एक हिस्सा उनके द्वारा प्रतिपादित प्रकार्यो के वर्गीकरण के साथ भी जुडा हुआ है । प्रकार्य और अप्रकार्य (अथवा दुश्कार्य) तथा प्रकट

(Manifest) प्रच्छन्न (latent) प्रकार्य - इन सभी पदों की उत्पत्ति मर्टन ने की थी । प्रकार्य जहाँ सामाजिक व्यवस्था के संचालन मे सहायक है, दुश्कार्य व्यवस्था संचालन के लिए सहायक नहीं है । प्रकट प्रकार्य व्यवस्था मे समायोजन तथा अनुकूलन के प्रयास ह तथा प्रच्छन्न अनिर्दिष्ट लक्ष्यो के लिए किए गये कार्य है । मर्टन द्वारा प्रस्तुत ये अवधारणाऐं प्रकार्यात्मक विश्लेषण के ही प्रयास थे । उनके अनुसार प्रकार्यात्मक विश्लेषण के लिए प्रकार्यो के ये खुलासे आवश्यक थे । प्रकार्यो के इस प्रकार के वर्गीकरण से मर्टन का अभिप्राय क्या था? प्रथमत: यह दिखाई पड़ने वाले सामाजिक प्रतिमानों की अतार्किकता का स्पष्टीकरण है । दूसरे शब्दों मे यह प्रकार्यात्मक विश्लेषण की भ्रॉतियों को दूर करने -का प्रयास है । दूसरे इस प्रकार का वर्गीकरण सैद्धान्तिक अन्वेषण के लिए सहायक है । अन्वेषण की अधिक स्पष्टता इस वर्गीकरण से प्राप्त की जा सकती है । तीसरा समाजशास्त्र के लिए इसका महत्वपूर्ण योगदान है । हम क्या जानते है । और कैसे जानते है? इन प्रश्नो का उत्तर यह वर्गीकरण प्रस्तुत कर सकता है । अन्तत: साधारण समाजशास्त्रीय अथवा प्रकार्यात्मक विश्लेषण में सहज नैतिक परिणामों के लिए प्रतिबंधात्मक है ।

उपर्युक्त विश्लेषण का यह अर्थ कदापि नहीं है कि मर्टन प्रकार्यात्मक विश्लेषण के बहुत बडे आलोचक थे । वस्तुत: प्रकार्यात्मक विश्लेषण की अधिक स्पष्टता -के लिए वे सिद्धान्तो, पद्धति तथा अवधारणात्मक आधारों को नियमित करना चाहते थे उनकी पुस्तक सोशल थ्योरी एण्ड सोशल स्ट्रक्चर (Social Theory and Social Structure) मे उनका लेखन विश्लेषण से संबंधित विभिन्न प्रश्नों को उठाता है.

1. विभिन्न आनुभाविक समस्याओं के लिए अलग - अलग विश्लेषण पद्धतियों की आवश्यकता होती है ।
2. प्राय: अन्वेषण से आनुभाविक सामान्यीकरण तो प्राप्त किया जा सकता है, पर आवश्यक नहीं कि उसका सम्बन्ध विशुद्ध सैद्धान्तिक आधार ही हों ।
3. सामान्य सैद्धान्तिक आधारों पर निर्मित की गई उपकल्पना से आनुभाविक शोध अधिक लाभदायक है ।

अन्वेषण तथा सिद्धान्तों के पारस्परिक जटिल संबंधों को जोंडने का प्रयास मर्टन का है। प्रकार्यात्मक विश्लेषण के लिए मर्टन द्वारा प्रस्तुत पेरेडिम को संदर्भ में देखना चाहिए ।

17.5 समाजशास्त्र मे प्रकार्यात्मक विश्लेषण के लिए पेरेडिम (Paradigm for Functional Analysis in Sociology)

अपनी पुस्तक सोशल थ्योरी एण्ड सोशल स्ट्रक्चर में मर्टन ने लिखा है कि विश्लेषण के लिए प्रकार्यात्मक आधार न तो नया है और न ही समाजशास्त्र तक ही सीमित है । कहना चाहिए कि अन्य शास्त्रों की अपेक्षा समाजशास्त्र में इसका पदार्पण देरी से हुआ है । जीवविज्ञान, शरीर विज्ञान, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, मानवशास्त्र समाजशास्त्र आदि में यह प्रचलन हो रहा है कि तथ्यों को विस्तृत संरचना के साथ जोड कर देखा जाय । तत्वों और परिस्थितियों को इसी प्रकार संरचना से जोड कर विश्लेषित किया जाता रहा है । निरन्तर अध्ययनों तथा सैद्धान्तिक प्रयोगों ने इन सभी विज्ञानों के लिए प्रकार्यात्मक विश्लेषण को प्राय: आवश्यक बना दिया है ।

पुराने अनुभवों के आधार पर यह आवश्यक है कि विश्लेषण के लिए एक कमबद्ध प्रक्रिया तैयार की जाय । प्रकार्यात्मक समाजशास्त्र में अप्रभावशाली तथा दोषपूर्ण विश्लेषण प्रक्रिया प्रकार्यात्मक विश्लेषण को सही रूप में प्रस्तुत नहीं कर सकती ।

मर्टन के इस प्रकार्यात्मक विश्लेषण में प्रक्रिया का स्पष्टीकरण ग्यारह बिंदुओं के माध्यम से किया गया है । इन ग्यारह बिंदुओं के माध्यम से किया गया है । इन ग्यारह बिन्दुओं में उन अवधारणाओं और समस्याओं का विवेचन है जो प्रकार्यात्मक विश्लेषण के लिए केन्द्र कहीं जा सकती है । सम्पूर्ण बिन्दु इस प्रकार से नियोजित हैं कि कुछ मिलाकर ये प्रकार्यात्मक विश्लेषण की आवश्यकताओं के लिए अनिवार्य हो जाते हैं । पेरेडिम अवधारणाओं,प्रक्रियाओं तथा परिणामों का केन्द्र बिन्दु है । परेडिम समरयाओं अवधारणाओं का एक संहिताकरण(Codification) है । संहिता बिन्दुओं के आधार पर निम्न हैं :

1. वे आइटम (items) जिन पर प्रकार्य आरोपित किया गया है ।

सभी समाजशास्त्रीय तथ्य या अधिकांश समाजशास्त्रीय तथ्य प्रकार्यात्मक संदर्भ ' के लिए स्वीकार किये जा सकते हैं बशर्ते वे प्रकार्यात्मक विश्लेषण के लायक हों । मूलभूत आवश्यकता इस बात की है कि अन्वेषण के लिए स्वीकार आईटम स्टेण्डर्ड (Standardized) आईटम हों । उदाहरण के लिए सामाजिक भूमिकाऐं, संस्थागत प्रतिमान,सामाजिक प्रक्रियाएं, सांस्कृतिक प्रतिमान, समूह, सामाजिक मानक तथा सामाजिक संरचना आदि । यहां मूलभूत प्रश्न है कि कौन सा आईटम प्रकार्यात्मक विश्लेषण में सम्मिलित किया जा सकता है? मर्टन का अभिप्राय यही है कि प्रकार्यात्मक विश्लेषण के लिए इस बात की जाँच करना आवश्यक है कि किन आईटमों को वस्तुनिष्ठ आधार पर विश्लेषण की प्रक्रिया में सम्मिलित किया जाये ।

2. अवधारणाओं का घनिष्ठ (Subjective) विन्यास (मनोवृत्ति उद्देश्य के अनुसार)

प्रकार्यात्मक विश्लेषण के किसी बिन्दु पर प्राय: सामाजिक व्यवस्था में रह रहा व्यक्ति अपनी मनोवृत्ति या उद्देश्य के अनुसार अवधारणाओं का प्रयोग करने लगा है, प्राय: अवधारणाओं का यह आत्मनिष्ठ विश्लेषण वस्तुनिष्ठ अवधारणा के साथ इस प्रकार मिश्रित हो जाता है कि अवधारणा का अर्थ ही बदल जाता है । यहां मूल प्रश्न यही है कि किस प्रकार के विश्लेषण में यह मनोवृत्ति तथ्य स्वीकार किये जा सकते हैं और किन परिस्थितियों में इन्हें अन्य तथ्यों से अलग किया जा सकता है ।

3. वस्तुनिष्ठ परिणामों की अवधारणाएं (प्रकार्य,अप्रकार्य / दुष्कार्य)

वर्तमान में प्रचलित प्रकार्य अवधारणा के संबंध में दो भ्रांतियों हैं:

1. प्राय: यह प्रवृत्ति पाई जाती है कि समाजशास्त्रीय विश्लेषण के लिए केवल उन आईटमों तक ही सीमित रहा जाता है । जो सकारात्मक हैं । किसी भी सामाजिक सांस्कृतिक व्यवस्था में केवल ऐसे आईटमों को ही स्वीकार करना जो केवल सकारात्मक हों - गलत हैं ।
2. यह भी प्रवृत्ति है कि आत्मपरक मनोवृत्ति की इकाई को वस्तुनिष्ठ इकाई के साथ भ्रमित कर लिया जाता है ।

भ्रम को मिटाने के लिए यह आवश्यक है कि दोनों प्रकार की प्रंवृत्तियों के बीच अंतर किया जाये और भ्रम मिटाया जाय । इस प्रकार के विश्लेषण में समस्या प्रकार्यों के बहु परिणामो की है । मर्टन के अनुसार प्रकार्य वह कार्य है जो किसी समाज में अनुकूलन या समायोजक : का कार्य करता है । जो प्रकार्य अनुकूलन तथा समायोजक को कम करते हैं (Non - functional) ऐसे प्रकार्य सामाजिक व्यवस्था के किसी काम के नहीं । ऐसे अप्रासंगिक प्रकार्य व्यवस्था क लिए अप्रासंगिक हैं । कोई भी प्रकार्य दोनों ही प्रकार का हो सकता है । समस्या तब आती है जब परिणामों का कुल मिलाकर उभरता स्वरूप कैसी समझ उत्पन्न करता है । ऐसा सम्मिश्रण प्रकार्यात्मक विश्लेषण के लिए रक्तता पैदा कर सकता है।

दूसरी समस्या भ्रम की है कि दोनों प्रकार की अवधारणाओं का अलग - अलग वितरण किया जाय । यही प्रकट एवं प्रच्छन्न प्रकार्यो का सहारा लिया जा सकता है । यहां प्रश्न यह भी है कि प्रच्छन्न प्रकार्य अपने आपको प्रकट कार्यो. मे किस प्रकार रूपान्तरित करते हैं । मर्टन का कहना है कि ऐसी परिस्थिति में मानवीय व्यवहार के ज्ञान का परीक्षण भी सम्मिलित है । मानव व्यवहार किस तरह से अपने को जोड तोड करता है - यहां यह प्रश्न भी महत्वपूर्ण है ।

4. उन आईटमों की अवधारणाएं जो प्रकार्य के लिए उपयोगी है ।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि प्राय: हम उन्हीं प्रकार्यो पर ध्यान देते हैं जो समाज की आवश्यकताएं पूरी करते हैं । ऐसे आईटम किसी व्यक्ति,समूह या समाज के लिए लाभकारी हो सकते हैं पर साथ ही किसी अन्य के लिए दुश्कार्य भी हो सकते हैं इस प्रकार के प्रकार्यो के विश्लेषण के लिए आवश्यक है कि जिस आईटम के लिए प्रस्तावित हैं,उनसे संबंधित इकाइयों की एक श्रृंखला तैयार की जाये । तकनीकी दृष्टि से इसका संबंध मनोवैज्ञानिक प्रकार्यो से है । समूह प्रकार्य,सामाजिक प्रकार्य, सांस्कृतिक प्रकार्य आदि ऐसे ही प्रकार्य हैं ।

5. प्रकार्यात्मक आवश्यकताओं की अवधारणाएं (आवश्यकताएं, पूर्व अपेक्षाएं)

प्रत्येक प्रकार्यात्मक विश्लेषण में जिस सामाजिक व्यवस्था को देख रहे हैं, उसमें कुछ विचार अर्न्तदृष्टि अथवा अभिव्यक्ति छिपी हुई रहती है, जिसे प्रकार्यात्मक आवश्यकता कहा जा सकता है । प्रकार्यात्मक सिद्धान्तों में ऐसी अवधारणाएं अस्पष्ट एवं विवादास्पद होती है । यदि मैलिनोस्की की चर्चा की जाये तो इस प्रकार की अवश्यकताएं जैविक और सामाजिक व्यवस्था दोनों के लिए अर्न्तनिहित हैं । मर्टन के अनुसार व्यवस्था को चलने के लिए मदों के संचालन के लिए कुछ पूर्व आवश्यकताएं होती हैं । इन पूर्व आवश्यकताओं की समझ प्रकार्यात्मक विश्लेषण के लिए आवश्यक है । मूल प्रश्न यही है कि पूर्व आवश्यकताओं को वैधानिक रूप से कैसे परीक्षित किया जाय, विशेष रूप से तब कठोर परीक्षण कार्य संभवत: बहुत कठिन है ।

6. वे रचनातंत्र जिनसे प्रकार्य पूरे किये जाते हैं, से संबंधित अवधारणाएं

किसी भी प्रकार्य के विश्लेषण के लिए उस रचनातंत्र के ठोस और विस्तृत वर्णन की आवश्यकता होती है जो किसी प्रकार्य के संचालन में सहायक होते हैं । इसका संबंध मनोवैज्ञानिक रचनातंत्र से नहीं, अपितु सामाजिक रचनातंत्र से है । उदाहरण के लिए भूमिकाओं का वर्गीकरण, संस्थागत मांगों को बल देने वाली शक्तियां, श्रम का सामाजिक विभाजन इत्यादि । मूल प्रश्न यही है कि इन रचनातंत्रों के विश्लेषण के लिए किस प्रकार की पद्धति का प्रयोग

करना संभव होगा और किस तरह से इन सामाजिक रचनातंत्रों का संबंध मनोवैज्ञानिक रचनातंत्रों से जोड़ा जा सकता है ।

7. प्रकार्यात्मक विकल्पों की अवधारणाएं (प्रकार्य के सम प्रकार्य तथा प्रतिस्थापना)

किसी सामाजिक संरचना में यदि हम किसी प्रकार्य की अपरिहार्यता को यदि त्याग दें तो तत्काल ही उसके विकल्प समान अथवा स्थापन्न विश्लेषण के तरीके की आवश्यकता पड़ेगी । इसका अर्थ यह भी है कि हमें व्यवस्था के विश्लेषण के लिए आईटमों की संभावित विभिन्नताओं को संयोजित करना पड़ेगा ताकि उन विकल्पों का पता लगाया जा सके, जिनकी हमें आवश्यकता है और जो प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकताओं में सहायक हों । मर्टन का यह भी मानना है कि विकल्प के इस तलाश का रास्ता बहुत कठिन है । इस प्रकार विकल्प को प्राप्त करने के लिए समाज के विस्तृत आधार में प्रयोगात्मक परीक्षण की आवश्यकता है । प्रयोगात्मक की तार्किकता के समीप होते हुए भी इस प्रकार की प्रक्रिया बहुत कुछ परिणाम नहीं दे पाती । यही इस कथन का मूल प्रश्न भी है ।

8. संरचनात्मक संदर्भो की अवधारणाएं (अथवा संरचनात्मक दबाव)

उन आईटमों की परिधि जो सामाजिक संरचना में प्रकार्य का काम कर सकते हैं, असीमित नहीं है । सामाजिक संरचना में इकाईयों की अन्तर्निर्भरता प्रकार्यत्मकता विकल्पों और परिवर्तनों को प्रभावी तरीके से कम ' करती है । सामाजिक संरचना में संरचनात्मक दबाव की अवधारणा गोण्डनवीजर (Goldenwiser) के सीमित अवसरों' के समकक्ष ही है । संरचना में पारस्परिक निर्भरता क्या संरचनात्मक दबाव को यदि सही पहचाना जाये तो सारे विचार दिवास्वपनीय हो जाते हैं और इस बात की संभावना बढ जाती है कि बिना सोचे समझे हम उस इकाई को अपने विश्लेषण से हटा दें जो आत्मनिर्भरता के लिए महत्वपूर्ण है । यह विचार मार्क्सवादी तथा गैर -मार्क्सवादी, दोनों ही प्रकार के विद्वानों का है । इस बिन्दु पर मर्टन का मूल प्रश्न है कि विश्लेषण के लिए प्रस्तुत संरचना में आईटमों की विभिन्नता किस प्रकार सीमित की जा सकती है ताकि प्रकार्य की आवश्यकताएं उसी सीमित आधार पर पूरी की जा सकें । क्या ऐसे विकल्प मिलने सम्मव हैं जो प्रकार्य के पूरा करने में सहायक हों?

9. गतिशीलता और परिवर्तन की अवधारणाएं

यह तथ्य संभवत: स्पष्ट हो गया है कि प्रकार्यात्मक विश्लेषण अधिकांशत: स्थैतिक (Static) तत्वों का अध्ययन करती है । विश्लेषण संरचनात्मक परिवर्तनों की अवहेलना करती है । प्रकार्यात्मक विश्लेषण में स्थैतिक तत्वों का अध्ययन अन्तर्निहित नहीं है । असल में ऐसा जोर उन मानवशास्त्रियों की रचनाओं से पैदा हुआ है जिन्होंने गैर साक्षर समाजों की ऐतिहासिक विवेचनाओं को लिखते समय किया था । प्रारंभिक मानवशास्त्रियों ने अपनी रचनाएँ इसी प्रकार से लिखी थीं । यह तरीका प्रारंभिक मानवशास्त्रियों के लिए लाभदायक था । बाद में कुछ प्रकार्यवादी समाजशास्त्रियों ने इसे अपना लिया और प्रारंभिक मानवशास्त्रियों की तरह ही प्रकार्यात्मक विश्लेषण करना प्रारंभ किया ।

दुष्प्रकार्य की अवधारणा जो संरचना में दबाव,तनाव और खिंचाव पैदा करती है गतिशीलता तथा परिवर्तन की समझ के लिए उपयोगी तरीका है । दुष्प्रकार्य का अध्ययन उन परिवर्तनों की ओर भी संकेत करता है जो संरचना में संभावित है । प्रश्न यह भी है कि इन

दुष्कार्यो को किस प्रकार देखा जाए? यह भी आवश्यक है कि यह भी देखा जाए कि क्या ये दुष्कर्म संरचना में अस्थायित्व पैदा कर रहे है? दबावों और तनावों में वृद्धि तथा उनकी मात्रा में वृद्धि का क्या संरचना में परिवर्तनों की प्रक्रिया स्थापित कर सकती है, यह प्रश्न है । मूल बात है कि क्या प्रकार्यवादी विश्लेषकों के संतुलन (equilibrium) पर अधिक चिन्ता असंतुलन की अवस्थाओं के अध्ययन से ध्यान हटा देती है । कौन सी विधि अपनाई जाय जिससे किसी सामाजिक व्यवस्था के दबावों और तनावों की मात्रा के अनुसार संरचनात्मक परिवर्तनों का अध्ययन किया जा सके । सामाजिक संरचना का किस सीमा तक ज्ञान समाजशास्त्रियों को सामाजिक परिवर्तन के संबंध के विश्लेषण के लिए सहायता कर सकता है।

10. प्रकार्यात्मक विश्लेषण की वैधता का प्रश्न

सारे पेरेडिम मे बार -बार उन पूर्वनुमानों,कल्पनाओं,अवलोकनों तथा उन निरूपणों पर जोर दिया गया है कि ये सब वैध होने चाहिए । मर्टन का विचार है कि इस वैधता को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि समाजशास्त्री उस अन्वेषण प्रक्रिया को कठोरता से परिभाषित करें और उसको प्रयोगवाद की तार्किकत के समकक्ष लाने का प्रयास करें । इस बात की भी आवश्यकता है कि तुलना के लिए (सभी संस्कृतियों तथा सभी समूहों के लिए) उन संभवनाओं तथा सीमितताओं की समीक्षा की जाये । मूल प्रश्न यही है किस सीमा तक तुलनात्मक अध्ययन के लिए किसी सामाजिक व्यवस्था में पर्याप्त नमूनों के आधार पर व्याख्यायित किया जा सकता है ।

11. प्रकार्यात्मक विश्लेषण का वैचारिक पक्ष की समस्याएं

कई बार यह भी कहा गया है कि प्रकार्यात्मक विश्लेषण का वैचारिकी से कोई आंतरिक रिश्ता नही है । इसका अर्थ यह भी है कि प्रकार्यात्मकवादियों की कोई वैचारिक प्रतिबद्धता नहीं है । इस तथ्य के कथन से कोई लाभ नहीं है कि कोई विशिष्ट प्रकार्यवादी विश्लेषण या प्रस्तुत किसी उपकल्पना का किसी स्पष्ट वैचारिक के साथ स्पष्ट संबन्ध है । यह समस्या ज्ञान के समाजशास्त्र की विशिष्ट समस्या है । यह समाजशास्त्रियों के लिए विशद प्रश्न है कि वे किस प्रकार से इन वैचारकी आधारों को कैसे पूरा करें । मूल प्रश्न यही है किस प्रकार किसी प्रकार्यात्मक विश्लेषण में वैचारिकी संदर्भ खोजे जा सकते हैं और समाजशास्त्रियों की मान्यताओं मे वैचारिकी को देखा जा सकता है । क्या ये पूर्वानुमान समाजशास्त्र की शोध भूमिका तथा हैसियत से मेल खाता है?

इससे पहले कि इस पेरेडिम की उपयोगिता तथा प्रयोग की चर्चा की जाय, उन संक्षिप्त बिन्दुओं पर विचार कर लिया जाना चाहिए जो इस पेरेडिम के सार के रूप में देखे जा सकते हैं।

वस्तुत: सारा पेरेडिम प्रकार्यात्मक विश्लेषण की परम्पराओं से हट कर सम्पूर्ण विश्लेषण के लिए नये परिप्रेक्ष्य का प्रस्तुतीकरण है । सैद्धान्तिक तथा अध्ययन पद्धति दोनों के ही लिए वे बिन्दु प्रस्तुत किये गये है जो स्पष्टीकरण अधिक हैं और किन्हीं अर्थो में निदेशक भी हैं । जगह -जगह पर यह पेरेडिम समाजशास्त्र तथा मानवशास्त्र के प्रकार्यात्मक विश्लेषण में अन्तर करता है और शायद एक छिपा संदेश भी देता है कि संभवत: पारंपरिक मानवशास्त्रीय विश्लेषण प्रक्रियाओं पर समाजशास्त्र को पुनर्विचार करना चाहिए । एक बडा प्रश्न - क्या हम केवल प्रकार्य का ही अध्ययन करें -दुश्कार्य तथा अप्रकार्य का नहीं । प्रकायों के इस वर्गीरण में मर्टन

के लिए अप्रकार्य महत्वपूर्ण नहीं है । वे सामाजिक व्यवस्था के संबंध में प्रकार्यात्मक विश्लेषण के लिए आप्रसंगिक है । प्रकार्यो के तनाव -दबाव तथा खिंचाव गतिशीलता तथा परिवर्तन को जन्म देते है, जिनके लिए दुष्कायों का अध्ययन महत्वपूर्ण है । मर्टन के दृष्टिकोण मे प्रकार्यात्मक विश्लेषण के लिए अनेक सावधानियों की आवश्यकता है और इन आवश्यकताओं का समावेश इस पेरेडिम में किया गया है । मर्टन अपने पेरेडिम में उन प्रवृत्तियों की चर्चा भी करते हैं जो समाजशास्त्रियों में है और ये ही प्रवृत्तियों प्रकार्यात्मक विश्लेषण को दूषित कर सकती हैं। इसी प्रकार से मर्टन ने अवधारणात्मक स्पष्टीकरण पर भी जोर दिया है ।

मर्टन का पेरेडिम वस्तुत: सिद्धान्त -शोध पद्धति के पारस्परिक समन्वय का प्रयास है। पद्धति की दृष्टि से जो बिन्दु उभरते हैं, वे हैं:

1. अलग -अलग आनुभाविक समस्याओं के लिए अलग शोध पद्धति की आवश्यकता है ।
2. यद्यपि शोध सामान्यीकरण तक पहुंचा सकता है, पर सीधे सैद्धान्तिक परीक्षण में सहायक हो भी हो सकता है और नहीं भी ।
3. सामान्य सिद्धान्तों से बनाई गई उपकल्पना से आनुभाविक शोध करना अधिक श्रेयस्कर होगा

17.06 पेरेडिम के उद्देश्य तथा उपयोग

स्वयं मर्टन ने इस पेरेडिम के उद्देश्य तथा उपयोगिता के विषय में लिखा है । उनका मानना है:

1. यह पेरेडिम पर्याप्त तथा उपयोगी प्रकार्यात्मक विश्लेषण के लिए एक निर्देशिका (Codified guide) है । इस उद्देश्य का प्रत्यक्ष अर्थ यही है कि समाजशास्त्रियों को अवधारणाओं का एक न्यूनतम सेट प्रदान किया गया है, जिससे वे पर्याप्त प्रकार्यात्मक विश्लेषण कर सकते हैं । इसके माध्यम से वर्तमान उपलब्ध विश्लेषणों का आलोचनात्मक परीक्षण भी किया जा सकता है । यह भी कहा जा सकता है कि इस निर्देशिका का प्रयोग प्रकार्यात्मक विश्लेषण से संबंधित शोध कार्यो के लिए भी किया जा सकता है ।पुराने किये गये शोध कार्यो तथा प्रस्तावों की क्षमता एवं उनमें कमी का भी परीक्षण किया जा सकता है।
2. पेरेडिम का उद्देश्य प्रकार्यात्मक विश्लेषण में निहित आधारभूत तत्वों तथा मान्यताओं को समझना भी है । वर्णित की गई मान्यताओं में से कुछ प्रकार्यात्मक विश्लेषण की मूल हैं । कुछ मान्यताएं ऐसी भी हैं जो आप्रसंगिक तथा छोड़ने लायक हैं । कुछ ऐसी भी मान्यताएं है जो अस्पष्ट हैं तथा शोधकर्ता को गलत राह पर ले जा सकती हैं । पेरेडिम इन सबके परीक्षण की राह बताता है ।
3. पेरेडिम ने केवल विभिन्न प्रकार्यात्मक विश्लेषणों के संकुचित वैज्ञानिक निहित आधारों के संबंध में समाजशास्त्रियों को चैतन्य करता है, साथ ही साथ उनके राजनीतिक तथा कभी कभी वैचारिक परिणामों के संबंध में दृष्टि देने का प्रयास भी करता है । संभव है कि प्रकार्यात्मक विश्लेषण किसी बिन्दु पर राजनीतिक या सामाजिक अभियंत्री को समाविष्ट अपने में कर ले - वे बिन्दु हैं जिनको इस पेरेडिम में सम्मिलित किया गया है ।

17.07 मर्टन का प्रकार्यवाद

प्रकार्यवादी समाजशास्त्र के लिए मर्टन के योगदान के तीन स्वरूप हैं । पारंपरिक प्रकार्यवाद के कतिपय आधारों की पुष्टि, पुरानी मान्यताओं का पुनर्गठन तथा परिमार्जन तथा उनका अपना मौलिक चिन्तन तथा सैद्धान्तिक योगदान ।

मर्टन का प्रारंभिक योगदान सामाजिक व्यवहारवाद (Social behavioursim) की सामाजिक किया शाखा के लिए था । यह एक प्रकार से मैक्स वैबर के विचारों का विस्तार ही था । वैबर ने पूंजीवाद और प्रोटेस्टेंट धर्म के पारस्परिक संबंधों का परीक्षण किया था और प्रोटेस्टेंट लोगों की आंतरिक आध्यात्मिक इच्छा को प्रकट व्यवहार में देखने का प्रयास किया था । अपनी मौलिक रचनाओं के लिए मर्टन ने व्यवहारवाद को त्याग दिया तथा सामाजिक विश्लेषण के लिए प्रकार्यवाद को स्वीकार कर लिया । उन्होंने लिखा वर्तमान समय में समाजशास्त्रीय विश्लेषण के लिए वर्तमान में सर्वाधिक आशावादी और समीचीन विचार हैं । कई बौद्धिक मंचों से जन्मा प्रकार्यवाद टुकड़ों और पैबन्दों मे विकसित हुआ है - एक सम्पूर्णता में नहीं । प्रकार्यवाद समाजशास्त्र सैद्धान्तिक आवश्यकताओं की अंतत: पूर्ति करेगा । पार्सन्स की तरह मर्टन ने समाज की प्रकार्यवादी परिभाषा को स्वीकार किया था । मर्टन के लिए समाज क्रियाओं का प्रभावी तंत्र है (a system of action in operation) मर्टन ने अन्य प्रकार्यवादी सैद्धान्तिक व्याख्याओं को भी स्वीकार किया । ।

मर्टन ने कुछ प्रकार्यवादी आधार तत्वों में संशोधन किये । पारम्परिक प्रकार्यवादी आधार तत्वों की मर्टन की आलोचना प्रखर तथा रोचक थी । जैसे पारंपरिक प्रकार्यवाद का विश्वास था कि 1. सामाजिक गतिविधियां और सांस्कृतिक तत्व सम्पूर्ण समाज और संस्कृति के लिए प्रकार्यवादी होते हैं, 2. ये सभी सामाजिक सांस्कृतिक मसले सामाजिक प्रकार्यो की पूर्ति करते हैं, और 3. ये सभी प्रामाणिक गतिविधियां समाज के लिए अपरिहार्य हैं । मर्टन ने कहा कि सामाजिक एकता की कल्पना पूर्व में ही कर लेना गलत है -यह एक आनुभविक परीक्षण की समस्या है, जिस इकाई में परिस्थितियों का परीक्षण किया जा रहा है, उसको परिभाषित करना आवश्यक है तथा गतिविधियों के दोनों ही पक्षों को देखना आवश्यक है - प्रकायों को भी और दुष्कायों को भी । प्रकार्य'तीन प्रकार के हो सकते हैं - प्रकार्य (function), दुष्कार्य (dysfunction) तथा अप्रकार्य (non function) यह मानना गलत है कि एक ही प्रकार की इकाई समूह के अस्तित्व के लिए महत्वपूर्ण होती है - संरचनात्मक अन्य विकल्पों को देखना भी आवश्यक है ।

प्रकार्यवादी सैद्धान्तिक विश्लेषण में मर्टन का मौलिक योगदान बहुल संदर्भी था । पार्सन्स के प्रभाव से ऐसा लगता था कि मर्टन वृहद् सिद्धान्त (Grand Theory) की परम्परा में आगे बढ रहे है । लेकिन स्वयं मर्टन ने अपने सैद्धान्तिक तथा पद्धति को दो रूपों में बांट कर देखा - मध्य वर्गीय सिद्धान्त (Middle Range Theory) तथा पद्धति की स्पष्टताएं । इस मौलिक योगदान को निम्न रूप में देखा जा सकता है -

1. मध्यमवर्गीय सिद्धान्त (Middle Range Theory)

2. प्रकार्यवाद का स्पष्टीकरण (Explanation of functionalism)
3. प्रकार्यवादी विश्लेषण की पद्धति (Method of functional analysis)
4. प्रकार्यात्मक क्रियाओं का वर्गीकरण (Classification of functional actions)
5. आनुभाविक अध्ययनों के आधार पर कतिपय प्रतिमानों का निर्माण (Creation of few patterns on the basis of empirical Studies)

17.08 प्रकार्य का अर्थ

यह नोट करना रूचिपूर्ण होगा कि मर्टन ने जिन विद्वानों से प्रकार्यात्मक विश्लेषण के विचार लिए थे, वे अधिकांशत: मानवशास्त्री थे । रैडक्लिफ ब्राउन (Redcliffe Brown), मैलिनोस्की (Malinowski) तथा कलाइड क्लखान (Clide Kluckhon) - सभी विद्वान मानवशास्त्री थे । मर्टन ने प्रकार्यवादी सिद्धान्त की स्पष्टता के लिए प्रकार्य शब्द के विभिन्न अर्थो के अंतरों से प्रारंभ किया था । ये अर्थ निम्न थे -

1. सार्वजनिक अवसर अथवा सार्वजनिक अवसरों पर एकत्र समूहों के संदर्भ में । (Function as social gathering)
2. व्यवसाय के रूप में (as an occupation)
3. वे गतिविधियां जो किसी पदधारी को कर्तव्य के लिए निर्धारित की जाती हैं - जैसे किसी ऑफिसर को प्रदत्त किये गये कार्य । (As activities assigned to some one)
4. गणितशास्त्रीय गणना के संदर्भ में (Mathematical term)
5. जैविक अथवा समाज के वे कार्य जो सामाजिक व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने का कार्य करते हैं । (Biological or social procuders helping to maintain tosome one)

मर्टन के अनुसार पांचवा अर्थ मानवशास्त्रियों तथा समाजशास्त्रियों तथा समाजशास्त्रियों के लिए प्रासंगिक है । मर्टन ने बाद में लिखा कि इन पांच अर्थो के अतिरिक्त भी प्रकार्य के अन्य अर्थ भी हो सकते है । उनका मानना था कि प्राय: लोग इस शब्द का प्रयोग अपनी मनःस्थिति के अनुसार विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न तरीकों से करते है । इसीलिए यह शब्द 'उद्देश्य', 'मनोवृत्ति' 'प्रारूप' प्राथमिक चिन्ता तथा इच्छा के रूप में भी प्रयुक्त हो जाता है । समाजशास्त्रीय प्रकार्य का अर्थ है - "अवलोकनीय वस्तुनिष्ठ परिणाम (Obesrvable objective consequences), किन्ही व्यक्तियों के व्यवहारों की तार्किकता आवश्यक नहीं वस्तुनिष्ठ अवलोकन के परिणामों से संबंधित हो । आवश्यक रूप में मर्टन ने प्रकार्य के वास्तविक अर्थ को दो आधारों पर बनाए रखा । 1 जैवीय तंत्र व्यवस्था के रूप में, इस तंत्र व्यवस्था में इच्छाओं, प्रारूप, उद्देश्यों के प्रभावी परिणाम के रूप में । यदि मर्टन के अर्थ को और अधिक व्यापक बनाया जाए तो अर्थ स्पष्ट है । कोई भी आंशिक संरचना, किसी प्रकार का उपसमूह, कोई भूमिका या कोई सामाजिक मानक या सांस्कृतिक मूल्य यदि किसी व्यवस्था या उपव्यवस्था की आवश्यकतओं को पूरा करते हैं तो वे सामाजिक व्यवस्था के लिए प्रकार्यात्मक हैं । किसी भी सामाजिक व्यवस्था में ये इकाइयां सकारात्मक तरीके से समाज को सुचारू रूप से चलाने में मदद करतीं हैं ।

इस प्रकार संरचना और प्रकार्य दोनों का ही संबंध सामाजिक आवश्यककताओ से है । विभिन्न सामाजिक प्रणालियों में कुछ आवश्यकताएं जैसे यौन संतुष्टि, सामाजिक निरन्तरता को बनाये रखने के लिए प्रजनन किया, प्राकृतिक आपदाओं से सुरक्षा आदि सार्वदेशिक आवश्यकताएं हो सकती हैं । पर अलग -अलग सामाजिक व्यवस्थाओं की आवश्यकताएं भी अलग -अलग हो सकतीं है जैसे भारत में विभिन्न धार्मिक समूहों के बीच समन्वय और राज्य की धर्मनिरपेक्षता, बोलने वालें के बीच समन्वयता आदि समस्याएं कई समाजों में नही है । इस तरह सामान्य और विशिष्ट आवश्यकताओं के अनुरूप सामाजिक प्रणालियों की संरचना और प्रकार्य निर्मित होते हैं । जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, मर्टन का स्पष्ट मानना है कि प्रकार्य की अवधारणा शाब्दिक भ्रांतियों से त्रस्त ही है । प्रकार्य की अवधारणा को सामाजिक संरचना के संदर्भ में ही देखा जाना चाहिए ।

17.09 प्रकार्या के वर्गीकरण की रूपरेखा

समाजशास्त्र प्रकार्यात्मक विश्लेषण के लिए मर्टन ने दो पारस्परिक संबंधित प्रक्रियाओं का वर्गीकरण प्रस्तुत किया । प्रकार्य के साथ उन्होंने अप्रकार्य / दुष्कार्य (Non Function/Dysfunction) को 'जोड़ा । साथ ही उन्होंने अप्रकार्य (Non Function) को भी जोड़ा । प्रकार्यात्मक विश्लेषण के लिए मर्टन ने इसे सम्पूर्ण विश्लेषण के लिए जोड़ा है । इन अप्रकार्यो को मर्टन ने बड़े स्पष्ट रूप मे समझाया है । मर्टन के अनुसार जो प्रकार्य आशिक संरचना, कर्ता,परिस्थिति की आवश्यकताओं को पूरा करने में असमर्थ है, या बाधक हैं तो वे दुष्कार्य हैं । जो प्रकार्य संरचना के लिए आप्रसंगिक हैं तथा जिसकी संरचना को कोई आवश्यकता नहीं है इन्हें अप्रकार्य (Non Function) कहते हैं । प्राथमिक समूह जैसे परिवार और द्वैतीयक समूह जैसे अधिकारी तंत्र में ये दुष्प्रकार्य साफ दिखाई देते हैं । सामाजिक एवं व्यक्तिगत सुरक्षा के लिए संयुक्ता परिवार प्रणाली प्रकार्यात्मक रही है,पर नये सामाजिक परिवर्तनों जैसे व्यक्तिवाद में वृद्धि, परिवार के सदस्यों के बीच संबंधों में बदलाव और नगरीकरण आदि ने धीरे -धीरे संयुक्त परिवार को दुष्कार्यो की ओर धकेल दिया है ।

एक ओर जहां दुष्कार्य - प्रकार्यवादी विश्लेषण के लिए एक अतिरिक्त व्याख्या है, दूसरी ओर मर्टन ने प्रकट तथा प्रच्छन्न प्रकार्य का एक और वर्गीकरण प्रस्तुत किया है । मर्टन से पहले स्टुअर्ट चैपिन (Stuart Chaplin) ने संस्थाओं के संबंध में इस प्रकार की संभावनाओं को विवेचित किया है । चैपिन के अनुसार संस्थाएं अपनी औपचारिक व्यवस्थाओं के माध्यम से कुशलता तथा क्षमता कार्य अवश्य करती हैं, परन्तु वे प्राय: अनौपचारिक व्यवहारों को न नियंत्रित कर पाती हैं और न ही उसका उपयोग कर पाती हैं । उदाहरण के लिए मद्यपान करने की रूढ़ि का अर्थ है -शराब की और अधिक मांग । मद्यनिषेध के लागू होने के बाद राजनीति और अपराध के गठबन्धन अनौपचारिक रूप से आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं । स्पष्टत: दिखाई देने वाले औपचारिक नियम तथा अनौपचारिक जनमांग को पूरा करने वाले प्रयास दो अलग -अलग चित्र प्रस्तुत करते हैं।

लेकिन मर्टन ने प्रकट और प्रच्छन्न प्रकार्यो की भूमिका चैपन के विचारों से प्राप्त नहीं की । संभवत: इन विचारों की पृष्ठभूमि मर्टन ने सिगमंड फ्रायड (Singmurd Freud) से प्राप्त की । फ्रायड ने प्रकट तथा प्रच्छन्न स्वप्नतलों की चर्चा की है तथा इन्हीं संदर्भो को चैतन्य अचैतन्य मनोवृत्तियों के रूप मे देखा है । मर्टन का वितरण चैपिन से अलग फ्रायड के ज्यादा नजदीक है । मर्टन के अनुसार प्रकट (manifest) प्रकार्य वे प्रकार्य होते है जिनकी स्पष्ट पहचान होती है । इनके पीछे अपेक्षित इरादा होता है और जो वस्तुपरक होते हैं । प्रच्छन्न प्रकार्य के पीछे आंतरिक मनोवृत्ति होती है, इसकी पहचान कर पाना कठिन है तथा इस प्रकार के प्रकार्यों के पीछे आंतरिकता होती है ।

17.10 प्रकट प्रकार्य (Manifects Function)

मर्टन के अनुसार प्रकट प्रकार्य (Manifects Function) वे वस्तुनिष्ठ परिणाम (Objective Consequences) है जो किसी सामाजिक व्यवस्था में समायोजन और अनुकूलन के लिए योगदान देते हैं, जो इच्छापूर्वक किये गये हैं तथा व्यवस्था में उनकी पहचान है । प्रकट प्रकार के प्रकार्य समाज द्वारा निर्देशित हैं । एक समुदाय में अपने हितों के लिए उत्पन्न संघर्ष प्रकट प्रकार्य हैं । इसी प्रकार से सामाजिक जीवन में बहुत से निषेध (Taboo) इस प्रकार के कार्यो के उदाहरण हैं । दुर्खीम के धर्म विश्लेषण में अन्तत: सांसारिक मुक्ति भी इसी प्रकार के उदाहरणों में से है । भारत जैसे देश में प्रजातंत्र का एक उद्देश्य राजनीतिक गैर -बराबरी समाप्त करना है । स्वयं मर्टन ने वेबलिन (Veblin) के विलासी वर्ग (Leisure class) का उदाहरण देते हुए लिखा है कि जीवन को सुखद बनाने के लिए अधिक से अधिक धन का संग्रहण प्रकट प्रकार्य है । प्राय: समाजशास्त्रियों ने कौटुम्बिक व्यभिचार निषेध (Incest Taboo) का उदाहरण भी इस संदर्भ में दिया है । दण्ड के भी दो रूप हैं । कानून द्वारा अपराधी पर पड़ने वाला प्रभाव प्रकट प्रकार्य के रूप में देखा जा सकता है ।

17.11 प्रच्छन्न प्रकार्य (Latent function)

ये वे प्रकार्य हैं जिनके पीछे आन्तरिक प्रवृत्ति होती है । इनकी उपरी पहचान कर पाना कठिन है । इनके पीछे आंतरिकता होती है । इस प्रकार के प्रकार्यो में न कोई इच्छा है और न कोई इसकी पहचान है । औपचारिक संरचनाओं की कमजोरियों कुछ वैकल्पिक संरचनात्मक आधार उत्पन्न करती है. जो समूह द्वारा अनुभव किये जाने वालों की आवश्यकताओं से अधिक कुशलता से पूरा करती हैं । मर्टन का अभिप्राय ऐसी ही रचनाओं से था जिन्हें उसने प्रच्छन्न प्रकार्य (Latent function) कहा । समाज में कुछ ऐसे लक्ष्य होते है, जिन्हें समाज ने निर्दिष्ट नहीं किया होता । संयोग से व्यवस्था में कुछ अनिर्दिष्ट परिणाम बन जाते हैं । ये परिणाम व्यवस्था को स्वीकार भी नही होते । ये ही परिणाम प्रच्छन्न प्रकार्य की श्रेणी में आते हैं । कानून विरोधी आचरण करने वालों के प्रति आंतरिक घृणा तथा चोरों और हत्यारों के विरोध में जनभावना इसी प्रकार का प्रकार्य है । इस संबंध में दण्ड का समुदाय पर पड़ा प्रभाव भी प्रच्छन्न प्रकार्य के रूप में देखा जा सकता है ।

मर्टन स्वयं ने प्रच्छन्न प्रकायों को समझाने के लिए दो उदाहरणों को प्रस्तुत किया । पहला मालिकवाद (Bossism) और राजनीतिक तंत्र (Poltical Machine) । उनका मानना है कि राजनीतिक अधिकारिक संरचना से असंतुष्टि स्वयं संरचना नहीं कर सकती । इसी प्रकार छोटे या बड़े व्यापारियों 'को दी गई राजनीतिक सुविधाएं उन्हें लाभ दिलाने में मदद करतीं हैं । राजनीतिक तंत्र उन लोगों की मदद भी कर सकता है जो अन्यथा तिरस्कृत तथा बहिष्कृत लोगों के लिए लाभदायी सिद्ध हो सकते हैं ।

मर्टन के अनुसार प्रकट तथा प्रच्छन्न प्रकार्यो के बीच अन्तर इसलिए स्पष्ट किया गया है कि समाजशास्त्रीय साहित्य में व्याप्त भ्रम को समाप्त किया जा सके । यह भ्रम मूलत: सामाजिक व्यवहार के चैतन्य प्रेरणा तथा उसके वस्तुनिष्ठ परिणामों क बीच का है प्रकार्य विश्लेषण की वर्तमान प्रचलित शब्दावली से यह स्पष्ट हो जाता है कि दुर्भाग्य से समाजशास्त्री प्रेरणा और प्रकार्य मे कोई अन्तर नहीं कर पाते । इसलिए यह आवश्यक है कि नई शब्दावली के माध्यम से कुछ अस्पष्टताओं को दूर किया जाये । फ्रायड (Freud) और बेकॉन (Becon) ने बहुत पहले प्रच्छन्न प्रक्रिया और प्रच्छन्न आकृतियों की चर्चा की है । यदि प्रकार्यात्मक विश्लेषण की स्पष्टता चाहिए तो इन दोनों प्रकार के प्रकार्यो का अन्तर महत्वपूर्ण होगा । कई समाजशास्त्रियों ने इस प्रकार के अन्तर की व्याख्या की है । जार्ज एच.मीड़ ने कानून को तोड़ने वालों के विरूद्ध लोगों की विरोधी मनोवृत्ति को प्रच्छन्न प्रकार्य के रूप मे देखा है और उससे उत्पन्न भावनात्मक एकता की व्याख्या की है । दुरखाइम ने भी दण्ड के सामाजिक प्रकार्य के सम्बन्ध में उन प्रच्छन्न प्रकार्यो की चर्चा की है । जिनके परिणाम समुदाय के लिए होते हैं । दुरखाइम ने मात्र प्रकट प्रकार्यो की चर्चा ही नहीं की है । समनर (Summner) ने भी संतुष्टि के संदर्भ में इसी प्रकार के तात्कालिक संतोष की चर्चा की है ।

बहुत से अन्य समाजशास्त्रीय अध्ययनों में समय -समय पर आत्मनिष्ठ चिन्तन (आवश्यकताएं, हित उद्देश्य) के साथ -साथ उनके वस्तुनिष्ठ प्रकार्यात्मक परिणामों की चर्चा भी की है । मर्टन के अनुसार प्राय: आत्मनिष्ठ आधारों की चर्चा नही होती है ।

इन अवधारणाओं की विभिन्नता इस बात की ओर संकेत करती है कि प्रकट तथा प्रच्छन्न प्रकार्यो के अन्तरों का सम्बन्ध मानवीय व्यवहारों के साथ जुड़ा हुआ है । मर्टन ने इस अन्तर के स्वत: शोध प्रणाली (heuristic) के उद्देश्यों के रूप में चर्चा की है, जो निम्न आधारों पर देखी जा सकती है ।

1. यह पारम्परिक सामाजिक प्रतिमानों में अतार्किक दिखने वाले विश्लेषणों को स्पष्ट करती है । मर्टन यह मानते हैं कि इस प्रकार के अन्तरों के सम्बन्ध में बहुत कुछ भ्रान्तियां हैं । प्रकट और प्रच्छन्न प्रकार्यो का अन्तर इन भ्रान्तियों को दूर कर स्पष्टता प्रदान करता है ।
2. शोध के लिए लोगों का ध्यान सैद्धान्तिक दृष्टि से महत्वपूर्ण बिन्दुओं की ओर आकर्षित करता है - प्रकट तथा प्रच्छन्न प्रकार्यो के बीच का अन्तर समाजशास्त्रियों के लिए समझना आवश्यक है । इस प्रकार के विश्लेषण के लिए समस्याएं सुनिश्चित कर ली जाती हैं तथा उनका सही निराकरण किया जा सकता है ।

3. प्रच्छन्न प्रकायों की खोज समाजशास्त्रीय ज्ञान में महत्वपूर्ण प्रेरणा देने का कार्य करती है । दूसरे शब्दों मे समाजशास्त्रीय ज्ञान न केवल परिपक्व होता बल्कि उसके विस्तृत होने में सहायता देता है ।
4. प्रच्छन्न प्रकायों का सम्बन्ध संरचनात्मक है । अर्थात इसकी मीमांसा संरचना के विश्लेषण के साथ जुडी हुई है ।

मर्टन की प्रयुक्त विवेचना न केवल प्रकट और प्रच्छन्न प्रकार के प्रकार्यो पर आधारित है बल्कि साथ ही साथ उन उद्देश्यों का भी विश्लेषण हैं जो इन दोनों प्रकार के प्रकार्यो के साथ जुड़ी हुई है ।

17.12 वर्गीकरण पर एक दृष्टि

प्रकट तथा प्रच्छन्न प्रकार्यो के बीच अंतर को निम्न कार्यो में देखा जा सकता है:

	प्रकट प्रकार्य	**प्रच्छन्न प्रकार्य**
1.	वे प्रकार्य जो इच्छित हैं	वे प्रकार्य जो प्रतिच्छित होते हैं ।
2.	इनकी पहचान होती हैं	इनकी पहचान नहीं होती ।
3.	आन्तरिकता नहीं होते	आन्तरिकता होती हैं ।
4.	सामान्यत: औपचारिक होते हैं	अनौपचारिक का पुट होता

मर्टन के उपर्युक्त विश्लेषण पर कुछ स्पष्टीकरण आवश्यक है । किसी भी सामाजिक व्यवस्था में प्रकट तथा प्रच्छन्न प्रकार्य दोनों ही होते हैं और इन प्रकार्यो के परिणाम सकारात्मक और नकारात्मक दोनों ही होते हैं एक ही प्रकार की सामाजिक व्यवस्था में सकारात्मक और नकारात्मक पक्ष दोनों ही इन प्रकार्यो पर प्रभावी होते हैं । धर्म - उसके अनुयायियों के लिए सांसारिक मुक्ति से पाने का साधन है, पर मार्क्स ने धर्म को अफीम माना । प्रथाओं और कई गतिविधियों के अनैच्छिक परिणाम भी हैं । जाति व्यवस्था उंची जातियों के लिए कोई परिणाम है पर दलितों तथा नीची जातियो, के लिए कुछ और । किसी छोटे शहर में एक कॉलेज खोलने की प्रकट इच्छा उच्च शिक्षा को बढाना है, पर प्रच्छन्न रूप में इसका संबंध उस शहर की अर्थव्यवस्था से भी है ।

आलोचकों का मानना है कि मर्टन ने सारी अवधारणाओं को चैतन्य -अचैतन्य, इच्छित अनिच्छित के रूप में परिवर्तन कर अपनी ही मान्यताओं का उल्लंघन कर इसे उद्देश्यात्मक आधार प्रदान कर दिया है । मर्टन ने अपनी सैद्धान्तिक व्याख्या के लिए जो भी उदाहरण दिये हैं वे उसकी परिभाषा के साथ संगत नहीं खाते 1 यह विश्वास करना कठिन है कि राजनीतिक या आर्थिक गतिविधियों में मालिक प्रकट या प्रच्छन्न प्रकार्या में अंतर नही कर सकता ।

ऐसा माना जाता है कि यद्यपि प्रकार्यो का यह वर्गीकरण सम्पूर्ण प्रकार्यात्मक विश्लेषण के तरीके को सरल करता है - पर श्रेष्ठ प्रकार्यात्मक विश्लेषण का सबसे अच्छा उदाहरण स्वयं मर्टन का संरचना तथा नियमहीनता (Structure and anomie) पर अध्ययन है । अनुकूलन तथा सामंजस्यता की प्रक्रीया का इस अध्ययन में मर्टन ने सैद्धान्तिक दृष्टि से महत्वपूर्ण व्याख्या की है ।

मर्टन के इस वर्गीकरण का उद्देश्य क्या है? मर्टन के अनुसार समाज में बहुत से प्रतिमानों का अर्थ तभी समझा जा सकता है जब उन्हें प्रच्छन्न प्रकायों के परिणामों के संदर्भ में देखा जाये । दूसरा, इनका उपयोग किसी शोध या जानकारी प्राप्त करने के लिए लाभदायक परिणाम प्राप्त करने के लिए किया जा सकता है । तीसरे, ये अवधारणाएं समाजशास्त्रीय ज्ञान में वृद्धि करती हैं और अन्त में कहा जा सकता है कि यह वर्गीकरण समाजशास्त्रीय विश्लेषण में समाजशास्त्रियों के सहज नैतिक निर्णयों का निवारण भी है ।

17.13 सारांश

इस पाठ के आरंभ में यह स्पष्ट किया गया है कि आधुनिक समाजशास्त्र में प्रकार्यात्मक संरचनात्मक विश्लेषण का प्रभाव रहा है । ऐतिहासिक दृष्टि से यह विश्लेषण समाजशास्त्र तथा अन्य शास्त्रों के लिए नयी नहीं है । स्वयं समाजशास्त्र में यह परम्परा समाजशास्त्रियों तथा मानवशास्त्रियों के साथ जुड़ी रही । मर्टन इस परम्परा की कड़ी में अवश्य है पर वे मानवशास्त्री प्रकार्यवाद की सैद्धान्तिक परम्परा के कटु परीक्षक रहे हैं । इसीलिए प्रकार्यात्मक विश्लेषण में उन्होंने कई प्रकार से योगदान दिया । प्रकार्यात्मक विश्लेषण का पेरेडिम इन योगदानों में से एक था । मर्टन का यह पेरेडिम प्रकार्यात्मक विश्लेषण की समीक्षा भी है, स्पष्टीकरण भी है और जैसा कि उन्होंने उद्देश्यों में लिखा है, समाजशास्त्रियों के लिए एक निर्देशिका भी है । मर्टन ने लिखा है इस पेरेडिम का उपयोग पूर्ववर्ती शोधों की तथा प्रकार्यात्मक विश्लेषण सकी समीक्षा, प्रकार्यात्मक विश्लेषण में छूटे हुए विषय तथा स्थैतिकी के साथ गतिशीलता तथा परिवर्तन के अध्ययन के संबंध में किया जा सकता है । प्रकार्यात्मक विश्लेषण के स्थैतिकी पर अधिक जोर देने के लिए मर्टन ने बदलने का दृष्टिकोण भी मर्टन ने इसमें बदलाव की बात भी. कही है ।

प्रकार्यवाद की मर्टन की इन समीक्षाओं का अन्त नहीं हुआ है । अमरीका में ही पुन: उभरे नवप्रकार्यवाद के समर्थकों ने प्रकार्यवाद की अपनी ही तरह से समीक्षाएं की हैं तथा अपने ही तरह से धारणाओं को प्रस्तुत किया है जैसे किंग्सले डेविस (Kingsley Davic) ने कहा है कि प्रकार्यवाद कोई सिद्धान्त है ही नहीं । बहुत से अन्य समाजशास्त्रियों ने भी प्रकार्यवाद की पुरानी मान्यताओं को रद्द कर नई संभवनाओं के साथ प्रकार्यवाद का पुनर्विश्लेषण किया है । आलोचक एवं समाजशास्त्री ल्हुमान (Lhuman) ने लिखा है - व्यवस्था तथा प्रकार्य की अवधारणा का संबंध अब व्यवस्था से नहीं है बल्कि व्यवस्था तथा पर्यावरण के बीच का है । जो कुछ भी होता है, वह व्यवस्था में होता है । जॉर्ज रिटजर (Gorge Ritzer) ने भी माना है कि वर्ष 1960 के बाद प्रकार्यवाद पर पुन: विचार हुआ, जिसे नवप्रकार्यवाद कहा जाता है । नवप्रकार्यवादियों का यह मानना है कि समाजशास्त्र की पुर्नव्याख्या है । एक और विद्वान अलेक्लेण्डर (Alexander) ने नवप्रकार्यवाद का समाजशास्त्र के लिए तथा समाज को समझने के लिए नया उपागम कहा है । प्रकार्यवाद की परम्परा में नई व्याख्याएं नये समाजशास्त्र की देन भी हैं ।

17.14 शब्दावली

प्रकार्यवाद	समाजशास्त्र का वह सैद्धान्तिक और विधि संबंधी दृष्टिकोण जो किसी संरचना में विभिन्न इकाइयों के पारस्परिक निर्भरता तथा उनके द्वारा संरचना के संचालन की व्याख्या के आधार पर विश्लेषित होती है ।
आईटम	वह इकाई जो प्रकार्यात्मक विश्लेषण के लिए स्वीकार की गई है तथा जो प्रकार्य का कार्य करती है । इसे हिन्दी में मद भी कह सकते है।
प्रकार्य	किसी सामाजिक व्यवस्था में समायोजन तथा अनुकूलन प्रदान करने वाले कार्य ।
दुष्कार्य	किसी सामाजिक व्यवस्था में प्रकार्य के विपरीत समायोजन अथवा अनुकूलन नहीं प्रदान करने वाले कार्य ।
अप्रकार्य	वे प्रकार्य जो सामाजिक व्यवस्था के लिए अप्रासंगिक हैं और होने या न होने से व्यवस्था पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।
पेरेडिम	वह मॉडल जिसको क्रियान्वित किया जाये या जिसको स्वीकार कर उसके अनुसार चला जाय ।
प्रकट प्रकार्य	वस्तुनिष्ठ परिणाम जो सामाजिक व्यवस्था में अनुकूलन तथा सामंजस्य पैदा करते है।
प्रच्छन्न प्रकार्य	आंतरिक प्रवृत्ति के आधार पर उत्पन्न परिणाम जिनकी पहचान कर पाना कठिन हो जाता है ।

17.15 बोध प्रश्न

1. प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य क्या है?
2. मर्टन के विचारों पर प्रभाव डालने वाले उसके पूर्ववर्ती तीन समाजशास्त्रियों के नाम बताइये।
3. प्रकार्यात्मक विश्लेषण का पेरेडिम मर्टन ने अपनी किस पुस्तक में दिया है?
4. पारम्परिक प्रकार्यात्मक विश्लेषण में मर्टन के संसाधनों को बताइये ।
5. प्रकार्यात्मक विश्लेषण का पेरेडिम मर्टन ने अपनी किस पुस्तक में दिया है?
6. पेरेडिम को तैयार करने में मर्टन ने किन बिन्दुओं को उठाया है?
7. वस्तुनिष्ठ अवधारणाओं को स्पष्ट करते समय मर्टन ने किन दो प्रवृतियों का उल्लेख किया है?
8. मर्टन के समाजशास्त्र को योगदान पर एक टिप्पणी लिखिये ।
9. अप्रकार्य का अर्थ क्या है?

17.16 संदर्भ ग्रंथ

1. Robert K. Merton (1965), Socical Theory & Structure, New Delhi, Amerind
2. Zetlin Irving M. (1987), Rethinking Sociology, Rawat,Jaipur.
3. Martindale, Don, Nature and Types of Sociological Theory, Boston

4. Adems. Dertn, Sydei R.A (2002), Sociological Theory, New Delhi,Vistar.
5. फ्रांसिस, अब्राहम (2005) Contemporary Sociology, नई दिल्ली, ऑक्सफोर्ड

इकाई - 18

वैब्लिन : विलासी वर्ग का सिद्धांत

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य
18.1 प्रस्तावना
18.2 विलासी वर्ग का सिद्धान्त
18.3 वैब्लिन के नियम
16.4 सारांश
18.5 शब्दावली
18.6 बोध प्रश्न
18.7 संदर्भ ग्रंथ

18.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप,

- वैब्लिन के विलासी वर्ग का सिद्धान्त समझ सकेंगे ।
- वैब्लिन के सामाजिक जीवन से सम्बन्धित नियम समझ सकेंगे ।
- सामाजिक व्यवस्था के सम्बन्ध में वैब्लिन के विचारों को समझ सकेंगे ।

18.1 प्रस्तावना

थॉर्सटीन वैब्लिन प्रमुख रूप से एक अर्थशास्त्रीय के रूप में जाने जाते हैं, किन्तु आप एक अर्थशास्त्री ही नहीं बल्कि एक दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्री, सामाजिक मानवशास्त्री, समालोचक आदि भी थे । आपके जीवन में अनेक उतार -चढ़ाव दिखाई दिये हैं आपने मानव -जीवन से सम्बन्धित अनेक घटनाओं का जिस अनुपम ढंग से विश्लेषण तथा निरूपण किया है वह उन्हें आधुनिक विचारक के रूप में प्रतिष्ठित कर देता है।

18.2 विलासी वर्ग का सिद्धान्त

बैब्लिन डार्विन के विकासवादी सिद्धान्तों के समर्थक हैं । आपका मानना है कि मानव तथा संस्थाऐं अनेक स्तरों से गुजरती हुई वर्तमान स्तर तक पहुंची हैं । जो कुछ भी आज हम या हमारी संस्थाएं हैं वह उसी उद्विकासीय प्रक्रिया का संचयी फल है जो निरन्तर हो रहा है । इस उद्विकासीय प्रक्रिया द्वारा आज दो आर्थिक संस्थाएं स्पष्ट रूप से विकसित हो चुकी हैं-

(1) व्यक्तिगत सम्पत्ति की संस्था - इनका सम्बन्ध धन से होता है ।

(2) उत्पादन की प्रौद्यौगिक प्रणाली से सम्बन्धित संस्था - यह मनुष्यों की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विविध वस्तुओं का उत्पादन करती है ।

समाज के उस भाग को, जिसका इन दो संस्थाओं पर एकाधिकार होता है, विलासी वर्ग कहते है । यह वर्ग सुरक्षित वर्ग कहा जा सकता है क्योंकि इन पर परिस्थितियों का प्रभाव कम

पड़ता है । यह वर्ग आर्थिक शक्ति की आड़ में सुरक्षित रहता है । इस आर्थिक शक्ति के कारण ही इसका अधिकार बडे -बडे उद्योग और व्यापार, बैंकिग व्यवस्था, कानून तथा अन्य औद्यौगिक संस्थाओं पर होता है । आर्थिक बल पर यह वर्ग दूसरों पर प्रभुत्व स्थापित करता है तथा अन्य सभी लोगों से अधिक सुविधा और आराम भोगता है । विलासी वर्ग आधुनिक समाज का एक महत्वपूर्ण वर्ग है तथा यह समाज के आर्थिक पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है । सम्पूर्ण पूंजीवादी व्यवस्था हमारी वर्तमान आर्थिक संस्कृति की अभिव्यक्ति है ।

वैब्लिन ने अपनी पुस्तक (The Theory of Lisure class) में विलासी वर्ग की पाँच विशेषताएँ बताई

(1) उनका व्यवहार विशेष रूप से आर्थिक विचारों से प्रभावित होता है ।

(2) उनमें दूसरों को प्रभावित करने के लिए दिखावा करने की प्रवृत्ति पाई जाती है ।

(3) इस उद्देश्य से वे दृष्टि आकर्षक उपभोग करते हैं, अर्थात् बाह्य ठाट -बाट के लिए फिजूल खर्च करते हैं ।

(4) इस वर्ग के सदस्य अनुत्पादक, आलसी तथा विलासिता प्रिय व्यक्ति होते हैं । इस वर्ग के लोगों में दृष्टि -आकर्षक उपभोग के साथ -साथ दृष्टि आकर्षक विलासिता की प्रवृत्ति भी होती है ।

(5) इनका उत्पादन, के साधनों तथा निजी सम्पत्ति पर प्रचुर मात्रा में अधिकार होता है ।

इन पाँचों आधार पर विलासी वर्ग को अन्य वर्गों से अलग किया जा सकता है । विलासी वर्ग की प्रमुख विशेषता दृष्टि -आकर्षक उपभोग तथा दृष्टि -आकर्षक विलास है । यह वर्ग बिना किसी उत्पादन कार्य में लगे हुए ही सर्वाधिक उपभोग तथा विलास का उपयोग करता है । यह वर्ग किसी प्रकार का उत्पादन कार्य नहीं करता है, फिर भी आराम तथा विलास का जीवन व्यतीत करता है । उत्पादन न करते हुए भी मनचाही वस्तुओं का उपभोग सम्मान का द्योतक है ।

वैब्लिन ने समाज को दो वर्गों में बाँटा है इनमें से एक वर्ग अपनी आर्थिक शक्ति के आधार पर अनुत्पादक होते हुए भी विलासी बना रहता है, जबकि दूसरा वर्ग उत्पादन कार्य में संलग्न रहते हुए भी इच्छानुसार वस्तुओं का उपभोग नहीं कर पाता है । समाज में इस प्रकार की भिन्नता प्राचीन काल से ही चली आ रही है । समाज में यह भिन्नता तभी से चली आ रही है जब से धन जैसी किसी वस्तु का लोगों को बांधे नहीं था । इस स्तर पर भी वस्तुओं के उपभोग में भिन्नता थी । उस समय यह भिन्नता प्रथा, परम्परा आदि पर आधारित थी, आज की तरह धन के संचय में भिन्नता पर आधारित नहीं थी ।

आदिम संस्कृति के प्रारंभिक स्तर पर समाज दो वर्गो में विभाजित था -

(i) प्रथम वर्ग सक्षम पुरुषों का था जिनकी स्थिति समाज में सम्मान प्रद थी, इस वर्ग को सम्मान प्राप्त श्रेष्ठ वर्ग कहा जा सकता है ।

(ii) दूसरा वर्ग स्त्रियों का था जिनकी स्थिति पुरुषों से निम्न थी, उपभोग के सम्बन्ध में भी स्त्री वर्ग को पुरुषों जितनी स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं थी । पुरुष वर्ग अपनी शक्ति के बल पर उपभोग के सम्बन्ध में भी श्रेष्ठतर स्थिति में थे ।

वैब्लिन का मानना है कि सामाजिक निषेध तथा परम्परागत रीतियाँ भी उपभोग के सम्बन्ध में भिन्नता पैदा करने में महत्त्वपूर्ण हैं । एक सधवा स्त्री अनेक प्रकार की इच्छित वस्तुओं, वस्त्र, आभूषणों तथा कार की मनचाही वस्तुओं का उपभोग कर सकती हैं, किन्तु उन्हीं वस्तुओं का उपभोग विधवा स्त्री के लिए निषिद्ध है । परम्परागत भारतीय समाज में अछूत जातियों के लिए सोने के आभूषण एवं अच्छे वस्त्र पहनने पर प्रतिबंध था ।

वैब्लिन के अनुसार आधुनिक समाज में उपभोग के विषय में प्रथा, परम्परा आदि पर आधारित सामाजिक नियम अब दिन प्रतिदिन निर्बल होते जा रहे हैं, इनके स्थान पर निजी सम्पत्ति के आधार पर उपभोग के सम्बन्ध में भिन्नता दृढ़ होती जा रही है । आधुनिक पूंजीवाद में निजी सम्पत्ति की धारणा उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है, क्योंकि आधुनिक आर्थिक व्यवस्था पूँजी पर आधारित है और धीरे -धीरे यह पूँजी एक वर्ग के पास केन्द्रित होती जा रही है जिससे उस वर्ग के लोगों की आर्थिक शक्ति भी बढ़ती जा रही है । यह वर्ग ही विलासी वर्ग है । आधुनिक युग में उपभोग के विषय में अन्तर धन पर आधारित है न कि प्रथा, परम्परा या अन्य किसी सामाजिक नियम या निषेध पर ।

जैसे -जैसे सम्पत्ति की धारण दृढ़ होती है, पूँजी का संचय बढ़ता है, वैसे -वैसे विलासी वर्ग का ढाँचा तथा कार्य दोनों ही परिवर्तित तथा विस्तृत होते हैं जिसके कारण यह वर्ग अनेक वर्ग तथा उप वर्गो में बँट जाता है । इन वर्गो में से एक वर्ग 'बिगड़े नवाबो का भी बनता है । यह वर्ग उन लोगों का होता है जिन्हें सज्जनता या शराफत तथा ऐश -आराम करने की आदत अपने बाप -दादाओं से विरासत में मिल जाती है किन्तु उस ऐश -आराम की जिन्दगी बिताने के लिए आवश्यक पैतृक धन नहीं मिलता क्योंकि शराफत का खून माता -पिता से पुत्र में जाने के लिए धन की आवश्यकता नहीं होती है । ऐसे लोगों को सज्जनता तथा ऐश -आराम करने की आदत पड़ जाती है इस कारण धन न होते हुए भी वे अपनी इस आदत को छोड़ नहीं पाते तथा जितना भी बन पडता है अपनी सज्जनता को बनाये रखते हुए तथा बाहरी ठाट -बाट का दिखावा करते हुए अनुत्पादक बने रहते हैं, अर्थात् उत्पादन कार्य में सक्रिय भाग नहीं लेते हैं । निर्धनता के पाट में पिसना उन्हें स्वीकार होता है, पर सज्जनता या ऐश -आराम के जीवन को छोड़ना या उत्पादन कार्य करके अपनी निर्धनता को दूर करना उन्हें स्वीकार नहीं होता । इसी कारण बेवर ने इन्हें 'विलासिता प्रिय निर्धन सज्जन पुरुष का वर्ग कहा' है ।

आराम प्राप्त वर्ग में भी ऊँच -नीच का एक संस्तरण होता है । जो लोग धन और वंश दोनों में ही ऊँची श्रेणी के होते हैं वे स्वयं को उस वर्ग से ऊँचा समझते हैं जो धन या वंश के सम्बन्ध में कमजोर होते हैं । प्रत्येक वर्ग अपने से ऊपर वाले वर्ग को अपना संरक्षक मानने लगता है, तथा विलास तथा उपभोग के सम्बन्ध में उसी ऊपर वाले वर्ग का भरसक अनुसरण करने का प्रयत्न करता है । नीचे वर्ग के लोग अपने से ऊपर वाले वर्ग में धन, व्यक्तिगत प्रतिष्ठा, पद या शक्ति के आधार पर उठने का प्रयास करते हैं ।

विलासी वर्ग स्वयं को अनेक उपवर्ग में विभाजित कर लेता है । सबसे ऊपर वाले वर्ग की सामाजिक स्थिति सबसे ऊपर होती है, उसके आचार -विचारों को आदर्श मानकर उनका

अनुसरण किया जाता है । इन आदर्शो का अनुसरण किया जाना सम्मानजनक कार्य माना जाता है । इसी कारण समाज के निम्नवर्ग के लोग भी यथा साध्य इन आदर्शो के स्वयं को नजदीक पहुँचाने का प्रयास करते हैं । त्यौहार उत्सव पर खान -पान, वेशभूषा आदि के विषय में उच्चवर्ग की नकल करते हैं । ऐसे त्यौहार व उत्सवों के मौके पर अनेक परिवार अपनी सामर्थ्य से अधिक खर्च कर देते हैं, कई बार ऐसे मौकों पर कर्ज लेकर भी खर्च किया जाता है । अनुकरण के रोग के कारण निम्न या मध्यम वर्ग के वे लोग जिनकी अधिक आय नहीं होती है, घर के अन्दरूनी मामलों या घर गृहस्थी के दिन प्रतिदिन के खर्चो में कटौती करके बाह्यठाट -बाट को यथासंभव ऊँचे स्तर पर रखने का प्रयास करते हैं । परिवार की स्त्रियाँ अधिक से अधिक अच्छे आभूषण तथा वस्त्रों से स्वयं को सजा कर अपने पति के परिवार की प्रतिष्ठा को ऊँचा बनाये रखने का प्रयत्न करती है । मध्यम वर्ग के परिवारों में परिवार का मुखिया जीवन सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने में इतना अधिक व्यस्त हो जाता है कि उसके जीवन में विलासिता का नामो निशान भी नहीं रह जाता, उनके पास विलासिता का उपभोग करने का अवसर या समय नहीं होता, किन्तु उनके परिवार की स्त्रियाँ अपने पति की इस कमी को पूरा करती हैं । वे अपने पति के नाम तथा धन से पर्याप्त विलासिता करने का मौका प्राप्त कर लेती हैं ।

वैब्लिन ने समाज में दो वर्गो के अलावा एक अन्य प्रकार के श्रम विभाजन का उल्लेख किया है जो विभिन्न सेवक वर्गो में दिखाई देता है । सेवक वर्ग का एक भाग ऐसा होता है जिसमें लोगों का व्यवसाय इस प्रकार का होता है कि उन्हें विलासिता तथा मनचाही अनेक वस्तुओं का उपभोग करने का अवसर प्राप्त हो जाता है । उच्च सरकारी पदों पर आसीन, अच्छे वस्त्र तथा बडे -बडे सरकारी मकानों में रहने वाले लोगों में इस प्रकार का उपभोग देखा जा सकता है ।

दृष्टि आकर्षक उपभोग का एक स्वाभाविक परिणाम दृष्टि - आकर्षक बर्बादी है । दृष्टि आकर्षक उपभोग व बर्बादी फिजूल खर्च है, इसके बिना बाहरी ठाट -बाट कायम नहीं किया जा सकता है । दृष्टि आकर्षक बर्बादी को लोग सामाजिक स्थिति व प्रतिष्ठा के साथ इस प्रकार जोड देते हैं कि एक के बिना दूसरे का अस्तित्व सम्भव नहीं है । सभी लोगों की हैसियत दृष्टि आकर्षक बर्बादी करने की नहीं होती -है । ऐसा वे लोग ही कर सकते हैं जिनके पास 'धन' है । धन आधुनिक पूंजीवादी व्यवस्था में के मालिक ही दृष्टि -आकर्षक बर्बादी या फिजूल खर्च कर सकते हैं । धन सामाजिक स्थिति व सामाजिक प्रतिष्ठा के निर्धारण में महत्वपूर्ण माना जाता है । आदिवासी समुदायों में भी दृष्टि आकर्षक बर्बादी करने की क्षमता सामाजिक प्रतिष्ठा के निर्धारण में महत्वपूर्ण होती है । अमेरिका के उत्तर -पश्चिमी तट की जन जातियों में प्रचलित 'पॉट लैच एक बहुत खर्चीले भोज का नाम है जिसका मुख्य उद्देश्य अपनी सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाना है । अपनी सामाजिक प्रतिस्थिति को ऊँचा उठाने के लिए प्रचुर मात्रा में धन - सम्पदा को एकत्रित कर लेना ही पर्याप्त नहीं है जब तक कि उस धन का मालिक एक भोज का आयोजन करके लोगों को या दूसरे गोत्रों के मुखिया आदि को आमंत्रित करके उस अवसर पर एकत्रित किए हुए धन को मुक्त हस्त से खर्च या बर्बाद नहीं करेगा जिससे कि दूसरों पर उसका रौब जम जाये और लोग उसे एक विशेष पद व नाम का अधिकारी मान लें । इस उद्देश्य

की प्राप्ति के लिए वह आमंत्रित लोगों का पर्याप्त धन की बर्बादी करके, शानदार स्वागत करता है उन्हें अच्छा भोजन खिलाता व उपहार देता है ।

यह स्थिति आधुनिक सभ्यता की पूंजीवादी व्यवस्थाओं से सम्बन्धित है । पूंजीवादी व्यवस्था में 'धन' का अधिक महत्व होता है । जब तक उस धन का दिखावा न किया जाए, तब तक दूसरों को प्रभावित नहीं किया जा सकता । इसलिए विलासी वर्ग अपने धन का प्रदर्शन खान -पान, पोशाक, निवास - स्थान, /, उच्च कोटि के आभूषण, दुर्लभ और विलक्षण वस्तुओं, सजावट की चीजों, वस्त्र आदि पर ज्यादा से ज्यादा अनावश्यक व्यय एवं उपभोग करते हैं । इस प्रकार का व्यय धन का अपव्यय या बर्बादी होती है । विवाह वर्षगांठ आदि के अवसर पर दिये गये सामुहिक भोज या पार्टियों में धन की बर्बादी होती है । बिजली -बत्तियों की सजावट व रोशनी में, आमंत्रित लोगों के भोजन में उपहार देने में दृष्टि -आकर्षक उपभोग ही नहीं दृष्टि आकर्षक बर्बादी भी होती है ।

पूंजीवादी व्यवस्था में 'धन' के आधार पर ही सामाजिक स्थिति व प्रतिष्ठा का निर्धारण होता है, अत: यह व्यवस्था सभी प्रकार से धन की फिजूल खर्ची को प्रोत्साहन देती है । मिल - मालिक दृष्टि -आकर्षक बर्बादी या फिजूल खर्च करते हैं । सरकारी अधिकारी फिजूल खर्च करते हैं । उनको प्रसन्न करने के लिए उनके अधीनस्थ लोग फिजूल खर्च करते हैं । मध्यम वर्ग की स्त्रियाँ दृष्टि आकर्षक बरबादी करती है और इन सबकी देखा -देखी निम्न वर्ग के लोग हमेशा नहीं तो कम से कम तीज -त्यौहार, विवाह आदि के अवसर पर तो अवश्य ही दृष्टि आकर्षक बर्बादी कर ही लेते हैं । पूंजीवादी व्यवस्था और दृष्टि -आकर्षक बर्बादी साथ -साथ चलते और पलते हैं ।

वैब्लिन का कहना है कि आधुनिक युग में प्रौद्यौगिकी का विकास दिन -प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है, इन विभिन्न वर्गों को एक दूसरे से पृथक करना असंभव है । आजकल की गतिशील व अस्पष्ट परिस्थितियों में वर्ग भी अस्पष्ट और परिवर्तनशील है । उनका आधार उत्तरोत्तर आर्थिक होता जा रहा है । वर्तमान परिस्थितियों में समाज का प्रत्येक वर्ग या भाग, यहां तक की सर्वाधिक निर्धन वर्ग भी कुछ न कुछ दृष्टि -आकर्षक उपभोग कर ही लेते हैं । इस दृष्टि से विलासी वर्ग में कोई स्पष्ट विभाजक रेखा खींचना संभव नहीं है ।

वैब्लिन का मानना है कि मशीन के कारण जो अतिरिक्त उत्पादन संभव हुआ है, वह आर्थिक दृष्टि से उतने महत्व का नहीं है जितना भी वर्गो के -सांस्कृतिक परिचय के निर्धारण में । मशीन के कारण अतिरिक्त उत्पादन तथा धन का संचय संभव हुआ है किन्तु धन का सभी वर्गो में असमान वितरण हुआ है । धन के असमान वितरण से कुछ लोगों के हाथों में अधिक धन और निजी सम्पत्ति केन्द्रित हो गई है । इस प्रकार धन के आधार पर विभिन्न वर्गो का निर्माण तथा उनकी सामाजिक स्थिति निर्धारित हुई है । मशीनों से अतिरिक्त उत्पादन या धन वर्गो के सांस्कृतिक परिचय को निश्चित करने का एक महत्वपूर्ण आधार बन गया है । विलासी वर्ग इस अतिरिक्त उत्पादन या धन के मालिक होते हैं और उसे उपभोग करने के अधिकारी हैं इस कारण वे दूसरे वर्गो से अलग किये जाते हैं । तथा सामाजिक संरचना में उनकी स्थिति सबसे ऊपर होती है ।

18.3 वैब्लिन के नियम (Vebelian Canons)

वैब्लिन के विभिन्न विचारों की उनके नियमों के आधार पर निम्नानुसार भली -भाँति समझाया जा सकता है -

(1) आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा का नियम (The canon of Pecuniary Emulation)

यह नियम उन इच्छाओं, अभिलाषाओं व प्रयत्नों का द्योतक है जिनके आधार पर कुछ व्यक्ति धन पर अधिकार के सम्बन्ध में दूसरों के बराबर या उनसे अधिक ऊँचे स्तर पर जाने का प्रयत्न करते हैं । धन की प्राप्ति के लिए इस प्रकार के प्रयत्न या प्रतिस्पर्द्धा लोग सम्मान पाने या प्रतिष्ठा में वृद्धि करने के उद्देश्य से करते है क्योंकि पूँजी वादी व्यवस्था में धन और सम्मान साथ -साथ चलते हैं । धन के बल पर समाज में व्यक्ति की स्थिति ऊँची हो जाती है । उस ऊँची सामाजिक स्थिति के बल पर उसे उच्च प्रतिष्ठा या अधिक सम्मान प्राप्त हो सकता है । धन, सम्मान और प्रतिष्ठा का आपसी निकट सम्बन्ध होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति में अधिक से अधिक धन सम्पदा एकत्रित करने की आकांक्षा पाई जाती है । इस अभिलाषा की पूर्ति के लिए व्यक्ति प्रतिस्पर्द्धा करता है, तथा धन संग्रह के सम्बन्ध में दूसरो के बराबर आने या निरन्तर उनसे आगे निकल जाने की चेष्टा करता है ।

(2) आर्थिक सौन्दर्य का नियम (The canon of Pecuniary Beauty)

लोगों में यह सामान्य विचार या धारणा पाई जाती है कि मंहगी तथा कीमती वस्तुएं सुन्दर भी होगी । वस्तु की कीमत तथा सुन्दरता में सम्बन्ध होता है । जैसे -जैसे किसी वस्तु की कीमत बढती है उसी अनुपात में उसकी सुन्दरता भी बढती है ।

(3) दृष्टि आकर्षक उपभोग का सिद्धान्त (The Canon of Conspicuous consumption)

धनी विलासी वर्ग दूसरों को दिखाने के लिए अपने धन को आवश्यकता से अधिक खर्च करते हैं । इस प्रकार का खर्च धन का अपव्यय व बर्बादी होती है । धनी विलासी वर्ग अपने धन का प्रदर्शन खान -पान, पोशाक, निवास -स्थान, फर्नीचर आदि पर अनावश्यक व्यय एवं उपभोग करते हैं । इस प्रकार का उपभोग दूसरों की दृष्टि को आकर्षित करता है, इससे दूसरों की नजरों में इस प्रकार का उपभोग करने वालों की प्रतिष्ठा बढ़ जाती है । इसका उद्देश्य अपना सम्मान बढ़ाना है, मनमानी वस्तुओं जैसे उच्च कोटि के आभूषण, दुर्लभ व विलक्षण वस्तुएं, सजावट की वस्तुओं वस्त्र आदि के उपभोग द्वारा दूसरों की दृष्टि आकर्षित करने के साथ -साथ आत्म -सम्मान तथा सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ती है ।

(4) दृष्टि -आकर्षित विलासिता का नियम (The canon of conspicuous leisure)

प्रत्येक समाज में अनेक लोग धन के मालिक होने के कारण कोई उत्पादन कार्य नहीं करते हैं, समय की बर्बादी करते हुए ऐश और आराम का जीवन व्यतीत करते हैं । वे यह दर्शाने का प्रयास करते हैं कि वे अपनी आर्थिक शक्ति के बल पर इस प्रकार का जीवन व्यतीत करने में समर्थ हैं । इस दृष्टि से वे अपने विलासिता के जीवन को इस प्रकार व्यतीत करते हैं कि इसके प्रति दूसरों का ध्यान आकर्षित हो सके । घर में आवश्यकता से अधिक नौकर इसलिए

रखते हैं कि उनकी पत्नी या परिवार के अन्य लोगों को कोई भी कार्य न करना पड़े । वे आराम का जीवन बिता सकें । लोग यह समझ जाएं कि वे धनी हैं।

निम्न -मध्यम वर्ग के लोगों में घर का कर्त्ता स्वयं तथा परिवार के अन्य लोगों वे लिए जीवन निर्वाह सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति में इतना अधिक व्यस्त रहता है कि उसके लिए विलासी जीवन व्यतीत करना संभव नहीं होता । उनकी इस कमी को उनके परिवार की स्त्रियां पूरा करती हैं । स्त्रियां कोई उत्पादन कार्य नहीं करती हैं । उनका अधिकांश समय व्यर्थ के कार्यो तथा गप्प बाजी में व्यतीत होता है । वे अपने परिवार तथा पति की प्रतिष्ठा को बढाने के लिए अच्छी -अच्छी पोशाक, अलंकार आदि का उपभोग करती हैं ।

(5) विलासी वर्ग की रूढ़िवादिता का नियम (The cannon of leisure class conservation)

धनी विलासी वर्ग के सदस्य सामान्यत: स्वभाव से रूढ़िवादी होते हैं । ये लोग परिवर्तन के पक्षधर नहीं होते हैं, ये परिवर्तन का विरोध भी करते हैं विशेष रूप से उन परिवर्तनों का विरोध करते हैं जिनसे इनके आर्थिक हितों को चोट पहुंचने का आशंका होती है। वेल्वन के अनुसार 'यदि समाज का कोई वर्ग या भाग परिस्थिति की क्रियाशीलता से किसी विशेष रूप से बच जाता है तो समाज का यह भाग या वह वर्ग अपने विचारों तथा अपने जीवन की योजना को बदली हुई सामान्य परिस्थितियों की अपेक्षा अधिक मंद गति से बदलता है । यहां तक कि यह वर्ग सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को भी रोकने का प्रयत्न करता है। धनी विलासी वर्ग इसी प्रकार का वर्ग है, जो उन आर्थिक शक्तियों से सुरक्षित होता है जिनके कारण परिवर्तन तथा अनुकूलन सम्भव होता । धनी विलासी वर्ग अपने धन की आड़ में इस प्रकार सुरक्षित रहते हैं कि वे सामाजिक परिवर्तनों के साथ -साथ स्वयं को बदलने की आवश्यकता बहुत कम अनुभव करते हैं । यहां तक कि उन परिवर्तनों के पक्ष में नहीं होते हैं जो उनके आर्थिक हितों के लिए अहितकर हों ।

(6) आर्थिक कुशलता का नियम (The Canon of pecuniary efficiency)

लोगों में यह सामान्य धारणा है कि जो लोग अधिक धन कमाते हैं वे अधिक कुशल भी होते हैं । इस प्रकार के व्यक्ति अधिक से अधिक धन कम से कम परिश्रम से कमाते हैं। वह व्यक्ति जो अपनी बुद्धिमत्तापूर्वक धन के विनियोग द्वारा बहुत धन कमा लेता है, अपने पड़ौसियों में अधिक सम्मानित व्यक्ति समझा जाता है । एक व्यक्ति की कार्यकुशलता उसके धन कमाने की शक्ति के आधार पर मापी जाती है ।

(7) आर्थिक शिक्षा का नियम (The Canon of pecuniary education) -

अपने जीवन में आर्थिक सफलता प्राप्त करने के इच्छुक लोगों में एक विशेष शिक्षा जरूरी है । यह एक प्रकार की व्यावहारिक शिक्षा है, जो लोगों को धन कमाने की कला सिखाती है तथा हमारे जीवन यापन में उपयोगी सिद्ध हो । शिक्षा व्यक्ति को धन कमाने योग्य बना सके ।

(8) आर्थिक चिन्तन का नियम (The Canon of pecuniary Thinking)

कुछ ऐसे व्यवसाय है जो आर्थिक विचारों को उत्पन्न करते हैं, जिनके फलस्वरूप आर्थिक दृष्टि से चिन्तन करने की आदत पडती है । समाज में अनेक व्यक्ति धन प्राप्ति के विषय को अपने चिन्तन का सर्व प्रमुख विषय मान लेते हैं । उनकी आदत इस प्रकार की हो जाती है जो उन्हें धन के अलावा अन्य किसी विषय पर गंभीर चिन्तन नहीं करने देती है । उनके विचार में व्यक्ति को केवल उसी प्रकार का चिंतन करना चाहिए जिससे उसे आर्थिक लाभ हो सके या होने की आशा हो । ऐसे चिन्तन में दिमाग लगाने से क्या लाभ जिससे धन प्राप्ति की आशा न हो । चिन्तन करने की दिशा वही होनी चाहिए जिससे धन की प्राप्ति हो सके ।

(9) यान्त्रिक विचार का नियम (The Canon of Machine process thinking) -

मनुष्य के विचारों और कार्यो का रूप बहुत कुछ यन्त्रवत् हो जाता है । आधुनिक मशीनी युग में ऐसा ही होता है । हमने मशीनों का आविष्कार किया तथा अपने आराम एवं विलासिता में वृद्धि करने के उद्देश्य से हमने उन पर काम किया, किन्तु मशीन पर काम करते - करते अन्त में हम स्वयं भी मशीन हो गए हैं । हम मशीन की तरह सोचते हैं और भी सद्‌गणों से पृथक होते जा रहे हैं । जिस प्रकार मशीन न किसी प्रकार की नैतिकता जानती है न प्रतिष्ठा को मानती है और न ही उचित अनुचित पर विचार करती है, ठीक उसी प्रकार आज के मशीन युग के लोग भी मशीन की ही भांति व्यवहार करते हैं । मशीनों पर काम करने वाले श्रमिकों के लिए यह आशंका व्यक्त की जा सकती है कि वे शीघ्र ही पाप के विचार तक को भूल जाएंगे ।

वैब्लिन ने शिल्प -कौशल की मूल -प्रवृत्ति की धारणा को भी विकसित किया है । व्यक्ति में कुछ जन्मजात प्रवृत्तियां होती हैं, जो विभिन्न परिस्थितियों में विकसित हो जाने पर व्यक्ति को कुछ करने कुछ निर्माण करने कुछ प्राप्त करने या कार्य करने के लिए प्रेरित करती है । ये प्रत्येक व्यक्ति में स्वाभाविक रूप से पाई जाती है । इसलिए व्यक्ति को स्वाभाविक रूप में ही कार्य करने हेतु छोड़ देना चाहिए । व्यर्थ के सामाजिक नियंत्रण लगाकर इस मूल प्रवृत्ति को विकृत कर देने से कोई लाभ नहीं होता ।

18.4 सारांश

इस सम्पूर्ण इकाई में आपने यह जाना कि वैब्लिन का विलासी वर्ग का सिद्धान्त क्या है? तथा मानव व्यवहार के सम्बन्ध में वैब्लिन के नियम क्या हैं? जिस वर्ग का सम्पत्ति की संस्था तथा उत्पादन की प्रौद्‌योगिक प्रणाली पर अधिकार होता है । आर्थिक शक्ति के बल पर इनका अधिकार उद्‌योग, व्यापार, बैंकिंग तंत्र, कानून तथा व्यवस्था आदि पर होता है । धन के बल पर इसका दूसरे वर्गों पर प्रभुत्व होता है तथा यह अन्य लोगों से अधिक सुविधा और आराम भोगता है ।

उसका व्यवहार आर्थिक विचारों से प्रभावित होता है । वह दिखावे के लिए दृष्टि - आकर्षक उपभोग करते हैं । बिना उत्पादन कार्य में लगे सर्वाधिक विलासी वस्तुओं का उपभोग करता है । विलासी वर्ग भी अनेक उप वर्गो में बंटा होता है । पूँजीवादी व्यवस्था विलासी वर्ग के पोषण व पल्लवन में सहायक सिद्ध हुई हैं । मशीनों ने अतिरिक्त उत्पादन व मूल्य को बढ़ावा दिया है ।

वैब्लिन ने आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा, आर्थिक सौन्दर्य, दृष्टि आकर्षक उपभोग, दृष्टि आकर्षक विलासिता, विलासी वर्ग की रूढ़िवादिता, आर्थिक कुशलता, आर्थिक शिक्षा, आर्थिक चिन्तन, यान्त्रिक विचार का नियम आदि के द्वारा विलासी वर्ग के स्वभाव एवं प्रकृति का चित्रण किया है । डार्विन के उद्विकासवादी सिद्धान्त के प्रभाव के कारण आपने प्राचीन काल से मानवीय स्वभाव तथा प्रकृति का स्वाभाविक चित्रण किया है ।

18.5 शब्दावली

- सामाजिक परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन को लोगों के कार्य करने तथा विचार करने की पद्धतियों में रूपान्तरण कहा जा सकता है ।
- सामाजिक गतिशीलता किसी भी वस्तु व्यक्ति या मूल्य की सामाजिक स्थिति में होने वाले रूपान्तरण को सामाजिक गतिशीलता कह सकते हैं ।
- संस्था : किसी समय विशेष में समाज में जो विचार आदतें आदि प्रचलित होती है उनका स्थिर रूप संस्थाएं होती हैं ।
- विलासी वर्ग : समाज के उस भोज का जिसका व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा उत्पादन की प्रौद्यौगिक प्रणाली पर एकाधिकार होता है, उसे विलासी वर्ग कहते हैं ।
- पॉटलैंच. यह एक खर्चीले भोज का नाम है जिसका प्रमुख उद्देश्य अपनी सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाना है ।

18.8 बोध प्रश्न

(1) वैब्लिन के विलासी वर्ग के सिद्धान्त की विवेचना कीजिये ।

(2) वैब्लिन के विभिन्न विचारों के नियम की विवेचना कीजिये ।

(3) वैब्लिन के शिल्प कौशल की मूल प्रवृत्ति के सिद्धान्त की विवेचना कीजिये ।

(4) वैब्लिन का आर्थिक प्रतिस्पर्धा का नियम क्या है?

(5) वैब्लिन का विलासी वर्ग की रूढ़िवादिता का नियम क्या है?

18.7 सन्दर्भ पुस्तकें

(1) वैब्लिनि थर्सटीन - दी थ्योरी ऑफ लेजर क्लास, दी विकिंग प्रेस, न्यूयार्क (1912) पृष्ठ - 192

(2) मुकर्जी, रवीन्द्र नाथ, सामाजिक विचारधारा, विवेक प्रकाशन जवाहर नगर दिल्ली 7, 2003

इकाई - 19

विलफ्रेड़ पैरेटो : अभिजन का परिभ्रमण

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य
19.1 प्रस्तावना
19.2 पैरेटो की समाजशास्त्र को देन
19.3 वैज्ञानिक समाजशास्त्र की अवधारणा
19.4 समाजशास्त्र की परिभाषा
19.5 अतार्किक क्रिया
19.6 अभिजन का चक्रीय सिद्धान्त या परिभ्रमण
19.7 आलोचना
19.8 सारांश
19.9 शब्दावली
19.10 बोध प्रश्न
19.11 सन्दर्भ ग्रन्थ

19.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप -

- यह जान पायेंगे कि विल्फ्रेडो पेरेटो ने समाज शास्त्र का क्या अर्थ लगाया है । वे इसे प्रयोगात्मक वास्तविकता क्यों कहते हैं ।
- पैरेटो समाजशास्त्र को भौतिक और रसायन शास्त्र के स्तर पर क्यों लाना चाहते थे ।
- समाज को चलाने वाले या इस पर प्रभुत्व रखने वाले कौन से अभिजन हैं ।
- ये अभिजन क्यों बदलते रहते हैं । बदलकर भी शक्ति अभिजन के हाथों में ही क्यों रहती है ।

19.1 प्रस्तावना

पेरेटो समाजशास्त्र में एक सामाजिक विचारक की श्रेणी में आते हैं । वे इटली के निवासी थे । बुनियादी रूप में वे गणितज्ञ और अर्थशास्त्री थे । उन्होंने समाजशास्त्र को सही तरह से परिभाषित करने के कार्य उठाया । उनकी धारणा में समाजशास्त्र एक तार्किक - प्रयोगात्मक विज्ञान है । इसका अर्थ यह हुआ कि यह समाज विज्ञान प्रयोग में लाया जा सकता है । इसकी प्रकृति आनुभविक है लेकिन यह आनुभविकता तर्क पारक है ।

19.2 पेरेटो की समाजशास्त्र को देन

पेरेटो की समाज विज्ञानों को कई तरह की देन है । गणितशास्त्र में उन्होंने गणितीय साम्यानुकूलन के सिद्धान्त को बनाया । अर्थशास्त्र में उन्होंने राजनीतिक अर्थशास्त्र को अपनी ऊँचाइयों पर रखा । इसका एक मेन्युअल भी तैयार किया । उन्होंने जो कुछ गणितशास्त्र और

अर्थशास्त्र पर लिखा है इसका उद्देश्य इन विधाओं को वैज्ञानिक स्तर पर रखना ह । वे हर तरह से अर्थशास्त्र को एक निश्चित और प्रत्यक्षवादी समाजविज्ञान मानते थे । समाजशास्त्र को भी उनकी देन है । उन्हें ऊँचे दर्जे का विचारक समझा जाता है । इस हैसियत से उनकी देन दो क्षेत्रों में है:

(1) वैज्ञानिक समाजशास्त्र की अवधारणा (Conception of Scientific Sociology)

(अ) तार्किक क्रिया (Logical Action)

(ब) अतार्किक क्रिया (Non - Logical Action)

(स) विशिष्ट चालक (Residuse)

(द) भ्रान्ततर्क (Derivations)

(2) अभिजात वर्ग का परिभ्रमण (Circulation of Elites)

पेरेटो की देन अनन्य है । यहाँ हम केवल उपरोक्त दो तरह के योगदान की ही चर्चा करेंगे ।

19.3 वैज्ञानिक समाजशास्त्र की अवधारणा

पेरेटो की समाज की अवधारणा एक व्यवस्था की है । वे कहते हैं कि किसी भी व्यवस्था की तरह समाजशास्त्र भी एक व्यवस्था (System) है । व्यवस्था में अगणित भाग होते हैं । समाज में भी अगणित भाग हैं । इसमें राजनीत, अर्थव्यवस्था, धर्म, परिवार, वर्ग आदि हैं । प्रत्येक भाग की अपनी एक पहचान है । हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि जो उत्पादन, विनिमय, वितरण और उपभोग है, आर्थिक क्रिया है । इसी तरह आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध धर्म का क्षेत्र है । प्रत्येक क्षेत्र की अपनी एक पृथक शिनाख्त है । हम कह सकते हैं कि यहाँ अर्थशास्त्र शुरु होता है, और वहाँ समाप्त होता है । इस शिनाख्त के होते हुए भी पेरेटो कहते हैं कि समाज का एक भाग दूसरे भाग से और समर्थ भागों से जुड़ा हुआ हो राजनीति एक पृथक भाग है लेकिन यह मालिक और मजदूरों के सम्बन्धों को निश्चित करता है । शिक्षा एक भाग है लेकिन धर्म और अर्थ दोनों ही इसे प्रभावित करते हैं । पेरेटो का तर्क यह है कि समाज के भाग अन्तर्निभर हो एक भाग में परिवर्तन करते हैं तो इससे अन्य भाग परिवर्तित होते हो समाज की इस सम्पूर्ण व्यवस्था में मनुष्य एक अणु (Molecule) हो समाज की इस व्यवस्था को प्रभावित करने वाली तीन दशाएँ हैं :

(1) मानव अतिरिक्त पर्यावरण (Extra Human environment)

(2) समाज से बाहर के तत्त्व (Other elements exterior to the Socity)

(3) व्यवस्था के आन्तरित तत्त्व (Inner elements of the System): जैसे हेतु, ज्ञान, मनोभाव, विशिष्ट चालक और भ्रान्त तर्क ।

समाज की व्यवस्था को व्यवस्थित बनाने में उपरोक्त सभी तीन कारक महत्त्वपूर्ण हैं। इन सब कारकों का विवरण पेरेटो ने दिया है । लेकिन सबसे अधिक विस्तार से उन्होंने मनोभावों और भ्रान्त तर्कों को दिया है । समाजशास्त्र की परिभाषा वे इन्हीं अतार्किक (Non - Logical) और तार्किक (Logical) अवधारणाओं द्वारा किया है । जब हम समाजशास्त्र को

परिभाषित करते हैं तब हमें तार्किक, अतार्किक, विशिष्ट चालक और भ्रान्त तर्क सभी का उल्लेख करना पड़ेगा । ये सब तत्त्व मिलकर ही समाजशास्त्र की परिभाषा और उसकी विषयवस्तु को बताते हैं ।

19.4 समाजशास्त्र की परिभाषा

माइण्ड एण्ड सोसायटी में पेरेटो ने समाजशास्त्र को परिभाषित किया है । वे यह मानकर चलते हैं कि जैसा हमने ऊपर कहा है समाज एक व्यवस्था है । इस व्यवस्था के विभिन्न भाग आपस में जुड़े हुए हैं । व्यवस्था में परिवर्तन लाने वाले कारक पर्यावरण तथा आन्तरिक और बाह्य व्यक्ति और व्यवस्थाएँ हैं । उन्होंने इसी संदर्भ में समाजशास्त्र को परिभाषित किया है । वे यह भी आग्रह करते हैं कि समाजविज्ञानों की दुनियाँ में केवल अर्थशास्त्र ही ऐसा है जो निश्चित है गणितीय है और जिसे मापा जा सकता है । अर्थशास्त्र की तर्ज पर ही वे समाजशास्त्र को भी बांधने का प्रयास करते हैं । ऐसा करने में वे मनुष्य के मनोभावों और तर्कों की अवधारणा को भी काम में लाते हैं । उन्होंने समाजशास्त्र की परिभाषा इस भाँति दी है.

समाजशास्त्र अतार्किक क्रियाओं का अध्ययन करता है ।

जब हम अतार्किक क्रिया की बात करते हैं तो स्वाभाविक रूप से तार्किक क्रिया की बात भी आती है । यानी मनुष्य की क्रियाएँ तार्किक और अतार्किक दोनों होती हैं । पहले हम दोनों की व्याख्या करेंगे ।

तार्किक क्रिया : पेरेटो ने समाजशास्त्र को परिभाषित करते हुए दो अवधारणाओं को प्रस्तावित किया है *तार्किक क्रिया और अतार्किक क्रिया* । इन दो अवधारणाओं से जुड़ी हुई और अवधारणाएँ हैं । वस्तुनिष्ट क्रिया (Objective action) और व्यक्तिनिष्ठ (Subjective action) । जब व्यक्ति तार्किक क्रिया करता है तब वह इन दोनों अवधारणाओं के अन्तर्गत अपने निर्णय लेता है । अवधारणाओं का एक और सेट है. साधन और साध्य (Means and End) । जब व्यक्ति किसी क्रिया को करता है तब उसके कुछ साध्य यानी उद्देश्य होते हैं । इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये वह कुछ साधनों को प्रयोग में लाता है । साध्य -साधन के बिना क्रिया नहीं हो सकती । और अपने अतार्किक क्रिया सिद्धान्त के अन्त में पेरेटो अवशिष्ट और भ्रान्त (Residues and Derivation) की अवधारणाएँ काम में लाते हैं। इन सब अवधारणाओं का हम यहाँ विश्लेषण करेंगे । थोड़े से पेरेटो द्वारा दी गयी समाजशास्त्र की परिभाषा और इसकी विधियाँ इन्हीं अवधारणाओं से जुड़ी हुई हैं ।

लेविस कोज़र ने तार्किक क्रिया की परिभाषा इस तरह दी है तार्किक क्रियाएँ वे हैं जो साध्य प्राप्त करने के लिये उपयुक्त साधनों को काम में लाती हैं । ये क्रियाएँ साधन और साध्य को तार्किक रूप से जोड़ती हैं । कोज़र ने तार्किक क्रिया की जो व्याख्या की है जिसके अनुसार यह बहुत स्पष्ट है कि व्यक्ति किसी भी क्रिया के करने से पहले अपने उद्देश्य को निश्चित करता है । यह उसका साध्य है । साध्य निश्चित होने के बाद वह तार्किक रूप से यह देखता है कि इसे प्राप्त करने का उचित साधन क्या है । लेकिन है जब वह साधन के बारे में सोचता है तब दुविधा में पड़ जाता है । उदाहरण के लिये विश्वविद्यालय का छात्र अपनी परीक्षा को उच्च

श्रेणी में उत्तीर्ण करना चाहता है । यह उसका साध्य है । यहाँ तक तो सब ठीक -ठाक है । अब दुविधा आती है । यह उच्च श्रेणी कैसे प्राप्त की जाये? उसका मन तो करता है कि वह परीक्षा में नकल कर ले; परीक्षकों तक अपनी पहुँच करें और उच्च श्रेणी प्राप्त कर ले । उसका यह विकल्प साधन है । पेरेटो इसे व्यक्तिनिष्ठ क्रिया (Subjective action) कहते हैं । लेकिन वह समाज की ओर देखता है । समाज तो कहता है कि उच्च श्रेणी पाने के लिये अधिकतम मेहनत करनी चाहिये । समाज का यह कहना वस्तुनिष्ठ (Objective) है । अब छात्र क्या करे? यदि इस दुविधा को पार करने के लिए वह अपने मन के यानी स्वयं के विकल्प को छोड़ देवे और वस्तुनिष्ट विकल्प को अपना लेवे तो यह उसकी तार्किक क्रिया होगी । *मतलब हुआ तार्किक क्रिया में व्यक्तिनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ क्रिया का समायोजन हो जाता है । इसे सूत्र रूप में इस भाँति रखेंगे:*

व्यक्तिनिष्ठ + वस्तुनिष्ठ क्रिया = तार्किक क्रिया

पारसंस ने तार्किक क्रिया की व्याख्या अधिक सटीक रूप में की है । उनका कहना है क्रिया तब तार्किक होती है । जब वह समाज द्वारा निर्धारित मानकों के एक प्रकार को स्वीकार करती है ।

यहाँ पारसंस स्पष्ट रूप से साध्य -साधन की बात नहीं करते । लेकिन जब वे निश्चित प्रकार के मानकों को स्वीकार करने की चर्चा करते हैं तो इससे स्पष्ट है कि वे समाज द्वारा स्वीकृत मानकों को महत्त्व देते हैं । देखा जाय तो पारसंस और मर्टन ने एनोमी (Anomie) की अवधारणा को रखा है । उनका कहना है कि समाज में नियमहीनता अब आती है जब एक व्यक्ति अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये समाज के नियमों को नहीं मानता । यदि मर्टन को पेरेटो की साध्य -साधन की अवधारणा पर ढाला जाय तब कहना होगा कि मर्टन एनोमी से मुक्ति की बात तब मानते हैं जब व्यक्ति समाज द्वारा स्वीकृत लक्ष्यों और साधनों दोनों को अपनाता है । साधन -साध्य की बात हमारे देश में गाँधीजी ने भी उठाई है । उनका कहना है कि व्यक्ति को अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में जुट जाना चाहिये । लेकिन वह जिन साधनों को काम में लाता है वे पवित्र होने चाहिये । करोड़पति बनने के लिये यदि कोई व्यक्ति ड्रग की तस्करी करता है और रातों -रात अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है तब गाँधी जी कहते हैं उसके लक्ष्य पवित्र नहीं हैं । करोड़पति हो गया तो क्या हुआ, उसने तो तरीके अपनाये हैं उसके साधन गन्दे हैं । अत: बहुत संक्षेप में यह कहना चाहिये कि *तार्किक क्रिया वह क्रिया है जिसमें साध्य - साधन तार्किक आधार पर जुड़े हो यानी साधन एसे हों जो साध्य तक पहुंचा दें दूसरा साधन ऐसे होने चाहिये जो उपयुक्त हो । यहाँ उपयुक्त से पेरेटो का तात्पर्य समाज द्वारा स्वीकृत हों ।*

19.5 अतार्किक क्रिया

पेरेटो का अतार्किक क्रिया से तात्यर्य उन सनी क्रियाओं से है जो तार्किक नहीं हैं दूसरे शब्दों में वह क्रिया जो तार्किक नहीं हैं, वह अतार्किक हैं । इस दृष्टि से अतार्किक क्रिया एक अवशिष्ट श्रेणी (Residual Category) है । लेविस कोज़र के अनुसार 'अतार्किक क्रिया केवल वह क्रिया है जो पेरेटो की परिभाषा में तार्किक नहीं है । सम्पूर्ण क्रिया में तार्किक क्रिया निकाल

दीजिये । जो अवशिष्ट हैं । वह अतार्किक क्रिया है ।' पारसंस ने अतार्किक क्रिया को अधिक खुलासे से रखा है । वे कहते हैं कि मनुष्य की सभी क्रियाओं को हम (A) कहते हैं । ये क्रियाएँ बहुत विस्तृत और विशाल हैं । हम रोटी -रोजी के लिये सुबह से शाम तक जुटे रहते हैं । इसी तरह लोग विभिन्न क्रियाओं में संलग्न रहते है । इन सबको हम (A) की श्रेणी में रखते हैं । अब हम इस सम्पूर्ण क्रिया (A) में से तार्किक क्रिया जिसका नाम (L) देते हैं निकाल लेते हैं तो शेष जो बचता है यानी जो अवशिष्ट है, वह अतार्किक क्रिया है । हम अपने व्यवसाय, परिवार, समुदाय, वर्ग आदि में कई क्रियाएँ करते हैं । इनमें अधिकांश क्रियाएँ तार्किक हैं । लेकिन हम मनोरंजन करते हैं, लिखते हैं, चित्र बनाते हैं, ये सब हमारे शौक हैं । इन दोनों प्रकार की क्रियाओं में से जो बचता है यानी साहित्य, कला आदि अतार्किक क्रिया है । दूसरे शब्दों में, *यदि सम्पूर्ण क्रिया में से तार्किक क्रिया को निकाल दें तो जो अवशिष्ट बचेगा वह अतार्किक क्रिया होगी ।*

पेरेटो की परिभाषा में समाजशास्त्र एक ऐसा समाजविज्ञान है जो मनुष्य की अतार्किक अन्तःक्रिया का अध्ययन करता है । तार्किक अन्तक्रियाओ का अध्ययन तो अर्थशास्त्र करता है । अतार्किक क्रिया का अध्ययन समाजशास्त्र की विषय -वस्तु है । पेरेटो कहते हैं कि अतार्किक क्रिया के अध्ययन की तार्किक पद्धति है । यानी अतार्किक क्रिया के अध्ययन के लिये वैज्ञानिक विधि है, इसका एक सिद्धान्त है ।

19.6 अभिजन का चक्रीय सिद्धान्त या अभिभ्रमण

समाज में गैर बरारी रहती है । कोई लम्बा है तो कोई ठिगना; कोई गोरा है तो कोई सांवला; कोई अमीर है तो कोई गरीब; कोई प्रखर बुद्धि है तो कोई मंद बुद्धि । मतलब है, शारीरिक, भौतिक, बौद्धिक और नैतिक दृष्टि से प्रत्येक समाज में गैर बराबरी होती है । यह संभव है कि किसी समाज में गैर बराबरी बहुत तीव्र होती है, और किसी में न्यून । लेकिन गैर बराबरी का आलम तो रहता ही है ।

पेरेटो ने अभिजन के चक्रीय सिद्धान्त को रखा है । लेकिन यह उनका केवल कोई एक सिद्धान्त हो ऐसा नहीं है । उनके सिद्धान्तों में कुछ और महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त भी हैं । उदाहरण के लिये उन्होंने समुदायिक उपयोगिता (Community Utility), फासीवाद आदि के कतिपय सिद्धान्त भी रखे हैं । इन सिद्धान्तों में अभिजन का चक्रीय सिद्धान्त बहुत अधिक चर्चित रहा है । रेमण्ड एरॉ, बोगार्डस, लेविस कोज़र आदि ने इस चक्रीय सिद्धान्त की बहुत बड़ी व्याख्या की है । इसका एक बहुत बड़ा कारण है । पेरेटो बुनियादी रूप से मुसोलिनी, मेकियावेली के विचारधारा से प्रभावित थे । मुख्य रूप से वे फासीवादी थे । यदि उनके सिद्धान्तों को एक गठरी में बाँध दिया जाय और उसकी शिनाख्त के लिये यदि किसी टेग को लगाने की आवश्यकता हो तो इस टेग पर लिखा जाना चाहिये : फासीवाद

अभिजन के चक्रीय सिद्धान्त के पीछे पेरेटो की जो मूल भावना है वह यह है कि समाज को चलाने का काम अभिजन का है । दूसरे शब्दों में, समाज अभिजन द्वारा ही संचालित होता है । हर युग और हर देश में समाज का सूत्रधार अभिजन ही रहा है । उसकी अंगुलियों की गति

समाज को नचाती है । लोग तो बस अभिजन के संकेत पर सांस लेते हैं, सांस छोड़ते हैं । समाज की इस बुनियादी धारणा या समझ के बाद पेरेटो चक्रीय सिद्धान्त रखते हैं ।

पेरेटो ने अभिजन को परिभाषित किया है । वे व्यक्ति जो समाज के किसी एक निश्चित क्षेत्र में श्रेष्ठ होते हैं, अभिजन कहलाते हैं । समाज के कई विशिष्ट क्षेत्र हैं - साहित्य, कला, व्यवसाय, धर्म आदि । इन क्षेत्रों में कई व्यक्ति अभिजन होते हैं और लोगों की तुलना में अभिजन अधिक विशेष होते हैं । उदाहरण के लिये हिन्दी साहित्य में प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद और भगवती चरण वर्मा अभिजन हैं । कुछ इसी तरह फिल्मी जगत में अमिताभ बच्चन और माधुरी दीक्षित अभिजन हैं । व्यावसायिक क्षेत्र में अम्बानी, बिड़ला, गोदरेज आदि अभिजन हैं । समाज के विभिन्न क्षेत्रों में यदि अभिजन की तालिका बनायी जाय तो उसका आकार थोड़ा बड़ा ही होगा । कुछ अभिजन को विवादास्पद भी समझा जा सकता है । अभिजन हर क्षेत्र में हैं लेकिन पेरेटो ने केवल प्रशासनिक अभिजन का उल्लेख किया है । अब वे अभिजन के चक्रीय सिद्धान्त की बात करते हैं तब उनका तात्पर्य हुकुमत करने वाले या शासन करने वाले अभिजनों से है । उनका आग्रह है कि समाज पर शासन तो अभिजन ही करते हैं लेकिन अभिजन का वर्ग बन्द वर्ग नहीं है । जो आज शासन करने वाले हैं, कल उन्हें धकेल दिया जाएगा और उनका स्थान नये अभिजन ले लेंगे । समाज में अभिजन का यह चक्र चलता ही रहता है ।

अभिजन के प्रकार : अभिजन की श्रेणी में के लोग आते हैं जिनमें आम लोगों की तुलना में अधिक बौद्धिकता होती है कुशलता होती है और किसी काम को करने की क्षमता होती है । काम तो सभी करते हैं लेकिन अभिजन का काम दूसरों की तुलना में श्रेष्ठ होता है। पेरेटो अपने सिद्धान्त मिचेल्स से प्रभावित थे । मिचेल्स मूल में जर्मन थे लेकिन स्थायी रूप से इटली में बस गये थे । उन्होंने अपने सिद्धान्त को दि रुलिंग क्लास (The Ruling Class) में रखा है । उनका सिद्धान्त है कि बड़ी उम्र के नेता धीरे -धीरे बदनाम होते जाते हैं उनकी शाख गिरने लगती है ओर के नये जून के लिये अपना स्थान छोड़ना प्रारम्भ करते हैं। इस तरह के परिवर्तन से समाज की व्यवस्था बनी रहती है ।

मिचेल्स की तर्ज पर पेरेटो ने सम्पूर्ण अभिजन में दो वर्ग पाये हैं (1) प्रशासनिक वर्ग (Ruling elite) और (2) गैर प्रशासनिक वर्ग (Non -Ruling Class) । इन दो वर्गों में चक्र की तरह पुराने लोग जाते हैं और नये अभिजन आते हैं । इस भाँति अभिजन के चक्रीय सिद्धान्त का मूल यह है कि प्रशासनिक अभिजन कमजोर हो जाते हैं या उन्हें कमजोर कर दिया जाता है और उनका स्थान नये अभिजन ले लेते हैं । यही चक्र है । इसे कई बार अभिजन का परीभ्रमण (Circulation) भी कहते हैं ।

अभिजन के इन दो वर्गों में दो तरह के अभिजन होते हैं । एक अभिजन को पेरेटो लोमड़ी (Fox) कहते हैं । लोमड़ी से उनका तात्पर्य उन अभिजनों से है जो चालाक' धूर्त छलिया और कपटी होते हैं । जब पेरेटो फोक्स (Fox) पद का प्रयोग करते हैं तब उनका तात्पर्य ऐसे लोगों से है जो चालाक और धूर्त हैं । संस्कृत साहित्य में हितोपदेश की कहानियाँ वस्तुत: जानवरों से जुड़ी कहानियाँ हैं । इन जानवरों में लोमड़ी सबसे अधिक चालाक और धूर्त समझी जाती है । हितोपदेश की एक कहानी में जब ब्राह्मण पिंजरे में बन्द शेर को मुक्त। कर देता है तो वही ब्राह्मण को खा जाने के लिये उतावला हो जाता है । यहाँ लोमड़ी को निर्णायक बनाया

जाता है । और लोमड़ी की चतुराई देखिये कि वह शेर को पुन: पिंजरे में बंद देखना चाहती है । जिससे उसे विश्वास हो सके कि इतना भारी भरकम शेर पिंजरे में समा सकता है । उसकी सलाह पर शेर पिंजरे में प्रवेश करता है और लोमड़ी उसका द्वार बन्द कर देती है । लोमड़ी चतुर है, चालाक है ।

ऐसे अभिजन जो लोमड़ी की तरह सत्ता लेने के लिये उखाड़ -पछाड़ करते हैं वे सत्ता भोगने वाले अभिजन को धकेल देते हैं । वे अभिजन जो सभा में हैं यानी जिनके पास शक्ति है उन्हें पेरेटो नाहर (Lion) कहते हैं । नाहर की एक खासियत है । वे जो कुछ सत्ता उन्हें मिली है उस पर कुण्डली डालकर बैठ जाते हैं । सत्ता के सिंहासन पर बैठे हुए ये अभिजन वास्तव में नर - नाहर -होते हैं । और वे अपनी पूरी ताकत को लगाकर अपनी सभा को बनाये रखते हैं ।

पेरेटो की सैद्धान्तिक योजना में लोमड़ी और नाहर दोनों ही अभिजन हैं । दोनों ही सत्ता को ललचाई आँख से देखते हैं । अभी नर -नाहर सत्ता में है और थोड़े समय बाद लोमड़ी यानी चालाक और धूर्त अभिजन उन्हें सभा से धकेल देते हैं । पेरेटो का यही चक्रीय सिद्धान्त है । यही अभिजन का परिभ्रमण है । अभिजन की नियति एक ही है । नर -नाहर हो या लोमड़ी दोनों को एक दूसरे के लिये सिंहासन छोड़ना पड़ेगा । इस चक्रीय सिद्धान्त का मूल यह है कि समाज पर हुकूमत तो अभिजन की ही होगी । चाहे ये अभिजन आज के नर -नाहर हों या कल की लोमड़ी ।

19.7 आलोचना

अभिजन वर्ग के चक्रीय सिद्धान्त की कई समाजशास्त्रियों ने आलोचना की है । इस सिद्धान्त पर की गयी टिप्पणियाँ निम्न बिन्दुओं में रखते हैं

(1) समाज में साम्यानुकूलन बराबर बना रहता है । उस पर हुकूमत करने वाला कोई न कोई अभिजन समूह ही होगा । आज का अभिजन वर्ग पदच्यूत हो जाएगा तो कल नया अभिजन आएगा ।

(2) पेरेटो का अभिजन का सिद्धान्त इस अर्थ में एकांकी है कि यह इस बात को स्वीकार नहीं करता कि जनता के कुछ वर्ग भी जो खाली हाथ और फटी जेब हैं बहुमत के आधार पर सत्ता में आ सकते हैं ।

(3) अभिजन का यह सिद्धान्त अवशिष्टों पर निर्भर है । अभिजन लोगों के मनोभावों और संवेगों को सहलाते हैं और सभा में आ जाते हैं । भ्रान्त तर्क द्वारा बताते है कि वे आसमान के स्वर्ग को धरती पर ले आयेंगे । अवशिष्टों और भ्रान्त तर्कों पर आधारित यह सिद्धान्त पूरी तरह से संस्कृति की अवहेलना करता है देखा जाय तो पेरेटो की सिद्धान्त निर्माण योजना में संस्कृति और सांस्कृतिक मूल्यों को कोई स्थान नहीं है ।

अध्याय के अन्त में यह अवसर है कि जब हम पेरेटो के योगदान की पड़ताल करनी चाहिये । उनका मानना था कि सामाजिक व्यवस्था में साम्यानुकूलन होता है । इसकी संरचना व्यक्तियों से बनी है । इन व्यक्तियों की गतिविधियों पर कई शक्तिशाली कारक काम करते हैं । इन शक्तिशाली कारकों में मुख्य रूप से मनोभाव यानी अवशिष्ट और भ्रान्त तर्क होते हैं। मनुष्य के सम्पूर्ण व्यवहार का एक भाग अतार्किक होता है । इस अतार्किक व्यवहार का

निर्धारण अवशिष्टों और भ्रान्त तर्क द्वारा होता है । इसी अतार्किक क्रिया का अध्ययन समाजशास्त्र करता है । इस समाजशास्त्र की अध्ययन विधि तार्किक है । पेरेटो का तर्क आगमनात्मक है । वे वस्तुनिष्ठा और व्यक्तिनिष्ठा के समायोजन के परिणामस्वरूप जो क्रिया होती है उसका अध्ययन करते हैं । उन्होंने इस अवधारणात्मक योजना के अनुसार कई समाजशास्त्रीय सिद्धान्त रखे हैं । इन सिद्धान्तों में अभिजन का चक्रीय सिद्धान्त समाजशास्त्रियों में उल्लेखनीय स्थान रखता है ।

19.8 सारांश

पेरेटो एक उच्च कोटि के विचारक रहे हैं । उन्होंने समाजशास्त्र को जो योगदान दिया है, उसमें दो महत्त्वपूर्ण तथ्य हैं । पहला तो उनका यह कहना है कि समाजशास्त्र अ -तार्किक (Non -Logical) क्रियाओं का अध्ययन करता है, और दूसरा यह कि हमें समाज को तार्किक प्रयोगात्मक बनाना है । उनकी कृतियों में माइन्ड एण्ड सोसायटी (Mind and Society) एक बहु चर्चित पुस्तक है ।

19.9 शब्दावली

तार्किक क्रिया - तार्किक क्रिया कार्य कारण से जुड़ी होती है । कोई भी क्रिया तार्किक तभी बनती है, जब उसके पीछे कार्य -कारण होते हैं । अनिवार्य रूप से तार्किक क्रिया संवेगात्मक नहीं होती । यह तो गणितिय रूप में होती है - दो और दो चार ।

अतार्किक किया - पेरेटो का अ -तार्किक क्रिया से तात्पर्य उन सभी क्रियाओं से है जो तार्किक नहीं हैं । दूसरे शब्दों में वह क्रिया जो तार्किक नहीं है, अतार्किक है । इस दृष्टि से अतार्किक क्रिया एक अवशिष्ट श्रेणी (Residual Category) है ।

अभिजन - वे व्यक्ति जो समाज के किसी एक निश्चित क्षेत्र में श्रेष्ठ होते हैं, अभिजन कहलाते हैं । समाज में कई विशिष्ट क्षेत्र होते हैं - साहित्य, कला, व्यवसाय, धर्म आदि । इन क्षेत्रों में कई व्यक्ति अभिजन होते हैं ।

19.10 बोध प्रश्न

1. पेरोटो समाजशास्त्र को कैसे परिभाषित करते हैं ?
2. पेरोटो के अतार्किक क्रिया के विचारों की विवेचना कीजिए ।
3. पेरेटो का अभिजन के चक्रीय सिद्धान्त की समीक्षा कीजिए ।
4. पेरेटो के अभिजन चक्रीय सिद्धान्त की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए ।

19.11 सन्दर्भ ग्रन्थ

- विलफ्रेडो पेरेटो, मैन एण्ड सोसायटी
- दोषी, एस.एल. एण्ड पी.सी. जैन, प्रमुख समाजशास्त्रीय विचारक, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर 2001

ISBN-13/978-81-8496-017-4